(श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा का मुख-पत्र)

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

अर्थात्

प्राचीन जैन-इतिहास, साहित्य एवं शोध-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग २, विक्रमसम्वत्—१९९२।



जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित



Jaina-Antiquary

AN ANGLO-HINDI QUARTERLY JOURNAL.

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग

ग्रंथमाला-विभाग

ॐ

THE
JAIṆA ANTIQUARY

An Anglo-Hindi quarterly Journal,

VOL. I—1936

Editors:

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B., P.E.S.,
Professor of Sanskrit,
King Edward College, **Amraoti**, C. P.

Prof. A. N. UPADHYE, M.A.,
Professor of Prakrata,
Rajaram College, **Kolhapur**, S.M.C.

B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.,
Aliganj, Distt. Etah, U.P.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI,
Librarian,
The Centrla Jaina Oriental Library, **Arrah.**

Published at

THE CENTRAL JAIN ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

CONTENTS

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

अर्थात्

प्राचीन जैन-इतिहास, साहित्य एवं शोध-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग २]   [किरण १

सम्पादक-मण्डल

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए.

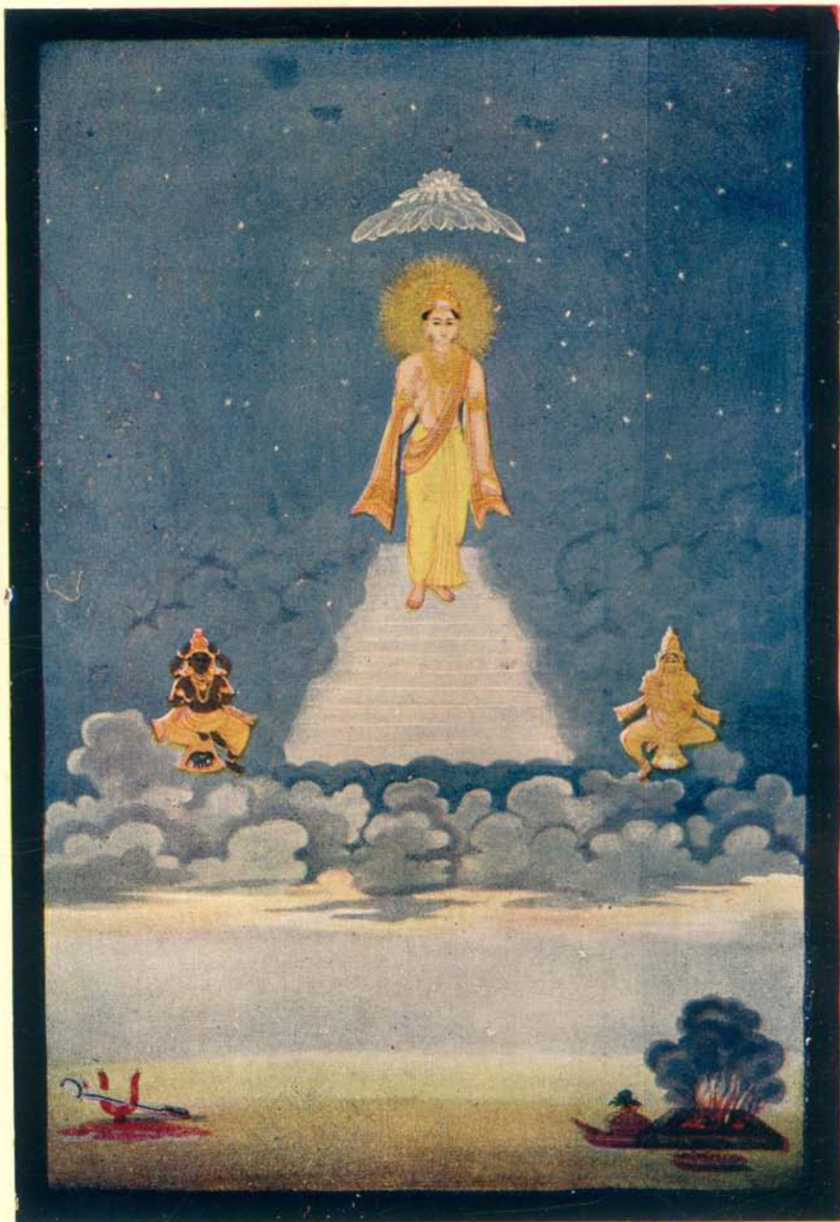
बाबू कामता प्रसाद एम. आर. ए. एस.

पण्डित के० भुजबली शास्त्री, न्यायाचार्य

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४)   विदेश में ४॥)   एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९२ ।



दलने को पाखण्ड लोक का, करने को जग का उद्धार,
प्रकट हो रहा ! विश्व-गगन में, दिनकर-सम यह वीर कुमार ।
विघट गयी हिंसा की रजनी, गया अनेकों का अभिमान,
हुए सभी हर्षित तब इससे, बनी भूमि यह स्वर्ग-समान ।

(पं० गुणभद्र जी)

श्रीमान् बाबू छोटेलाल जी के सहज सौजन्य से प्राप्त

THE S. P. W., ARRAH.

ॐ

॥ श्रीजिनाय नमः ॥



THE JAINA ANTIQUARY.

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग २ } जून से अगस्त १९३५ तक ज्येष्ठ से श्रावण वीर नि० २४६१ तक { किरण १

भास्कर-स्वागताष्टक

(ले०—पं० हरनाथ द्विवेदी, काव्य पुराणतीर्थ, सम्पादक "हितैषी")

(१)

शुचि रुचि के रुचिर रसीले, रंग में रंग कर रँगराते।
भ्रम-तोम-तिमिर-जालों को, आभा से दूर भगाते॥

(२)

निर्मल-निगमाम्बुजराजी, मृदु मञ्जुल को विकसाते।
भारत-श्रुत-भव्य-भवन को, भासित करते हैं आते॥

(३)

इतिवृत्त-जगत् पर तत्वों के, तिग्म अंशु फैलाते।
सद्वृत्त[१]-सुधा-सरिता का, सीकर पीकर इठलाते॥

(४)

मतभेद-कुमुद-कुञ्जों को, कुंचित करते कुम्हलाते।
सद्भाव-प्रमुद-पुञ्जों को, समुदित करते मुदमाते॥

(५)

कुविचार-दिवान्ध खगों[२] से, कुदृगों की दृष्टि नशाते।
सुविचार-विपुल विहगों का, कल कोमल गान सुनाते॥

(६)

निज-अरुण किरण-मण्डल का, महि को मण्डन पहिनाते।
साहित्य-शुभ्र पुष्कर[३] के, प्रिय पुष्कर[४] परम सुहाते।

(७)

मत्सरमलीन-उडुमाला, सत्वर सम्पूर्ण डुबाते।
सहयोग-विधुर विहगी[५]-उर, प्रिय-प्रणय-प्रभा चमकाते॥

(८)

निज कलित करों से प्यारे[६], नित ललित लवनता लाते।
आते भास्वर 'भास्कर' का, स्वागत करते न अघाते॥



१ सम्यक् चारित्र २ उलूक ३ आकाश ४ कमल ५ चक्रवाकी ६ 'करों' का विशेषण

प्रकाशकीय वक्तव्य

सर्व-प्रसिद्ध संसार की परिवर्त्तनशीलता का गीत गाने की अब आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक समाज और प्राणी को नवीनता का नूतन दृश्य पल-पल दृग्गोचर हो रहा है। ऐसी दशा मे किसी देश अथवा समाज का साहित्य अथवा इतिहास इस अमिट एवं निश्चित नवीनता का शिकार बने बिना भला कैसे रह सकता है? इसी पुरातन पद्धति के पथिक होकर जैन साहित्य और इतिहास को भी कई कलेवर बदलने पड़े—अनेक अठखेलियाँ खेलनी पड़ीं। पर, इतने पर भी; ऐसे विषम समय मे भी इसने अपनी प्रकृत सत्ता रक्षित रक्खी अवश्य।

एक वह भी समय था जब कि अगाध ज्ञान-भाण्डार के सुचतुर संरक्षक प्रातःस्मरणीय श्रीसमन्तभद्र और आराध्यपाद अकलङ्कदेव आदि आचार्यों की निष्कलङ्क एवं प्रदीप्त साहित्यिक प्रतिभा के लोहे सब किसी को मानने पड़ते थे—क्षात्र-धर्म के आदर्शभूत महाराज अमोघवर्ष और चामुण्ड राय आदि जैन राजाओं की डंके की चोट से समुद्घोषित शास्त्रीय घोषणा सभी साहित्यिक शूर-वीरों को कान खोल कर सुननी पड़ी थी। पर, हाय! एक उस दुर्दैवग्रस्त युग की याद आये बिना नहीं रहती, जिन दिनों भारतीय सुधासरोवर की अहिंसारसाप्लुत स्वर्णमयी मछलियाँ निर्दयता की बंशी का शिकार बन कर अपने जीवन की घड़ियाँ गिन रही थीं। बल्कि उन दिनों, अथक परिश्रम से सञ्चित अपनी अमूल्य साहित्य-सम्पत्ति लुटती देखकर आचार्यों एवं ऋषि मुनियों की यही दिव्य आकाशवाणी सुन पड़ती थी कि "कोयल! है यह पावस मौन हो, बैठ करील की डारिन प्यारी। दादुर की ढिटिकारिन में तुव बोलिवे की है कहा अब वारी?"

खैर समय ने पलटा खाया। वह समय भी परिवर्त्तन के पचड़े में पड़कर गुजर गया। पक्षपात-रहित कुछ साहित्यिकों और ऐतिहासिकों की संख्या बढ़ी। इन्हें साहित्य-तृषा की आतुरता में जो कुछ खट्टी-मीठी, उलटी-सीधी मिली उसी से अपनी ज्ञानपिपासा शान्त करने की चेष्टा करने लगे। यहाँ तक कि शीघ्रता में स्याद्वाद-सिद्धान्त के प्रधान पृष्ठपोषक जैनधर्म को कुछ लोग क्षणिकवादी बौद्धधर्म की शाखा भी मानने लगे। मानने ही तक नहीं लगे बल्कि स्थायी साहित्य-रूप ऐतिहासिक पुस्तकों में इस अपने भ्रान्त सिद्धान्त को आश्रय भी देने लगे।

साहित्य एवं इतिहास-संसार में ऐसी ही गड़बड़झाला और उलझन को देखकर आज से लगभग बीस वर्ष हुए जैन साहित्य और इतिहास पर पूरा प्रभाव डालने की सदिच्छा से इस जैन-सिद्धान्त भास्कर का उद्भव हुआ था। जैन शिलालेख, ताम्रपत्र, आचार्यपट्टावली एवं प्रशस्तियाँ प्रचुर परिमाण में निकाल कर इसने अपने सुकान्त कलेवर को आकर्षक बनाने में जरा भी कोर-कसर नहीं की थी। गिने गुथे इतिहास-वेत्ताओं का आदरपात्र भी हो ही चला था, किन्तु व्यापार-पटु जैनियों के शिक्षासंघर्ष में सबसे पीछे पड़े रहने एवं तोता-मैना के किस्से और चन्द्रकान्ता-सन्तति जैसे उपन्यासों के पन्ने उलटने भर तक स्वाध्याय धर्म की इति श्री समझने के हेतु समाज की उदासीनता

और ग्राहकसंख्या की मुष्टिमेयता की घनघोर-घटा ने भास्कर की किरणों को प्रकाशित होने में अनिवार्य अड़ङ्गा लगा कर इसे अस्तंगत कर दिया।

अस्तु "जैन-हितैषी" एवं श्वेताम्बर समाज से निकलनेवाले "जैनसंशोधक" से जैन-साहित्य और इतिहास-रक्षा की सान्त्वना सदा मिलती रही। किन्तु इनके भी बन्द हो जाने पर इधर इतिहास और अनुसन्धान की ओर सर्वतोभाव से प्रवृत्त ऐतिहासिक विद्वानों की प्राचीनता की तह की बात जानने की प्रबल प्रवृत्ति देख और जैनधर्म तथा इतिहास के सच्चे सहृदय एवं प्रसिद्ध उन्नायक कलकत्ता-निवासी श्रद्धेय भाई छोटेलाल जी की प्रेरणा के प्राबल्य का अनुभव कर इस स्वर्णमय युग में ऐतिहासिक जगत् में प्रकाश डालने की कामना से भवन ने अस्तंगत भास्कर को पुनः प्रकाशित कर धृष्टता का परिचय दिया है अवश्य, किन्तु जैन-समाज यह साहित्यिक कार्य सामयिक समझ कर इसका स्वागत एवं अभिनन्दन करेगा, भवन को यह भी दृढ़ धारणा है।

भास्कर का ध्येय वही पुराना है। यदि कोई विशेष परिवर्त्तन है तो यही कि अंग्रेजी पढ़े लिखे विद्वानों के लिये कुछ पृष्ठों में अंग्रेजी में जैनधर्म विषय साहित्य एवं इतिहास-सम्बन्धी लेख रहेंगे तथा क्रमशः प्रकाशित होनेवाले कोई प्राचीन ग्रन्थ और भिन्न भिन्न प्रशस्तियों का प्रकाशन।

हाँ, अन्यान्य मासिक पत्रों की अपेक्षा अगर कुछ कमी रहेगी तो इसी बात की कि इसमें किस्से-कहानी, आख्यायिका-उपन्यास और हँसी-दिल्लगी चटपटे आदि विषयों का अत्यन्ताभाव रहेगा। केवल आचार्यों के मस्तिष्क की बातें रहेंगी। इसलिये आजकल के मनोरञ्जक समाचार-पत्रों के युग में भास्कर के कुछ पाठकों को तो लोहे के चने चिबाने का सा अखरेगा। पर किया क्या जाय? भास्कर के ध्येय की ओर ध्यान देने से इसमें हँसी-खुशी एवं कुश्ती की गुंजायश ही नहीं। साथ ही साथ जैन ऐतिहासिक उत्कर्ष अभिव्यक्त करने के अतिरिक्त साम्प्रदायिकता की शृङ्खला की जकड़बन्दी इसे पसन्द नहीं, क्योंकि यह तो सभी जैन-सम्प्रदायों की सहानुभूति-सुधा का पान कर अमर बनने की चेष्टा करेगा।

किसी पत्र के सुचारुरूप से संचालन में द्रव्य और लैखिक साधन की परमावश्यकता होती है। द्रव्य के लिये जैन-समाज लक्षाधिपति एवं कोट्यधिपति आदि सम्पन्नतासूचक प्रचुर प्रख्याति प्राप्त कर चुका है। अब रही लैखिक साधन की आवश्यकता, सो अब इस समाज में साहित्यिक शूरवीरों की विरलता भी बड़े वेग से विलीन होती चली जाती है। आवश्यकता है केवल अपने साहित्य और इतिहास से सच्ची लगन की। समाज से जहाँ इसे थोड़ा भी आश्रय मिला वहाँ यह अपनी सुनहली एवं गुलाबी किरणों से—यहाँ की कौन बात कहे देशदेशान्तरों में भी विद्वानों का चित्ताकर्षक किए बिना यह नहीं रहेगा।

भास्कर ने अपने स्थायी जैन इतिहास और साहित्य के प्रकाशन-द्वारा जैनजनता की जो कुछ भी सेवा की है; उसका इसे गर्व है। जिस प्रकार युद्ध में बार बार हार खाकर उत्साहहीन तथा निष्क्रिय-शील हो बैठे हुए एक प्रसिद्ध बादशाह अन्नकण को ले जाने में असंख्य बार विफल प्रयास होने पर भी अन्त में कृतकार्य हुई चतुर चींटी की अविश्रान्त अध्यवसायशीलता और चातुरी से "पुनः करो उद्योग" की पुनीत शिक्षा के फलस्वरूप पुनरुद्योग से समरविजयी बना उसी प्रकार आशावादिता के

आदर्श को आगे रख कर ही भास्कर ने उदयाचल के शिखरारूढ़ होने की कमनीय कामना की है। भवन ने अपनी संचित साहित्य-सम्पत्ति को भास्करद्वारा प्रकाशित कर, अपना कर्त्तव्य पालन किया। देखें समाज किस रूप में अपना कर्त्तव्यपालन करता है।

दयाधर्म के प्राणस्वरूप सहृदय जैन बन्धुबान्धवों को अपनी जीवनमूरि साहित्यिक कृतियाँ अनेक शास्त्र-भाण्डागारों में दीमक एवं कीड़ों की खुराक होती देख कर उनके उद्धार की चेष्टा करते हुए अपनी सीमित दया एवं अहिंसा-धर्मक्षेत्र का विस्तार करना चाहिये।

अपने अपने कालिजों के कामों में सदा अस्तव्यस्त रहनेवाले प्रोफेसर बाबू हीरालाल जी जैन एम०ए०, प्रोफेसर A. N. उपाध्ये M.A. एवं जैन साहित्य की अविरत सेवा करनेवाले बाबू कामता प्रसाद जी जैन M. R. A.S. जैसे दुर्द्धर्ष विद्वान् सम्पादकों को पाने के सौभाग्य का भास्कर को अखर्व गर्व है। यह सुवर्णसंयोग ही भास्कर की सर्वाङ्गसुन्दरता एवं प्रकृत विद्वानों की मनोहारिकता की शुभ सूचना दिये देता है। साथ ही साथ जैन साहित्यिकों में ख्याति पाये हुए भवन के सुयोग्य पुस्तकालयाध्यक्ष पं० के० भुजबली शास्त्री जी की भी सम्पादक-श्रेणी में प्रविष्ट होने की अनुमति कम प्रशंसनीय नहीं है। अर्थात् इन उल्लिखित विद्वानों ने जो "भास्कर" के सम्पादन का उत्तरदायित्वपूर्ण भार वहन करने में कोई आना कानी नहीं की है इसके लिये भास्कर का प्रकाशक यह "भवन" इन महाशयों का चिरकृतज्ञ है।

अस्तु, भास्कर के प्रकाशन की चिरस्थायिता अनुग्राहक ग्राहकों की गुणग्राहिकता, जैन साहित्य तथा इतिहासप्रियता के ऊपर निर्भर है। क्योंकि इसकी किरणें भवन की चहारदिवाली अथवा अलमारियों के भीतर ही टिम-टिमाती रहें—इसीलिये नहीं इसका प्रकाशनारम्भ हुआ है। भारतीय इतिहासों के समरक्षेत्र में जैनइतिहास भी अपने पुरातन प्रमाणबल से अंगद जैसे बड़ी दृढ़ता के साथ सबल पैर अड़ा कर ललकारता रहे—यही इसके प्रकाशन का अन्तिम और पवित्र ध्येय है। आशा है कि सभी सहृदय बन्धुगण प्रकाशकीय वक्तव्य के इस निष्कर्ष से सर्वथा सहमत होंगे।

निवेदक—

चक्रेश्वर कुमार जैन (B.Sc. B.L.)

ॐ

जैन-मूर्तियाँ

(लेखक—कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०)

"सम्मत्तरयणजुत्ता णिब्भरभत्तीय णिच्चमच्चंति ।
कम्मक्खवण णिमित्तं देवा जिणणाह पडिमाउ ॥"
—तिलोयपण्णत्ति ।

कृतज्ञता-प्रकाश करने का भाव मनुष्य में स्वाभाविक है। निरीह असभ्य मनुष्य भी अपने वीर पूर्वजों का स्मरण करके इस भाव को व्यक्त करते हैं। ऐसा कोई सहृदय नहीं जो अपने उपकारी के प्रति प्रेम न करे और उस प्रेम को वह विविध प्रकार से प्रकट करने का उद्यम करता है। लन्दन के ट्राफलगर स्कायर में प्रतिवर्ष हजारों अंग्रेज नर-नारी एक खास दिन इकट्ठे होते हैं और वहाँ पर जो प्रसिद्ध नाविक एडमिरल नेलसन की पाषाण-मूर्ति बनी हुई है, उसके सामने नाचते-गाते और नेलसन की प्रशंसा के गीत गा-गा कर उस पाषाण मूर्ति पर ढेरों हार और फूल चढ़ा देते हैं। अंग्रेजों की यह क्रिया उस पाषाण—पत्थर की पूजा नहीं है, बल्कि उस महापुरुष के उपकार के प्रति भक्ति का प्रदर्शन है। भक्तजन अपने उपकारी की परोक्ष-विनय करने के लिये उसकी आकृति की स्थापना पाषाण-काठ आदि में कर लेते हैं। यह एक स्वाभाविक नियम है। जैनधर्म में भी मूर्ति स्थापना का आधार 'यही नियम है। श्रीविद्यानंदिस्वामी अपने 'पात्रकेसरी स्तोत्र' के निम्न श्लोक में यही प्रकट करते हैं :—

'विमोक्षसुखचैत्यदानपरिपूजनाद्यात्मिकाः
क्रियाबहुविधासुभृन्मरणपीडनहेतवः ।
त्वया ज्वलितकेवलेन नहि देशिताः किन्तुता-
स्त्वयि प्रसृतिभक्तिभिः स्वयमनुष्ठिताः श्रावकैः ॥३६॥

अर्थात्—"विमोक्ष सुख के लिये चैत्यालयादि का निर्माण, दान का देना, पूजन का करना इत्यादि रूप से अथवा इन्हें लक्ष्य करके जितनी क्रियायें की जाती हैं और जो अनेक प्रकार से त्रस-स्थावर जीवों के मरण तथा पीड़न की कारणीभूत हैं, उन सब क्रियायों का, हे केवली भगवान्! आपने उपदेश नहीं दिया; किन्तु आपके भक्तजन श्रावकों ने भक्ति से प्रेरित होकर उनका अनुष्ठान किया है।"

दूसरे शब्दों में यूं समझिये कि अरहंत भगवान ने मोक्षमार्ग का निरूपण करके जो लोक का कल्याण किया है, उस उपकार के लिये कृतज्ञता-ज्ञापन करना श्रावकों के लिये स्वाभाविक था—भक्तिभाव से प्रेरित होकर उन्होंने भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन न होने पर उनके प्रतिबिम्ब बनाये और वह प्रतिबिम्ब उनके लिये वीतराग भाव की शिक्षा देने में भी कार्यकारी हुए। उनकी आकृति ठीक वीतराग और समदृष्टि को लिये हुए बनाई गई। यही कारण है कि सम्यक्दृष्टी जीव जिनप्रतिमा को साक्षात् जिनेन्द्र भगवान् समझकर पूजता है और शुभभावों के फलरूप अपने कर्मों का क्षय करता है।[१] उसके लिये वह मंगल-वस्तु है।[२]

इस प्रकार जिन प्रतिमा की आवश्यकता प्राकृत स्पष्ट है और चूंकि मनुष्य और मनुष्य-स्वभाव त्रिकाल में एक समान है, इसलिये इन प्रतिमाओं का जन्म अनन्तभूत में गर्भित है। लोक में कहीं न कहीं तत्व-रूप में उसका अस्तित्व रहेगा। यही कारण है कि जैनधर्म में मूर्तियां दो तरह की बताईं गई हैं (१) कृत्रिम और (२) अकृत्रिम। अकृत्रिम प्रतिमायें सारे लोक में फैली हुई हैं[३]। भवनवासी देवों के आवासों में, ज्योतिषी देवों के विमानों में, कल्पवासी देवों के स्वर्गों में और मनुष्यलोक के विविध स्थानों में रत्नमयी शास्वत जिन-प्रतिमाओं का अस्तित्व जैनशास्त्र बतलाते हैं और उनकी ठीक ठीक गिनती भी उनमें बता दी गई है[४]। जम्बूद्वीप में भी कई स्थलों पर ऐसी जिनप्रतिमायें हैं। उनमें मुख्य जम्बूद्वीप की चारों दिशाओं पर स्थित चार द्वारों पर विराजमान हैं।[५]

१ भक्त्याऽर्हत्प्रतिमा पूज्या कृत्रिमाऽकृत्रिमा सदा।
यतस्तद्गुणसंकल्पात्प्रत्यक्षं पूजितो जिनः ॥४२॥६॥—धर्मसंग्रह श्रावकाचार।

२ "तत्र मंगलं नाम स्थापना द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदादानंदजनकं षोढा
स्थापना मंगलं कृत्रिमाकृत्रिमाजिनादीनां प्रतिबिम्बं। इत्यादि।"
—श्रीगोम्मटसार जीवतत्वप्रदीपिका टीका (कलकत्ता) पृष्ठ २

३ 'कृत्वाऽकृत्रिमचारुचैत्यनिलयान्नित्यं त्रिलोकीगतान्। इत्यादि।'—जिनपूजा।

४ 'तिलोयपण्णति' में इनका विशेष वर्णन है। 'चरचाशतक' में उनकी गिनती इस प्रकार की है:—
"सात किरोर बहत्तर लाख, पतालविषैं जिनमंदिर जानौं।
मध्यहि लोक में चार सौ ठावन, व्यंतर जोतिक के अधिकानौं॥
लाख चौरासी हजार सतानबै, तेइस ऊरध लोक बखानौं।
एकेक मैं प्रतिमा शत आठ, नमौं तिहु जोग त्रिकालु सयानौ ॥३६॥"

५ "विजयंत वैजयंत जयंत अपराजयंत णामेहिं।
चत्तारि दुवाराइं जंबूदीवे चउदिसासं॥
× × × ×
सीहासणछत्तत्तयभामंडलचामरादिरमणिज्जा।
रयणमया जिणपडिमा गोउर दारे सोहंति॥"—तिलोयपण्णति।

इन अकृत्रिम प्रतिमाओं के अतिरिक्त कृत्रिम प्रतिमायें मनुष्य-निर्मित हैं। इस अल्प-काल में सबसे पहले ऋषभदेव के पुत्र प्रथम सार्वभौम सम्राट् भरत चक्रवर्ती ने जिन-प्रतिमाओं की स्थापना की थी। जिस समय ऋषभदेव सर्वज्ञ तीर्थंकर होकर इस धरातल के पवित्र करने लगे तो उस समय भरतचक्रवर्ती ने तोरणों और घंटाओं पर जिन-प्रतिमायें बनवाकर भगवान का स्मारक कायम किया था[१]। उपरान्त उन्होंने ही भगवान् के निर्वाणधाम कैलाश पर्वत पर तीर्थंकरों की चौबीस स्वर्णमयी प्रतिमायें निर्मापित कराई थीं। जैनशास्त्र का यह कथन प्राकृत-सुसंगत है। मनुष्य-प्रकृति यह है कि वह अपने प्रेमी अथवा मान्यपुरुष का स्मारक-चिह्न अपने नगर और ग्राम में स्थापित करे और उसके मृत्युस्थान पर खासतौर पर चिह्न बना देवे। आज शहरों में राजाओं और देशनेताओं की मूर्तियां बनी मिलतीं हैं। और लोग महापुरुषों के मृत्युस्थान को तीर्थ-सम पूजते मिलते हैं। भरत महाराज का कार्य भी इसी ढंग का था। पहले उन्होंने तोरणों और घंटों पर जिन-प्रतिमायें अङ्कित कराईं। प्राचीन भारत में बड़े-बड़े नगर परकोटे से घिरे रहते थे और उनमें तोरण-द्वार तथा उनमें लटकते हुए घंटे खास चीज होते थे। इन खास-स्थानों पर स्मारक-चिह्न बनाया जाना स्वाभाविक था। उपरान्त जब भगवान् ऋषभदेव कैलाश से मुक्त हुये तो उस पवित्र स्थान पर विशेषरूप में जिन प्रतिमाओं के भरतेश्वर ने बनवा दिया। किन्तु इन जिन प्रतिमाओं को बनवाने में मुख्य प्रेरक हृदय की भक्ति थी। और उनके बनवाने का उद्देश्य साक्षात् जिन भगवान् की वीतराग मुद्रा के दर्शन पा लेना था। यही कारण है कि ये प्रतिमायें साधारण नेता आदि मुख्य पुरुषों के स्मारकों से विशेषता रखती थीं और वह विशेषता उनके जिनेन्द्रवत् पूज्य मानने में थी। इस प्रकार जैन शास्त्रानुसार इस काल में जिन-प्रतिमा के जन्म का यह इतिहास है।

अबतक उपलब्ध हुआ भारतीय पुरातत्त्व भी जिन-मूर्ति की उपर्युक्त-प्रकार बहु-प्राचीनता का समर्थन करता है। इस समय सिन्धु की उपत्यका का पुरातत्त्व सर्वप्राचीन है और विद्वज्जन उससे जिन-प्रतिमा का सम्बन्ध स्थापित करते हैं।[२] इस विषय पर हम आगामी एक स्वतंत्र लेख-द्वारा विचार करेंगे। इससे यह स्पष्ट है कि बस प्राचीन काल अर्थात् आज से लगभग छै हजार वर्ष पहले भी जिन-मूर्तियाँ थीं। उपरान्त मथुरा और

१—८ श्री आदि पुराण देखो।

२ Survival of the Prehistoric Civilisation of the Indus valley, pp. 25-83 and Modern Review, August, 1932.



तीर्थंकर श्रीपार्श्व नाथ जी की मूर्ति
(दक्षिण भारतीय कला)



तीर्थंकर श्रीपुष्पदन्त जी की मूर्ति
(दक्षिण भारतीय कला)

खण्डगिरि-उदयगिरि का पुरातत्त्व भी जिन-मूर्ति के प्राचीन अस्तित्व का द्योतक है। ईस्वी पहली शताब्दी में मथुरा में वह प्राचीन स्तूप मौजूद था जो उस समय 'देवनिर्मित' समझा जाता था और जिसे डॉ० बुल्हर तथा सर विन्सेन्ट स्मिथ ने भगवान् पार्श्वनाथ के समय अर्थात् ईस्वी के पूर्व आठवीं शताब्दी का बताया था[१]। जैनस्तूप पर मूर्तियां बनी होती हैं, यह बात जैनशास्त्रों और मथुरा के स्तूपावशेषों से स्पष्ट है। अतः भ० पार्श्वनाथ जी के समय में भी जिन-प्रतिमा का होना सिद्ध है। प्राचीन काल में जिनमूर्तियों के होने का समर्थन खण्डगिरि-उदयगिरि के प्रसिद्ध हाथीगुफावाले शिलालेख से भी होता है, जिसमें लिखा है कि एक नन्द राजा कलिङ्ग से अग्रजिन की प्रतिमा को मगध ले गया था, उसे कलिङ्गचक्रवर्ती पेल खारवेलु वापस कलिङ्ग ले आये थे[२]। नन्दकाल में जो प्रतिमा खूब प्रसिद्धि पा चुकी थी, उसका एक काफी समय पहले निर्मित होना सुसङ्गत है। अतः यह उल्लेख भी जिनमूर्ति के प्राचीन अस्तित्व का पोषक है।

किन्तु प्रश्न यह है कि प्राचीनकाल में जिन-मूर्तियां किस ढंग की बनती थीं? इस विषय पर दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन संप्रदाय की मान्यता भिन्न है; यद्यपि वे दोनों जिन प्रतिमा को उक्त प्रकार प्राचीन मानने में एकमत हैं। दिगम्बरों की मान्यता है कि जिन-प्रतिमा शुभलक्षण युक्त नासाग्र दृष्टिमय और श्रीवत्सचिह्न से अङ्कित नग्न शृङ्गार-वस्त्र-रहित होना चाहिये[३]। श्वेताम्बरों की मान्यता इससे विलक्षण है। उनका मत है कि प्राचीन जिन-प्रतिमाओं पर न वस्त्रलांछन होता था और न स्पष्ट नग्नत्व ही! उनके इस कथन से कुछ भी भाव स्पष्ट नहीं होता[४]। उस पर प्राचीन जिन-प्रतिमाओं के विषय में

---

१ Jaina Stupa and other antiquities of Mathur, p. 13.

२ जर्नल आव विहार एण्ड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी भाग १३ पृष्ठ ।

३ "कक्षादिरोमहीनांगस्मश्रु लेशविवर्जितं।
स्थितं प्रलम्बितं हस्तं श्रीवत्साढ्यं दिगम्बरं॥
पर्य्यंकासनकं कुर्याच्छिल्पिशास्त्रानुसारतः।
निरायुधं च निस्त्रीक भ्रूक्षेपादिविवर्जितं॥ इत्यादि॥"—जिनयज्ञकल्प

४ "पुव्विं जिणपडिमाणं नगिणत्तं नेव नवि अ पल्लवओ।
तेणं नागाटेणं भेओ उभएसि संभूओ॥"—प्रवचनपरीक्षा

'प्रवचनपरीक्षा' की उक्त गाथा उस कथा के प्रकरण में है जिसमें गिरिनार और शत्रुंजय पर दिगम्बर और श्वेताम्बरों के बीच झगड़ा होने का कथन है। उसमें यह भी कहा गया है कि 'आगे

जो वर्णन उनके शास्त्रों में मिलता है, वह इसी बात का द्योतक है कि प्राचीन प्रतिमायें नग्न बनाई जाती थीं। मथुरा और खण्डगिरि-उदयगिरि की प्राचीन प्रतिमायें नग्न ही हैं, जैसे कि दिगम्बरों की मान्यता है। इसके अतिरिक्त अजैन शास्त्रकार भी जिन-प्रतिमाओं का स्वरूप वैसा ही बतलाते हैं जैसा कि दिगम्बर शास्त्र प्रकट करते हैं। देखिये 'वराहमिहिर-संहिता' में कहा गया है:—

"आजानु लम्बबाहुः श्रीवत्साङ्कः प्रशान्तमूर्तिश्च ।
दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः ॥४५॥५८॥"

अर्हन्त की प्रशान्तमूर्ति श्रीवत्स चिह्न से अङ्कित तरुणरूप लम्बी बाहों वाली नंगी होती है। 'मानसार' शास्त्र से स्पष्ट है कि जिन-मूर्तियां ठीक मनुष्याकृति की—दो बाहों, दो आँखों, एक सिर सहित होती हैं[1] और वह निराभरण व वस्त्ररहित नग्न होती है। यथा[2]—

"निराभरणसर्वाङ्गनिर्वस्त्राङ्गमनोहरम् ।
सत्यवक्षस्थले हेमवर्णश्रीवत्सलाञ्छनम् ।"

किसी प्रकार का झगड़ा न होने पावे इसलिये अब जो नई प्रतिमायें बनवाई जांय, उनके पादमूल में वस्त्र का चिह्न बना दिया जाय।' (मा पडिमाणविवाओ होहीत्ति विचिंतऊण सिरि संघो। कासी पल्लवचिंधं नवाण पडिमाणपयमूले ॥) इससे स्पष्ट है कि प्राचीन प्रतिमायें निराभरण और वस्त्ररहित होती थीं। श्रीरत्नमण्डनगणि के "सुकृतसागर" नामक ग्रंथ से स्पष्ट है कि गिरिनार पर श्रीनेमिनाथ स्वामी की प्रतिमा श्रृङ्काररहित नग्न थी। श्रीरत्नमन्दिरगणि की 'उपदेशतरंगिणी' से भी इसी बात का समर्थन होता है। इन उद्धरणों को श्री पं० नाथूराम जी प्रेमी ने अपने व्याख्यान में पेश करके यह दरशाया है कि मूर्ति पर श्रृङ्गार करने और वस्त्र पहनाने की प्रथा नवीन है। हमारे श्वेताम्बर भाई प्राचीन प्रतिमाओं में लिङ्ग-चिह्न होना नहीं मानते; किन्तु मथुरा आदि की प्राचीन प्रतिमायें उनकी इस मान्यता का खंडन करती हैं। किन्हीं जिन-प्रतिमाओं में, जो पल्यंकासन होती है, शिल्पकार अपनी सुविधा के लिए लिंग-चिह्न नहीं भी बनाता है। ऐसी प्रतिमायें दिगम्बर-मंदिरों में देखने को मिलती हैं, किन्तु इसपर से यह नहीं कहा जा सकता कि प्रतिमाओं का प्राचीन रूप नग्न नहीं था।

१ "द्विभुजं च द्विनेत्रं च मुण्डतारं च शीर्षकम्।"—मानसार ७१।

२ मानसार ८१—८२।

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि जिनमूर्तियों का प्राचीन रूप वस्त्ररहित नग्न था और वह ठीक वैसा ही था जैसा कि दिगम्बराम्नाय के शास्त्रों में बताया गया है। यदि इसके विपरीत जिनप्रतिमा का स्वरूप वस्त्र और आभरणों से शृङ्गारित माना जाय तो वहाँ जिनप्रतिमा की स्थापना का महत्त्व ही नष्ट हो जाता है, क्योंकि शास्त्रकार का वचन है :—

'कथयन्ति कषायमुक्तिलक्ष्मीं, परया शान्ततया भवान्तकानां।
प्रणमामि विशुद्धये जिनानां प्रतिरूपाण्यभिरूपमूर्तिमन्ति॥'

अर्थात्—"जन्म मरण का अन्त कर देनेवाले जिनों की मूर्तियाँ जो बिल्कुल उन्हीं की जैसी होती हैं अपनी उत्कृष्ट शान्ति के द्वारा यह बतलाती हैं कि कषायमुक्ति कैसे प्राप्त की जाती है। इसलिये मैं उन्हें विशुद्धि प्राप्त करने के लिये प्रणाम करता हूँ।" अब भला कहिये, उन मूर्तियों पर वस्त्रादि शृङ्गार कैसे संभावित हो सकता है। अतः यह मानना ठीक है कि प्राचीन जिन-प्रतिमा निराभरण और निर्वस्त्र होती थी! 'प्रतिष्ठासारोद्धार' ग्रंथ में उनका उल्लेख इस प्रकार है :—[1]

"शांतप्रसन्नमध्यस्थनासाग्रस्थाविकारदृक्।
संपूर्णभावरूऽनुविद्धांगं लक्षणान्वितम्॥६३॥
रौद्रादिदोषनिर्मुक्तं प्रातिहार्यांकयक्षयुक्।
निर्माप्य विधिना पीठे जिनबिंबं निवेशयेत्॥६४॥"

अर्थात्—"जो शांत, प्रसन्न, मध्यस्थ, नासग्रस्थित अविकारी दृष्टिवाली हो, जिसका अंग वीतरागपने सहित हो, अनुपम वर्ण हो, और शुभलक्षणों सहित हो रौद्र आदि बारह दोषों से रहित हो, अशोक वृक्षादि प्रातिहार्यों से युक्त हो और दोनों तरफ यक्ष-यक्षी से वेष्टित हो, ऐसी जिनप्रतिमा को बनवाकर विधि-सहित सिंहासन पर विराजमान करे!" यह जिन-प्रतिमा का आदर्श-रूप है। किन्तु बहुत सी ऐसी प्रतिमायें मिलती हैं जिनमें प्रातिहार्य व यक्षादि कुछ भी नहीं होते। इससे प्रकट है कि व्यवहार में सुविधानुसार शिल्पी जिन-प्रतिमा को बनाते हैं, जिसमें वीतराग दृष्टि, सौम्य आकृति और निर्वस्त्रता होना अनिवार्य्य है!

अब प्रश्न यह है कि ये प्रतिमायें किस वस्तु की और किन किन महापुरुषों की बनाई जाती हैं? तथा उनके बनाने के स्थान क्या क्या हैं? इन प्रश्नों के उत्तर में हमें "वसुनन्दि-श्रावकाचारादि" के निम्न श्लोक मिलते हैं[2] :—

---

१ प्रतिष्ठासारोद्धार (बम्बई) पृष्ठ ७

२ वसुनन्दि श्रावकाचार (मुरादाबाद) पृष्ठ ६८

"मणिकणयणरुप्पय, पित्तलमुताहलोवलाइहिं ॥
पडिमालक्खणविहिणा, जिणाइपडिमा घडाविज्जा ॥३६०॥"

अर्थात्—"मणि, सोना, रूपा, पीतल, मोती और पत्थर आदि में जिन भगवान् के लक्षण बनवा कर प्रतिमा बनवावे।" आदि शब्द से मतलब चित्र, लेपमय वस्त्र, व काठ की प्रतिमाओं का है[1], जिनकी प्रतिष्ठा-विधि भी उनका प्रतिबिम्ब दर्पण में लेकर पाषाणादि प्रतिमाके समान है[2]। वे प्रतिमायें अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुमहाराजकी होती हैं[3], किन्तु मुख्यतः इनमें अर्हत प्रतिमाओं की—उनमें भी तीर्थङ्कर अर्हत की प्रतिमाओं की है अर्हत की प्रतिमा से तीर्थंकर की प्रतिमा को व्यक्त करने के लिये प्रत्येक तीर्थंकर का चिह्न उनकी प्रतिमा पर बना दिया जाता है।[4] सिद्ध की प्रतिमा शरीराकार की रेखामात्र होती है

१ सौवर्णं राजतं वापि पैत्तलं कांस्यजं तथा ॥—प्रवालं मौक्तिकं चैव वैडूर्यादिसुरत्नजं।
चित्रजं क्वचिच्चन्दन जपपरं ॥—जिनयज्ञकल्प।

२ चित्तपडलेवपडिमाए दप्पणे दाविऊण पडिबिंबं।' इत्यादि—"चित्राम की तथा वस्त्र वा भीत पर खींची हुई जो जिनप्रतिमा है उसका प्रतिबिंब दर्पण में दिखावे।"—व० श्रा०।

३ 'सूरीणाम्, पाठकानाम् च साधूनां च यथागमम्।'—आगम के अनुसार आचार्य, उपाध्याय और साधु की प्रतिमायें बनानी चाहिये अर्थात् आचार्य और उपाध्याय की प्रतिमाओं के साथ शास्त्र भी बनाना चाहिये और साधुओं की प्रतिमा के साथ पीछी और कमंडलु! किन्हीं का मत है कि साधुओं की प्रतिमायें न बनवा कर उनका निषिधिका पर मात्र चरण चिह्न ही बनाना चाहिये। नशियाँ इटावा में चरणसहित निषधिकायें दिगम्बर मुनियों की बनी हुई हैं। बीजोल्या (मेवाड़) में भी ऐसी ही निषधिकायें हैं; किन्तु उनमें ऐसा भी है जिनपर दिगम्बर मुनियों की मूर्तियां पीछी कमंडल-सहित बनी हुई हैं। विशेषतः साधु महाराज की प्रतिमा बनाने का रिवाज बहुत कम है। अधिकांश और प्राचीन प्रतिमायें तो प्रायः अर्हतभगवान की ही मिलती हैं।

४ "स्थापयेदर्हतां छत्रत्रयाशोकप्रकीर्णकम्। पीठं भामंडलं भाषां पुष्पवृष्टिं च दुन्दुभिम् ॥
स्थिरेतरार्चयोः पादपीठस्याधो यथायथम्। लांछनं दक्षिणे पार्श्वे यक्षं यक्षीं च वामके ॥
गौर्गजोऽश्वः कपिः कोकः कमलं स्वस्तिकः शशी। मकरः श्रीद्रुमो गंडो महिषः कोलसेद्धिकौ ॥
वज्रं मृगोऽजष्टगरं कलशः कूर्म उत्पलम्। शंखो नागाधिपः सिंहो लांछनान्यर्हतां क्रमात् ॥"

अर्थात्—"अर्हत प्रतिमा को तीन छत्र, दो चमर, अशोकवृक्ष, दुंदुभि बाजा, सिंहासन, भामंडल, दिव्य भाषा, पुष्पवर्षा—इन आठ प्रतिहार्यों से शोभित करे। उसके बाद स्थिर और चल दोनों प्रतिमाओं में सिंहासन के नीचे जैसा शास्त्र में कहा है वैसे ही सीधी बाजू में भगवान के चिह्न को और बाईं ओर यक्ष और यक्षी को खड़ा करे। अर्हतों के शरीर के चिह्न क्रम से (१) बैल (२) हाथी (३) घोड़ा (४) बंदर (५) चकवा (६) कमल (७) साथिया (८) चंद्रमा (९) मगर (१०) श्रीवृक्ष (११) गैंडा (१२) भैंसा (१३) सूअर (१४) सेही (१५) वज्र (१६) हरिण (१७) बकरा (१८) मच्छ (१९) कलश (२०) कछुआ (२१) कमल की पांखुरी (२२) शंख (२३) सर्प (२४) सिंह—ये चौबीस हैं।"—प्रतिष्ठासारोद्धार पृ० ८



मथुरा से प्राप्त एक जैन तीर्थंकर की मूर्त्ति।

(छठो शताब्दी)

और उनमें प्रातिहार्यादि नहीं होते हैं।[1] इनके अतिरिक्त यक्षों और शासन-देवताओं की भी मूर्तियां सर्व अलंकारों से भूषित अपने वाहन व आयुधों सहित सर्वांगसुन्दर बनाई जाती हैं।[2] ये सब प्रतिमायें दो तरह की (१) स्थिर (२) और चल होती हैं।[3] स्थिर मूर्ति वह होती है जो किसी पहाड़ आदि में उकेर कर अथवा दिवाल में लेप करके बनाई जाती है और जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं ले जायी जा सकती है। चल प्रतिमा इसके विपरीत चाहे कहीं ले जायी जा सकती हैं।

इन प्रतिमाओं का मुख्य स्थान जिनमन्दिर में गन्धकुटी है, किन्तु इसके अतिरिक्त मानस्तम्भ, चैत्यवृक्ष, तोरणद्वार, आयागपट और मुद्राओं पर भी जिनमूर्तियां बनी मिलती हैं। मानस्तम्भ जिनमंदिरों के द्वार पर बना होता है, जैसे कि तीर्थंकर के समवशरण के चार द्वारों पर बने होते हैं। इनपर कितनी ही जिनमूर्तियां बनी होती हैं।[4] चैत्यवृक्ष के निम्न भाग में जिन-प्रतिमा विराजमान होती हैं, जैसे निम्न श्लोक से स्पष्ट है:—

"ततोवीथ्यंतरेष्वासीद्वनं कल्पमहीरुहां।
नानारत्नप्रभोत्सर्पद्धतध्वांतं मनोहरं ॥१२४॥
चतुश्चैत्यद्रुमास्तत्राशोकाद्याः स्युः प्रभास्वराः।
अधोभागे जिनार्च्याढ्याः सपीठाश्छत्रशोभिताः ॥१२५॥"

अर्थात्—"इस वीथी के बाद दूसरी वीथी में कल्पवृक्षों का एक विशाल बन था जो कि फैली हुई उग्र रत्नों की प्रभा से समस्त अंधकार का नाश करनेवाला और महामनोहर था। उस कल्पवृक्षों के बन के अंदर अशोक आदि चैत्यवृक्ष थे जो कि अपनी महामनोहर कांति से अत्यंत देदीप्यमान थे। उनके नीचे के भाग में भगवान जिनेन्द्र की प्रतिमायें थीं एवं वे वृक्षमय सिंहासन और छत्रों से युक्त होने के कारण अत्यंत शोभायमान थे। (मल्लिनाथपुराण पृष्ठ १४४)" यह उल्लेख श्रीमल्लिनाथ तीर्थंकर के समवशरण में स्थित चैत्यवृक्षों का है। ऐसे ही चैत्यवृक्ष आदि अन्य तीर्थंकरों के समवशरण में भी होते हैं। इन्हीं चैत्यवृक्षों की नकल करके वृक्ष की जड़ से सिंहासन पर बैठी हुई पाषाण-मूर्तियां मिलती हैं।

१ 'प्रातिहार्यं विना शुद्धं सिद्धं बिम्बमपीदृशम्।'—जिनयज्ञकल्प।
२ 'यक्षाणां देवतानां च सर्वालंकारभूषितं। स्ववाहनायुधोपेतं कुर्यात्सर्वाङ्गसुन्दरं॥'—जिनयज्ञकल्प
३ "चलपडिमाए। उवणा भणिया थिराए य।"—वसुनन्दी श्रावकाचार।
४ "पडिमाणं अग्गेसुं रयणथंभा हवंति वीसपुढं; पडिमा पीढसरिच्छा पीठा थंभाणणादुव्वा।'
—तिलोयपण्णत्ति।

ततोऽन्तरांतरं किंचिद्गत्वा हेममयोन्नताः अधोमध्य जिनार्च्यांगा ध्वजछत्राभूषिताः।
चतुर्गोपुरसंबद्धशालत्रितयवेष्टिताः। रेजुर्मध्येषु वीथीनां मानस्तंभा मनोहराः॥—मल्लिनाथ पुराणम्

चैत्यवृक्षों के अतिरिक्त स्तूपों पर भी जिन-प्रतिमायें होती हैं। स्तूप वस्तुतः महापुरुषों के समाधिस्थल पर बनाये जाते हैं। यही कारण है कि उनपर मुख्यतः सिद्ध-प्रतिमा का बनना बताया है। वैसे मथुरा, रामनगर आदि से जो जैनस्तूपों के नमूने मिले हैं उनमें अर्हंत-प्रतिमायें बनी हुई हैं। श्रीमल्लिनाथ तीर्थंकर के समवशरण के स्तूपों का वर्णन इस प्रकार मिलता है:—

"वीथीनां मध्यभागे तु नव स्तूपाः समुद्ययुः।
पद्मरागमयाः सिद्धजिनबिंबाद्यलंकृताः ॥१३४॥
स्तूपानामंतरेष्वेषां रत्नतोरणमालिकाः।
बभुरिंद्रधनुर्मय्य इवोद्योतितखांगणाः ॥१३५॥

अर्थात्—"गलियों के मध्यभाग में नौ स्तूप थे जो कि पद्मराग मणिमय थे एवं सिद्ध भगवान की प्रतिमाओं से अलंकृत थे। स्तूपों के मध्यभागों में रत्नमय तोरण और मालिका थीं, जिन्होंने कि अपनी कांति से समस्त आकाश को व्याप्त कर रक्खा था। अतएव वे इन्द्रधनुषमयी सरीखी जान पड़ती थीं।" —मल्लिनाथपुराण पृष्ठ १४६)

तोरण-द्वारों पर जिन-प्रतिमायें भरत महाराज ने बनवाई थीं और जम्बूद्वीप के चार तोरण-द्वारों पर अकृत्रिम जिन प्रतिमायें हैं; यह पहले लिखा जा चुका है। मथुरा से कतिपय प्राचीन आयागपट मिले हैं जो कला की अद्भुत वस्तु हैं और उनके मध्यभाग में जिनेन्द्र भगवान पल्यंकासन विराजमान हैं। वह आयागपट मंदिरों के सभामंडप अथवा श्रावकों के घरों में पूजा के लिये बने होते थे। इनकी गणना चित्रज प्रतिमा में करना ठीक है। जिस तरह कागज, वस्त्र या काँच पर बना हुआ चित्र दीवाल पर टांगा जाता है उसी तरह इनको भी दीवाल में लगाया जाता था। मालूम होता है कि कागज व काँच के चित्रों की प्रधानता जब बढ़ गई तब इन आयागपट्टों का रिवाज उठ गया और अब यह प्रायः नहीं बनाये जाते हैं। यह भी अनुमान होता है कि ऐसे भी शिलापट पहले बनाये जाते थे जिनपर तीर्थों के चित्र उकेरे हुये होते थे। सम्मेदशिखर के दृश्य को प्रकट करनेवाला एक शिलापट लन्दन के ब्रिटिश म्युज़ियम में है।

जैनसंघ में पहले अपने धार्मिक विश्वास को प्रकट करने के लिए तत्सम्बन्धी चिह्नों से अङ्कित मुद्रा बनाने का रिवाज था। यह मुद्रायें वह विपक्षी को वाद के लिये आह्वान करने के लिये चबूतरों पर रखते थे अथवा स्तूप, वेदी, मंदिर आदि की नीव में उन्हें रख देते थे। आजकल भी श्रावक लोग नवीन वेदी आदि के नीचे प्रचलित सिक्कों को रख देते हैं। अब प्राइवेट तौर पर मुद्रायें बनाने का रिवाज कानूनन बन्द कर दिया गया है।

और अब शास्त्रार्थ की रीति भी बदल गई है। यही कारण है कि जैन मुद्रायें अब देखने को नहीं मिलतीं। डॉ० हार्णले साहब को पंजाब से ऐसी मुद्रायें मिली थीं[१] और कनिंघम साहब ने भी जैनस्तूपों के नीचे वैसी मुद्रायें पाई थीं[२]। किन्तु उनपर जिन-प्रतिमा के चित्र बने होते हैं या नहीं; इस विषय में कुछ भी निश्चयरूप में नहीं कहा जा सकता, जबतक कि प्राप्त मुद्राओं का अध्ययन न किया जाय। हाँ, सिन्धु-उपत्यका से जो प्राचीन मुद्रायें मिली हैं उनमें कायोत्सर्ग प्रतिमायें बनी हुई हैं और वह ठीक वैसी ही हैं कि जैसी जिनप्रतिमा होती है[३]। यदि उन मुद्राओं का सम्बन्ध जैन धर्म से प्रमाणित हो सके, जिसका होना बहुत कुछ संभव है, तो यह कहा जा सकता है कि मुद्राओं पर जिन-प्रतिमा बनती थीं उनपर धार्मिक चिह्न तो निःसन्देह होते थे।[४]

उपलब्ध जिन-प्रतिमाओं पर एक दृष्टि डाल लेना भी उचित है। इन्हें हम तीन भागों में विभक्त करना उचित समझते हैं (१) उत्तर भारतीय (२) दक्षिण भारतीय और (३) पूर्व भारतीय। जैनसम्राट् ऐल खारवेल के समय अथवा उनके भी पहले से जैनधर्म के केन्द्र इन्हीं तीन प्रदेशों में थे। मथुरा, पटना, उज्जैन और काञ्चीपुर जैनधर्म के प्राचीन केन्द्र हैं। इन्हीं केन्द्रस्थानों के अधीन उनके आसपास श्रावकों का होना स्वाभाविक है और उनपर वहां के देश और लोगों का प्रभाव पड़ना प्राकृत संगत है। उत्तर भारतीय प्रतिमाओं में हम संयुक्त प्रान्त से गुजरात तक और उधर पंजाब तक की प्रतिमाओं को लेते हैं। ये प्रतिमायें प्रायः एक समान देखने को मिलेंगी। 'एक समान' से हमारा मतलब मुखाकृति, शरीर-गठन आदि से है। वैसे स्वरूप में जिन-प्रतिमा सर्वत्र एक-सी ही रही मिलेगी। पंजाब में तक्षशिला आदि से प्राप्त जिन-प्रतिमाओं पर गांधार-शिल्प का प्रभाव पड़ा कहा जा सकता है। किन्तु उत्तर भारत की प्राचीन मूर्तियाँ मथुरा की बनी हुई कही जा सकती हैं और वे वर्तमान की प्रतिमाओं से शरीर-आकृति आदि में विलक्षण हैं। दक्षिण भारत की जिनमूर्तियाँ भी उत्तर भारत की मूर्तियों से शिल्प-

---

१ Proceedings of the Asiatic Society of Bengal, Sept., 1884.

२ Arch : Survey Reports, vol. III p. 157, vol. X p. 5 and vol. XI pp. 35-39.

३ रा० ब० मि० रामप्रसाद चन्दा ने यह सादृश्य अंग्रेजी के प्रसिद्ध पत्र "माडर्नरिव्यू" के अगस्त १९३२ के अंक में एक लेख लिखकर प्रकट किया है। वह लिखते हैं कि ऋषभजिन की कायोत्सर्ग मूर्ति से सिन्धु-मुद्राओं पर की मूर्तियाँ बिल्कुल सादृश्य रखती हैं। (It will be seen that the pose of this image ('Image of Rishabha) closely resembles the standing dieties on the Indus seals.' p. 159).

४ हमारी 'भगवान महावीर' नामक पुस्तक देखो।

नैपुण्य में भिन्नता रखती हैं। उनपर द्राविड़ लोगों की संस्कृति का प्रभाव पड़ा है और वे उन्हीं की शरीर-आकृति को प्रकट करती हैं। इसी तरह पूर्व भारत अर्थात् बङ्गाल, बिहार और ओड़ीसा की जिन-मूर्तियां वहाँ के क्षेत्र मनुष्य और शिल्प का प्रभाव प्रकट करती हैं। इन देशों की जिनमूर्तियों पर एक दृष्टि डालने से यह मूर्ति-घढ़ने का भेद स्पष्ट हो जाता है।

उपलब्ध प्रतिमाओं में विशेष उल्लेखनीय दक्षिण भारत की गोम्मट मूर्तियां हैं। ये विशालकाय मूर्तियां संसार में अपने ढंग की एक हैं। इनमें सब से बड़ी प्रतिमा श्रवणबेलगोल में ५६३ फीट ऊँची है। कारकल और बेणूर की प्रतिमायें इससे छोटी हैं। ये दीर्घकायिक प्रतिमायें शिल्प के अपूर्व आदर्श हैं और विद्वान् इनकी गिनती जगत की आश्चर्यमय वस्तुओं में करते हैं।

कुछ ऐसी जिन-प्रतिमायें भी मिलो हैं जो नितान्त विलक्षण हैं। लखनऊ के अजायब घर में एक मूर्ति (No. J 18) ऐसो है, जिस में तेईस तीर्थंकरों के बीच में ऋषभदेव की भव्यमूर्ति स्थापित है और उसके बाल कंधों तक बिखरे हुए हैं। अलाहाबाद के किसी एक मंदिर में भी, मुझे याद पड़ता है कि मैं ने कुछ ऐसी ही प्रतिमायें देखी थीं। चौमुखी प्रतिमायें तो बहुत मिलती हैं। धरणेन्द्र-पद्मावती की मूर्ति पर के फणमण्डल पर बनी हुई जिन प्रतिमायें मिलती हैं। दिल्ली के उर्दू (लाल) मंदिर में मैं ने एक ऐसी मूर्ति के दर्शन किये हैं। किन्तु सब से बिलक्षण मूर्ति वह है जो लन्दन के 'विक्टोरिया-अलबर्ट म्यूज़ियम' में नं० ४५१ (451 I. S.) पर रक्खी हुई है। यह मूर्ति उक्त म्यूज़ियम को 'ईस्ट-इंडिया कम्पनी' द्वारा भेंट की गई थी। यह मूर्ति लाल पाषाण की पर्यंकासन में चन्द्र चिह्न को लिये हुई है, जिस से उसका चन्द्रप्रभ जिन की होना स्पष्ट है। वह १४½ इञ्च ऊंची और ४१/२ इंच चौड़ी है। उसका मुख ६⅝ इञ्च चौड़ा है और उस में बिलक्षणता यह है कि उसके सात मुख बने हुए हैं। उस मूर्ति के सीधे हाथ की हथेली पर एक चौकोन चिह्न (⊞) बना हुआ है। उस पर एक लेख तीन पंक्तियों में है, जिस का अक्स डा० लक्ष्मीचन्द्र जी ने भेजने की कृपा की। उस पर से वह लेख इस प्रकार पढ़ा जाता है:—

"सं० १६२६ वैं० सु० (यहां पर अर्धचंद्राकार चिह्न है) गुरु माधो पु मू (?)

भ० सुरेन्द्रकीर्त तदा० सं० नंदलालेन प्र० तिष्ठो करापितं"

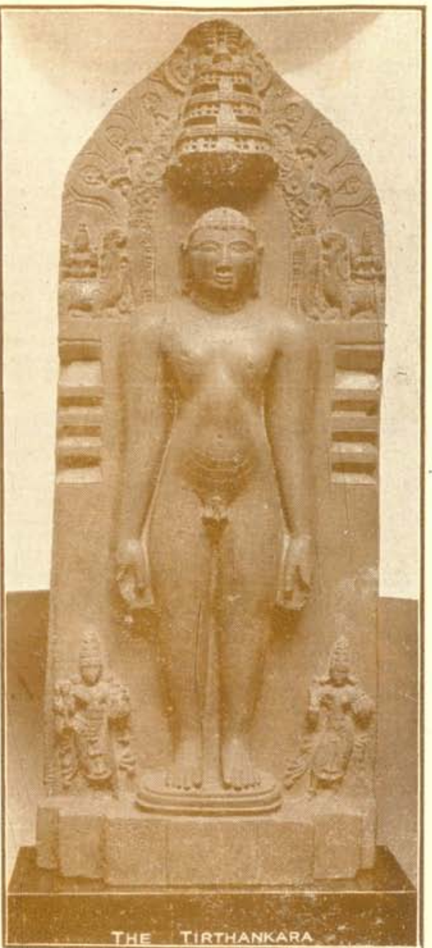
इस से प्रकट है कि यह मूर्ति सन् १५६६ में किन्हीं भ० सुरेन्द्रकीर्ति द्वारा माधोपुर में प्रतिष्ठित हुई थी और वह प्रतिष्ठा सिंघई नंदलाल ने करवाई थी। सं० १५४८ में सेठ

भास्कर



सप्तमुख जिन प्रतिमा

(पृष्ट १६ देखिये)



भावी जिन की मूर्ति

(दक्षिण भारतीय कला)

जीवराज पापड़ीवालेने सहर मुड़ा से में अगणित जिन-बिम्बों को प्रतिष्ठा कराई थी। उनकी प्रतिष्ठा कराई हुई प्रतिमायें सारे उत्तर भारत के जिन-मंदिरों में मिलती हैं। मालूम होता है कि मुसलमान आक्रमणकों द्वारा जिन-मूर्यियों का एकदम संहार हुआ देखकर उनकी पूर्ति के लिये सेठ जीवराज जी ने अगणित प्रतिमायें प्रतिष्ठित कराई थीं। यह उनकी धर्मप्रभावना का विशेष कार्य था। इतिशम् ।*



*इस लेख सम्बन्धी मूर्तियों के चित्र बृटिश म्यूजियम तथा अलबर्ट म्यूजियम लन्दन के सौजन्य और आज्ञा से प्रकट किये जाते हैं। असली मूर्तियों के फोटो श्रीमान् पण्डित चम्पत राय जी जैन विद्यावारिधि की कृपा से प्राप्त हुए हैं--एतदर्थ हम उनका भी आभारी स्वीकार करते हैं। —लेखक

प्रमाणनयतत्वालोकालंकार की समीक्षा

(ले०—पंडित वंशीधर जी, व्याकरणाचार्य, न्यायतीर्थ, साहित्य-शास्त्री)

(१)

प्रकृत ग्रन्थ में प्रमाण, प्रमाणाभासों तथा नय, नयाभासों का विवेचन सूत्रों द्वारा किया गया है। इस ग्रन्थ के देखने से मालूम पड़ता है, कि वास्तव में यह ग्रन्थ सूत्र-ग्रन्थों की कोटि से अधिक पीछे है। सूत्रों में सरलता, लघुता, पूर्वापर संबन्ध-वाहकता पद-सार्थकता आदि आदि बातें अधिक अपेक्षणीय रहती हैं, जो कि इस ग्रन्थ में नहीं पायी जाती हैं। कहीं कहीं पर तो सूत्रों तक की निरर्थकता भी पायी जाती है।

ग्रन्थ का आधार तथा ग्रन्थ कर्त्ता का इस के गोपन करने का असफल प्रयत्न

यह ग्रन्थ दिगम्बराचार्य श्रीमाणिक्यनन्दी के सूत्रग्रन्थ परीक्षामुख के आधार पर लिखा गया है तथा इसके बहुत कुछ विषय का आधार परीक्षामुख की टीका प्रमेयकमल मार्तण्ड जान पड़ता है। यों तो प्रायः सभी ग्रन्थों में दूसरे ग्रन्थों का कुछ न कुछ मिश्रण पाया जाता है किन्तु इस ग्रन्थ में परीक्षामुख का विचित्र रूप से ही संमिश्रण किया गया है। ग्रन्थकर्ता ने परीक्षामुख से भेद पैदा करने के लिये सूत्रों में शब्द-परिवर्तन का ही प्रायः सर्वत्र ध्यान रक्खा है।

हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ॥२-१॥ परीक्षा मु०

अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं हि प्रमाणमतो ज्ञानमेवेदम् ॥३-१॥

प्र० न० तत्वा०।

इसी तरह का शब्दपरिवर्तन ही सर्वत्र पाया जाता है। इस ग्रन्थ में कम से कम परीक्षामुख के विषय में यदि मौलिकता खोजी जाय तो कहीं कहीं पर मिल सकती है लेकिन बहुत कम, और वह भी विशेष महत्व की नहीं। कहा जा सकता है कि जब प्रतिपाद्य विषय एक है तो मौलिकता कहाँ से आ सकती है? लेकिन बात ऐसी नहीं है; मौलिकता रचयिता की रचनाशैली से आती है। भले ही प्रतिपाद्य विषय एक हो पर, जहाँ शब्द-परिवर्तन ही नहीं, कहीं कहीं पर तो अनुचित शब्दपरिवर्तन से ही ग्रन्थरचना की गयी है वहाँ पर मौलिकता की खोज करना असफल प्रयत्न ही कहा जायगा।

इस ग्रन्थ में परीक्षामुख से भेद दिखलाने के लिये जो शब्द-परिवर्तन किया गया है उस से सूत्रों में कुछ काठिन्य आजाना स्वाभाविक है किन्तु सूत्रों के देखने से जान पड़ता है कि ग्रन्थकर्त्ता को काठिन्यप्रिय भी था जिससे स्थान स्थान पर शब्दाडम्बरता को भी खूब स्थान मिला है।

सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात् सहोत्पादाच्च ॥६४-३॥ (परीक्षामुख)

सहचारिणोः परस्परस्वरूपत्यागेन तादात्म्यानुपपत्तेः,

सहोत्पादेन तदुत्पत्तिविपत्तेश्च, सहचरहेतोरपि प्रोक्तेषु नानुप्रवेशः ॥७६-३॥

प्र० न० तत्वा०।

इन दोनों सूत्रों के देखने से मालूम पड़ सकता है कि परीक्षामुख के सूत्र में कितनी सरलता व लघुता पायी जाती है तथा प्रमाणनयतत्वालोकालङ्कार के सूत्र में कितनी कठिनता व शब्दाडम्बरता पायी जाती है। इस सूत्र पर विशेष विचार आगे किया जायगा।

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ॥११-३॥

इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च ॥१२-३॥ परीक्षामुख०।

उपलम्भानुपलम्भसंभवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्बनम्,

इदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहापरनामा तर्कः ॥ ७-३ ॥

प्र० न० तत्वा०।

परीक्षामुख के दोनों सूत्र सरल और लघु होते हुए भी जिस अर्थ का स्पष्ट बोधन कर रहे हैं उसी अर्थ को प्रमाणनयतत्वालोकालङ्कार का कठिन सूत्र परिमाण में उन दोनों सूत्रों से लम्बा होता हुआ भी स्पष्ट बोधन नहीं कर सका है, इसीलिये सूत्र में दो आदि शब्द ग्रन्थकार को प्रविष्ट करने पड़े हैं। इस सूत्र में "त्रिकालीकलित" यह अंश निरर्थक ही है कारण व्याप्ति सर्वोपसंहारवती ही होती है अर्थात् सर्व देश, सर्वकाल को व्याप्त करके ही रहती है इसलिये इस अंश के बिना भी वह अर्थ आगे के अंश से निकल ही आता है। जान पड़ता है ग्रन्थकार इस सूत्र को बनाते समय अवश्य ही किसी दूसरे विचार में मग्न थे अन्यथा वे "त्रिकालीकलित" इस अंश के साथ "सर्वदेशकलित" इस अंश का भी सूत्र में निवेश करने से नहीं चूकते, कारण कि उनके मतानुसार इस अंश के अभाव में भी सूत्र के अर्थ में कमी रह जाती है। हो सकता है कि ग्रन्थकार ने सूत्र के लम्बेपन के भय से ही इस अंश का निवेश न किया हो। यह भी मालूम होता है कि ग्रन्थकार को इस बात का बहुत भय था कि हमारा ग्रन्थ परीक्षामुख की नकल न समझ लिया जाय, इसलिये उन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना को स्वतंत्र सिद्ध करने में अधिक परिश्रम किया

है इसका दिग्दर्शन ऊपर करा ही दिया गया है, तथा इसके लिये ग्रन्थ में जहाँ भी अधिक लिखने की स्वतंत्रता मिली है वहां पर उन्होंने कुछ न कुछ लिख ही डाला है। कहीं कहीं पर तो इसी विचार में परीक्षामुख के कई उपयोगी सूत्रों का विषय भी छोड़ देना पड़ा है। इन दोनों ग्रन्थों को देखने से मालूम पड़ सकता है। यहां पर लेख बढ़ जाने के भय से नहीं लिखा गया है। इनके विषय में इस ग्रन्थ को देखते हुए यह तो नहीं कहा जा सकता, कि ग्रन्थकर्ता ने उनके लिखने की आवश्यकता नहीं समझी, कारण कि इस ग्रन्थ में मामूली भी बात को सूत्र में स्थान दिया गया है।

कहीं कहीं पर सूत्र-परिवर्तन के कारण ग्रन्थकार इतनी दूर पहुंच गये हैं, कि परीक्षामुख की भावपूर्ण वर्णनशैली भी जाती रही है, इसके लिये अनुमान प्रकरण का वह स्थल, जहां पर उदाहरण, उपनय और निगमन को अनुमान में अप्रयोजक सिद्ध किया गया है, विशेषतया उल्लेखनीय है। दोनों ग्रन्थों के तीसरे परिच्छेद में इस प्रकरण को देखने से इस कथन की सत्यता का भलीभाँति अनुभव होता है। इस लेख में भी आगे इन सूत्रों को उद्धृत किया जायगा।

इस ग्रन्थ में जितने दृष्टान्त दिये गये हैं उनमें परिवर्तन के कारण अप्रसिद्धों को बहुत स्थान मिला है, जैसे—

(१) घटमहमात्मना वेद्मि ॥ ८—१ ॥ परीक्षामुख० ।
करिकलभकमहमात्मना जानामि ॥ १६—१ ॥ प्र० न० तत्वा० ।

(२) प्रदीपवत् ॥ १२—१ ॥ परीक्षामुख० ।
मिहिरालोकवत् ॥ १७—१ ॥ प्र० न० तत्वा० ।

दृष्टान्तों में शब्दाडम्बरता को स्वतंत्रता का पूरा पूरा उपयोग किया गया है।

(३) यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवकाः ॥ ५२—६ ॥ परीक्षामुख० ।
यथा मेकलकन्यकायाः कूले तालहिन्तालयोर्मूले सुलभाः
पिण्डखर्जूराः सन्ति त्वरितं गच्छत गच्छत शावकाः ॥ ८४—६ ॥

(४) यथा पश्य पुरः स्फुरत्किरणमणिखण्डमण्डिताभरणभारिणीं जिनपति-
प्रतिमाम् ॥ २७—३ ॥ प्र० न० तत्वा० ॥

कहीं कहीं पर शब्दों के परिवर्तन से परीक्षामुख के भाव को भी धक्का पहुँचा है।

को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत् ? ॥ ११—१ ॥ परीक्षामुख० ।

कः खलु ज्ञानस्यालम्बनं बाह्यं प्रतिभातमभिमन्यमानस्तदपि तत्प्रकारं नाभिमन्येत ? ॥ १७—१ ॥ प्र० न० तत्वा० ॥

परीक्षामुख के सूत्र में जो कोमलतासहित उपहास प्रदर्शित किया गया है वह इस सूत्र में कठोरता के लिये हुए नज़र आता है। वास्तव में तो इसे उपहास कहना ही व्यर्थ है यहाँ पर तो कठोरता को लिये हुए अपने वचन का समर्थन ही प्रतीत होता है।

इसमें पूर्वापर-संबन्धग्राहकता का अभाव भी कम नहीं है। जैसे—

पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानम् ॥ २३—३ ॥

साध्यस्य प्रतिनियतधर्मिसम्बन्धताप्रसिद्धये हेतोरुपसंहारवचनवत् पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्रयितव्यः ॥ २४—३ ॥

त्रिविधं साधनमभिधायैव तत्समर्थनं विदधानः कः खलु न पक्षप्रयोगमङ्गीकुरुते ॥ २५—३ ॥

प्रत्यक्षपरिच्छिन्नार्थाभिधायि वचनं परार्थं प्रत्यक्षं परप्रत्यक्षहेतुत्वात् ॥ २६—३ ॥

यथा पश्य पुरः स्फुरत्किरणमणिखण्डमण्डिताभरणभारिणीं जिनपतिप्रतिमाम् ॥ २७—३ ॥

पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तेरङ्गं न दृष्टान्तादिवचनम् ॥ २८—३ ॥

हेतुप्रयोगस्तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विप्रकारः ॥ २९—३ ॥

सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिः, असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिः ॥ ३०—३ ॥

यथा कृशानुमानयं पाकप्रदेशः सत्येव कृशानुमत्वे धूमवत्वस्योपपत्तेः, असत्यनुपपत्तेर्वा ॥ ३१—३ ॥

अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीयप्रयोगस्यैकत्रानुपयोगः ॥३२—३॥

न दृष्टान्तादि वचनं परप्रतिपत्तये प्रभवति, तस्यां पक्षहेतुवचनयोरेव व्यापारोपलब्धेः ॥ ३३—३ ॥ प्र० न० तत्वा० ॥

यहां पर सूत्र नं० २३ में परार्थानुमान का लक्षण कहा गया है। उस में बतलाया है कि पक्ष और हेतु के प्रयोग के परार्थानुमान कहते हैं। सूत्र नं० २४, २५ में परार्थानुमान में पक्ष प्रयोग की आवश्यकता बतलायी है। इसके आगे क्रम-प्राप्त तो हेतुप्रयोग का विवरण था लेकिन ग्रन्थकार ने उसको छोड़ कर सूत्र नं० २६, २७ में परार्थ प्रत्यक्ष का स्वरूप दृष्टान्त बतलाया है। इस क्रम का समर्थन इसकी टीका स्याद्वादरत्नाकरावतारिका के कर्त्ता ने प्रासङ्गिक मान कर किया है। यह ठीक है कि प्रसङ्ग पाकर किसी वस्तु का विवेचन किया जा सकता है लेकिन जहाँ पर प्रसङ्ग हो वहीं पर वह विवेचन उपयुक्त होता है। इसलिये ग्रन्थकार को यदि परार्थ प्रत्यक्ष का कथन करना अभीष्ट ही था तो परार्थानुमान के लक्षण के बाद ही सूत्र नं० २४, २५ में उसका विवेचन कर सकते थे

कारण वहीं पर उसका प्रसङ्ग है पश्चात् सूत्र नं० २६, २७ में पक्ष-वचन का समर्थन करने से आगे के कथन से उसका संबन्ध संगत हो जाता। ग्रन्थकार का ऐसे क्रम की उपेक्षा करके सूत्रनिर्माण में परीक्षामुख से भेद दिखलाने के अतिरिक्त क्या आशय था सो समझ में नहीं आता। इसके आगे भी क्रमभंग किया है। नं० २८ का सूत्र वास्तव में अपने स्थान पर अनुपयुक्त है, कारण कि उसका संबन्ध सूत्र नं० ३३ के साथ अधिक है इसलिये सूत्र नं० २९, ३०, ३१, ३२ को क्रम से २८, २९, ३०, ३१ नं० पर लिखकर नं० ३२ पर ही उसे लिखा जाना चाहिये, ऐसा करने से सूत्रों का क्रम इस प्रकार हो जाता है—

पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात् ॥ २३—३ ॥

प्रत्यक्षपरिच्छिन्नार्थाभिधायि वचनं परार्थं प्रत्यक्षं परप्रत्यक्षहेतुत्वात् ॥२४॥

यथा पश्य पुरः स्फुरत्किरणमणिखण्डमण्डिताभरणभारिणीं जिनपतिप्रतिमाम्॥ २५-३॥

साध्यस्य प्रतिनियतधर्मिसम्बन्धताप्रसिद्धये हेतोरुपसंहारवचनवत् पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्रयितव्यः ॥ २६—३ ॥

त्रिविधं साधनमभिधायैव तत्समर्थनं विदधानः कः खलु न पक्षप्रयोगमङ्गीकुरुते ॥ २७—३ ॥

हेतुप्रयोगस्तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विप्रकारः ॥ २८—३ ॥

सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिः, असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिः ॥ २९—३ ॥

यथा कृशानुमानयं पाकप्रदेशः सत्येव कृशानुमत्त्वे धूमवत्त्वस्योपपत्तेः, असत्यनुपपत्तेर्वा ॥ ३० —३ ॥

अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीयप्रयोगस्यैकत्रानुपयोगः ॥ ३१—३ ॥

पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तेरङ्गं न दृष्टान्तादिवचनम् ॥ ३२—३ ॥

न दृष्टान्तवचनं परप्रतिपत्तये प्रभवति तस्यां पक्षहेतुवचनयोरेव व्यापारोपलब्धेः ॥ ३३—३ ॥

पाठक देखेंगे कि यह क्रम कितना संबद्ध बन जाता है! आगे इस लेख में आवश्यकतानुसार इन सूत्रों के नं० इसी क्रम से दिये जायँगे।

इन सूत्रों में पदों को असंगतता व निरर्थकता भी पायी जाती है। सूत्र नं० २४ में "परार्थ" पद नहीं देकर यदि "प्रत्यक्ष" पद के आगे "अपि" शब्द का प्रयोग करके "परार्थ" पद का अर्थ निकाला जाता तो अधिक संगत होता। सूत्र नं० २९ में "असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिः" इस के स्थान में सूत्रत्व की दृष्टि से "असति त्वनुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिः" ऐसा पाठ ही संगत जान पड़ता है। "साध्ये हेतोः" इतने अंश का इसी

सूत्र के पूर्व अंश में से अनुसंधान हो सकता है। इसी के दृष्टान्त सूत्र नं० ३० में स्वयं ग्रन्थकारने भी "कृशानुमत्वे धूमवत्वस्य" इस अंश का "असत्यनुपपत्तेर्वा" इसमें अनुसंधान किया है। इसी तरह सूत्र नं० २८ में "द्विप्रकारः" यह पद न भी दिया जाय तो भी सूत्र का अर्थ असंगत नहीं होता है, इसलिये "द्वि प्रकारः" यह पद वहां पर निरर्थक ही है। सूत्र नं० ३२ में "पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेव" की जगह "एतल्लक्षणमवयवद्वयमेव" यह अंश उपयुक्त कहा जा सकता है, कारण कि परार्थानुमान में पक्ष-प्रयोग और हेतु-प्रयोग के समर्थन का ही यहां पर प्रकरण है इसलिये सूत्र नं० २३ में परार्थानुमान के लक्षण में कहे हुए "पक्षहेतुवचनात्मकं" इस पद का "एतत्" इस सर्वनाम पद से अनुसंधान हो सकता है। यदि कहा जाय कि "एतत्" पद से समीप में कहे हुए तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति दोनों हेतुओं का भी अनुसंधान हो सकता हैं इसलिये संदेह को दूर करने के लिये सूत्र में "एतत्" पद का पाठ नहीं करके "पक्षहेतुवचन" इसका पाठ किया है। तो इसका उत्तर यह है कि पक्ष को परार्थानुमान का अंग मानना चाहिये। इसका समर्थन स्वयं ग्रन्थकार ने ही पहिले कर दिया है। इसके साथ यदि हेतु के दोनों भेदों को शामिल करते हैं तो परार्थानुमान के दो अंग नहीं होंगे, तीन हो जायँगे। इससे ग्रन्थकार का दो अवयव स्वीकार करना असंगत ठहरेगा। दूसरी बात यह है कि एक अनुमान में तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति दोनों हेतुओं में से एक ही रहता है ऐसा ग्रन्थकार भी प्रतिपादन कर रहे हैं इसलिये फिर भी अनुमान के दो अंग नहीं सिद्ध होंगे। तीसरी बात यह है कि यहां पर पक्षप्रयोग और हेतुप्रयोग के वर्णन की प्रधानता है, न कि हेतु के भेदों की, इसलिये "प्रत्यासत्तेः प्रधानं बलीयः" (समीप की अपेक्षा प्रधान का ही अनुसंधायक पद से ग्रहण होता है) इस न्याय से पक्ष और हेतु-वचन का ही "एतत्" पद से अनुसंधान होगा, हेतु के भेद तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति का नहीं होगा। चौथी बात यह है कि ग्रन्थकार ने जो क्रम सूत्रों का रक्खा है उसमें हेतु के भेदों का कथन इस सूत्र के बाद ही किया है इसलिये उस क्रम में तो "एतत्" पद से तथोपपत्ति अन्यथानुपपत्ति हेतुओं का अनुसंधान होना असंभव ही है इसलिये इस सूत्र में "पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेव" इसके स्थान में "एतल्लक्षणमवयवद्वयमेव" पाठ रखना उचित है। "एतल्लक्षणमवयवद्वयमेव" इसके भी स्थान में यदि "एतद्द्वयमेव" ऐसा पाठ कर दिया जाय तो सूत्र में और भी अधिक लघुता हो जाती है तथा अर्थप्रतीति में भी कोई बाधा नहीं पहुंचती है। लेकिन यह पद तो परीक्षामुख का है इसलिये ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ में कैसे रख सकते थे; उन्होंने तो इसी के भय से "एतत्" पद तक सूत्र में नहीं आने दिया। उन को अपने सूत्रों में परीक्षामुख से भेद लाने का अधिक ध्यान था सूत्रपने का ध्यान कम था, अस्तु! सूत्र नं०

३३ के आगे सूत्रों का क्रम ग्रन्थकर्ताने इस प्रकार लिखा है।

न च हेतोरन्यथानुपपत्तिनिर्णीतये, यथोक्ततर्कप्रमाणादेव तदुपपत्तेः ॥ ३४—३ ॥

नियतैकस्वभावे च दृष्टान्ते साकल्येन व्याप्तेरयोगतो विप्रतिपत्तौ तदन्तरापेक्षायामनवस्थितेर्दुर्निवारः समवतारः ॥ ३५-३ ॥

नाप्यविनाभावस्मृतये, प्रतिपन्नप्रतिबन्धस्य व्युत्पन्नमतेः पक्षहेतुप्रदर्शनेनैव तत्प्रसिद्धेः ॥ ३६—३ ॥

अन्तर्व्याप्त्या हेतोः साध्यप्रत्यायने शक्तावशक्तौ च बहिर्व्याप्तेरुद्भावनं व्यर्थम् ॥३७-३॥

पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिरन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिः ॥३८—३॥

यथानेकान्तात्मकं वस्तु सत्वस्य तथैवोपपत्तेरिति, अग्निमानयं देशो धूमवत्वात्, य एवं स एवं यथा पाकस्थानमिति च ॥ ३६ ॥

नोपनयनिगमनयोरपि परप्रतिपत्तौ सामर्थ्यं पक्षहेतुप्रयोगादेव तस्याः सद्भावात् ॥४०-३ ॥ प्र० न० तत्वा० ।

ग्रन्थकार के द्वारा न० २८ पर कहे हुए सूत्र को पहिले कहे अनुसार न० ३२ पर पढ़ने से सूत्र न० ३३ में भी "न दृष्टान्तवचनं" इसके स्थान में "तद्धि" ऐसा ही पाठ करना चाहिये जिससे सूत्र का स्वरूप इस प्रकार हो जाता है—

तद्धि न परप्रतिपत्तये प्रभवति, तस्यां पक्षहेतुवचनयोरेव व्यापारोपलब्धेः ॥ ३३-३ ॥

इसके आगे सूत्र न० ३४ को इस प्रकार पढ़ना चाहिये—

न च दृष्टान्तवचनं हेतोरन्यथानुपपत्तिनिर्णीतये, यथोक्ततर्कप्रमाणादेव तदुपपत्तेः ॥३४-३॥

इस सूत्र में "दृष्टान्तवचनं" यह पद इसलिये पढ़ना चाहिये कि सूत्र नं० ३३ में "तद्धि" पद से सूत्र नं० ३२ में कहे हुए "न दृष्टान्तादि वचनम्" इस पद का ग्रहण होता है, इसलिये सूत्र नं० ३४ में यदि उसका अनुसंधान किया जायगा, तो दृष्टान्त के साथ उस सूत्र में आदि शब्द से ग्रहण किये गये उपनय और निगमन का भी इस में ग्रहण करना पड़ेगा, जो कि अनिष्ट है इसलिये सूत्र नं० ३४ में "दृष्टान्तवचनं" इस पद का पाठ करना आवश्यक है। फिर भी इस से सूत्रों में गौरव नहीं होता, कारण कि जो "दृष्टान्त वचनम्" यह पद सूत्र नं० ३३ में था उसीको वहां पर नहीं पढ़ कर के सूत्र नं० ३४ में पढ़ दिया गया है। आगे के सूत्रों का क्रम व स्वरूप जैसा है वैसा ही रहना चाहिये, केवल इस प्रकार के परिर्तन से सूत्र नं० ४० की बिल्कुल आवश्यकता नहीं रह जाती है कारण की सूत्र नं० ३३ में कहे हुए "तद्धि" पद से सूत्र नं० ३२ के "न दृष्टान्तादि वचनम्" इस अंश का ग्रहण कर लिया गया है, जिस से उस में कहे हुए आदि शब्द से उपनय और निगमन का बोध हो जाता है, जैसा कि स्वयं

ग्रन्थकार ने सूत्र नं॰ ३२ में "न दृष्टान्तादि वचनम्" इस में कहे हुए आदि शब्द से उपनय और निगमन का ग्रहण किया है, इसलिये जब सूत्र नं॰ ३३ से ही उपनय और निगमन की परप्रतिपत्ति में कारणता का निषेध हो जाता है। तो सूत्र नं॰ ४० की निष्प्रयोजनता स्पष्ट ही है। वास्तव में जब सूत्रों में ऐसे लाघव का ध्यान रक्खा जाता है तभी वे सूत्रों की कक्षा को प्राप्त कर सकते हैं नहीं तो वे वाक्य ही कहे जा सकते हैं।

यदि कहा जाय, कि आगे इस ग्रन्थ में उपनय और निगमन का लक्षण किया गया है इसलिये उसके पहले इनका उद्देश करना आवश्यक होने से उपनय और निगमन का उद्देश करने के लिये सूत्र नं॰ ४० आवश्यक हो जाता है। तो इसका उत्तर इस प्रकार है कि फिर तो "न दृष्टान्तादि वचनम्" इसके स्थान में "न दृष्टान्तोपनयनिगमनवचनम्" ऐसा पाठ करना ही योग्य था अन्यथा कहा जा सकता है कि जब सूत्र नं॰ ३२ के पहिले किसी भी सूत्र में उपनय, निगमन का कथन नहीं है तो सूत्र नं॰ ३२ में आदि शब्द से उनका ग्रहण ग्रन्थकर्त्ता ने कैसे कर लिया है। यदि कहा जाय कि अन्य दर्शनकारों ने इनका प्रयोग किया है इसलिये प्रसिद्धि के कारण आदि शब्द से ही उनका बोध हो जाता है तो फिर प्रसिद्ध होने के कारण उनके लक्षण करने के लिये भी उद्देश की आवश्यकता नहीं रह जाती है। वास्तव में तो ग्रन्थकार को अपने ग्रन्थ में उनका उद्देशात्मक कथन करना चाहिये और वह "न दृष्टान्तादि वचनम्" के स्थान में "नदृष्टान्तोपनयनिगमनवचनम्" ऐसा पाठ करने से ही उपयुक्त होता है, इसके लिये सूत्र नं॰ ४० की आवश्यकता नहीं है। इस स्थान पर परीक्षामुख का सूत्रक्रम अत्यन्त गंभीर भाव को हृदयस्थ करके लिखा गया है। पाठकों की जानकारी के लिये उसका यहां पर निर्देश कर देना आवश्यक समझता हूँ।

एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् ॥ ३७-३ ॥

नहि तत्साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं तत्र यथोक्तहेतोरेव व्यापारात् ॥ ३८-३ ॥

तदविनाभावनिश्चयार्थं वा, विपक्षे बाधकादेव तत्सिद्धेः ॥ ३९-३ ॥

व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिस्तत्रापि तद्विप्रतिपत्तावनवस्थानं स्याद् दृष्टान्तान्तरापेक्षणात् ॥ ४०-३ ॥

नापि व्याप्तिस्मरणार्थं तथाविधहेतुप्रयोगादेव तत्स्मृतेः ॥ ४१-३ ॥

तत्परमभिधीयमानम् साध्यधर्मिणि साध्यसाधने संदेहयति ॥ ४२-३ ॥

कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ॥ ४३-३ ॥

न च ते तदङ्गे, साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवासंशयात् ॥ ४४-३ ॥ परीक्षामुख ॥

(क्रमशः)

नीतिवाक्यामृत और कन्नड-कवि नेमिनाथ

(ले० पण्डित के० भुजबली जी शास्त्री)

—————:*:—————

गत वर्ष जब घर गया था तब कारकल के जैनछात्रावास में संचित कुछ ताडपत्रांकित ग्रन्थों के दर्शन का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। उन ग्रन्थों में से एक सोमदेव सूरिकृत नीतिवाक्यामृत की कन्नड टीका भी थी। इस टीका के रचयिता नेमिनाथ हैं। इन्हों ने ग्रन्थ के आदि और अन्त में मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव एवं वीरनन्दी सिद्धान्त-चक्रवर्ती को बड़ी श्रद्धा से स्मरण किया है। इनके समाप्तिसूचक अन्तिम वाक्य इस प्रकार हैं :—
"स्वस्ति समस्तानवद्यविद्याविलासिनी विलासमूर्त्ति सकलसैद्धान्तचक्रवर्त्तीसम प्रसन्न कविराज विद्वज्जनमनस्सरसि-मराल श्रीमन्मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव दिव्यप्रसादासाधितात्म-प्रभाव श्रीमद्वीरनन्दि सैद्धान्तदेव प्रसाद प्राप्त प्रसन्नकवितारामासमासादित विविध प्रेम निज कुलकुवलयानन्दसोम पूर्वदलि सन्धिविग्रपदविन्यासद श्रीमन्नेमिनाथ रचित नीति-वाक्यामृतवृत्ति सकलार्थदीपवर्त्ति सर्वशास्त्रमूर्त्ति चन्द्रार्कतारं वरं निलके मङ्गलम्"।

अब सर्वप्रथम त्रैविद्यदेव मेघचन्द्र एवं सिद्धान्तचक्रवर्त्ती वीरनन्दी के सम्बन्ध में कुछ विचार करना है। वीरनन्दी के गुरु यह मेघचन्द्र वही हैं जिनकी प्रशंसा आचारसार की प्रशस्ति एवं श्रवणबेल्गोल के कई शिलालेखों में दृष्टिगोचर होती है। यह मूलसंघ पुस्तकगच्छ एवं देशीयगण के आचार्य थे। इनकी गणना बहुत बड़े विद्वानों में है।

तर्कन्यायसुवज्रवेदिरमलार्हत्सूक्तिसन्मौक्तिकः
शब्दग्रन्थविशुद्धशंखकलितः स्याद्वादसद्विद्रुमः।
व्याख्यानोर्जितपोषणप्रविपुलप्रक्षोभवीचीचयो—
जीयाद्विश्रुतमेघचन्द्रमुनिपस्त्रैविद्यरत्नाकरः॥

श्रीमूलसंघकृतपुस्तकगच्छदेशी—
योद्यद्गणाधिपसुतार्किकचक्रवर्ती।
सैद्धांतिकेश्वरशिखामणिमेघचन्द्र—
स्त्रैविद्यदेव इति सद्विबुधाः स्तुवन्ति॥

सिद्धान्ते जिनवीरसेनसदृशः शास्त्राब्जनीभास्करः
षट्तर्केष्वकलङ्कदेवविबुधः साक्षादयं भूतले।
सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिपः श्रीपूज्यपादः स्वयम्
त्रैविद्योत्तममेघचन्द्रमुनिपो वादीभपंचाननः॥

श्रवणबेल्गोल के ४७ नं० के शिलालेखगत उल्लिखित श्लोकों से ज्ञात होता है कि 'मेघचन्द्र' जी न्याय, व्याकरण, सिद्धान्त आदि अनेक विषयों के प्रखर विद्वान् थे। इसके अतिरिक्त यहां के नं० ४१, ५०, ५३, ५५ और ५६ के शिलालेखों में भी इनका विशद वर्णन मिलता है। वीरनन्दी के सिवा इन मेघचन्द्र के प्रभाचंद्र शुभकीर्त्ति आदि कई शिष्य थे, जिनका उल्लेख श्रवणबेल्गोल के अन्यान्य शिलालेखों में पाया जाता है। "कर्नाटक कवि-चरिते" १ म भाग पृष्ठ १३२ से विदित होता है कि इन मेघचन्द्र ने ११४८ ई० में आचार्य पूज्यपाद के समाधिशतक की एक टीका* लिखी थी।

'कविचरिते' के लेखक का अनुमान है कि यह मेघचन्द्र ११७७ ई० में परलोकगत नयकीर्त्ति जी के शिष्य थे। "विनययशोनिधि पम्पन सुतंगे तिळिवन्तु पेळ्व पोसगन्नडदिं" समाधिशतक-टीका के इस उल्लिखित पद्यभाग से मालूम होता है कि मेघचन्द्र ने महाकवि पंपके सुपुत्र के लिये ही इस टीका का प्रणयन किया है। अगर यह 'पम्प' अभिनव पम्प (नागचन्द्र) ही हों तो इनके देहावसान के उपरान्त इन्हीं के लड़के के लिये मेघचन्द्र ने उक्त समाधिशतक की टीका लिखी होगी। यह अभिनव पम्प यशःप्राप्त कन्नड कवियों में से एक है। इनके स्मारकरूप में हाल ही में कर्नाटकसंघ कर्नाटक कौलेज धारवाड की ओरसे एक सुन्दर पुस्तक प्रकाशित हुई है। यह सुप्रसिद्ध पांच-कन्नड-साहित्य-महारथियों के—'पम्प' का काल-निर्णय, पम्प की रचनाशैली आदि भिन्न भिन्न विषयों पर विस्तृत और गवेषणापूर्ण पाँच लेखों से समलंकृत है। इसके भूमिका लेखक प्रख्यात कवि एवं लेखक श्रीमान् B. M. श्रीकण्ठय्य M. A. B. L. बेंगलूर हैं।

अस्तु अब मेघचन्द्र के शिष्य सिद्धान्तचक्रवर्त्ती वीरनन्दी जी की ओर आप दृष्टिपात करें। श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों के अतिरिक्त 'आचारसार' के अन्त में जो प्रशस्ति दी गयी है इस वीरनन्दी और इनके गुरु मेघचन्द्र जी का बहुत कुछ वर्णन मिलता है।

"सिद्धान्तार्णवपूर्णतारकपतिस्तर्काम्बुजाहर्पतिः
शब्दोद्यानवनामृतोरुसरणिर्योगीन्द्रचूडामणिः।
त्रैविद्यापरसार्थनामविभवः प्रोद्धूतचेतोभवः
स्थेयाद्दन्यमृतावनीभृदशनिः श्रीमेघचन्द्रो मुनिः ॥३०॥
यद्वाक्छ्रीरवतंसमण्डनमणिर्वैदग्ध्यदिग्धत्विषाम्
यच्चारित्रविचित्रता शमभृतां सूत्रं पवित्रात्मनाम्।
यत्कीर्त्तिर्धवलप्रसादनधुरं धत्ते धरायोषितः
स त्रैविद्यविभूषणं विजयते श्रीमेघचन्द्रो मुनिः ॥३१॥

---

* Indian antiquary vol. XIV Page 14.

वैदग्ध्यश्रीवधूटीपतिरतुलगुणालङ्कृतिर्मेघचन्द्र-
त्रैविद्यस्यात्मजातो मदनमहिभृतो भेदने वज्रपातः
सैद्धान्तिव्यूहचूडामणिरनुफलचिन्तामणिर्भूजनानाम्
योऽभूत्सौजन्यचन्द्रश्रियमवति महौ वीरनन्दी मुनीन्द्रः ॥३२॥

श्रीमेघचन्द्रोज्ज्वलमूर्त्तिकीर्त्तिः
समस्तसैद्धान्तिकचक्रवर्त्ती
श्रीवीरनन्दी कृतवानुदार—
मात्रारसारं यतिवृत्तसारम् ॥३३॥

अब देखना है कि 'वीरनन्दी' कब हुए। श्रवण बेल्गोल के नं० ४७-५० और ५२ के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि वीरनन्दी के गुरु आचार्य मेघचन्द्र का स्वर्गवास शक सम्वत् १०३७ वि० सं० ११७२ में और इनके एक शिष्य शुभचन्द्र देव का स्वर्गवास शक सं० १०६८ वि० सं० १२०३ में हुआ था। इन्हीं आचार्य मेघचन्द्रजी के शिष्य प्रभाचन्द्र ने शक सं० १०४१ वि० सं० ११७६ में एक महा पूजा करायी थी।

इन आधारों का ही आश्रय लेकर पं० नाथूराम प्रेमी जी ने माणिकचन्द्र-ग्रन्थमाला में प्रकाशित "आचारसार" के निवेदन में श्रीवीरनन्दीजी का समय १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध निर्धारित किया है। आप का वीरनंदी जी का यह कालनिश्चय अनुमानपरक है। किन्तु इनके समय-निर्णय के लिये हमारे सामने एक और सुदृढ प्रमाण मौजूद है। वह यह है कि इस वीरनंदी ने शक सं० १०७६ वि० सं० १२११ में स्वरचित आचारसार की एक कन्नड टीका * लिखी है। इससे तो आचार वीरनंदी का काल १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध न होकर १३ वीं शताब्दी का प्रारंभिक काल निर्विवाद सिद्ध होता है। ज्ञात होता है कि "कर्नाटककविचरिते" के इस भाग के प्रकाशित नहीं होने के कारण ही उल्लिखित सबल प्रमाण को प्रस्तुत करने से प्रेमी जी को वञ्चित रहना पड़ा।

इस लेख के प्रकृत लक्ष्यभूत नेमिनाथ जी के समय के विषय में भी कुछ विचार करना परमावश्यक है। "सिद्धान्तचक्रवर्त्याख्येद्धवीरनन्दियतिनाथाज्ञा" आदि टीका के प्रारंभ के इस द्वितीय पद्य से ज्ञात होता है कि इन्होंने सिद्धांतचक्रवर्त्ती वीरनन्दी की आज्ञा से ही नीतिवाक्यामृत की यह कन्नड टीका लिखी है। इससे यह सहसा सिद्ध होता है कि नेमिनाथ जी वीरनन्दी जी के सम-सामयिक थे। अतः नेमिनाथ का भी समय १३ वीं शताब्दी का प्रारंभ निश्चित रहा। इन्होंने टीका के अन्त में अपने को 'सन्धि विग्रही' बतलाया है। परन्तु पता नहीं लगता है कि यह कहां और किस राजा के आश्रय में रह

१—कर्नाटककविचरिते २ य भाग पृष्ठ १८

कर सन्धि-विग्रह का कार्य सम्पन्न करते थे। नेमिनाथ जी ने अपने को 'बुधविनुत' भी लिखा है। सम्भव है कि बहुतेरे पण्डित इनका समादर करते हों। इसमें सन्देह नहीं है कि संस्कृत-पाण्डित्य के साथ साथ यह एक राजनीतिज्ञ भी थे।

अब कन्नड-व्याख्या पर भी एक नज़र दौड़ाना कोई अप्रासंगिक नहीं होगा। नीतिवाक्यामृत इस मूल ग्रन्थ के रचयिता पूज्यपाद श्रीसोमदेव सूरि हैं। यह ग्रन्थ संस्कृत साहित्य का एक अमूल्य रत्न है। राजनीति ही इस ग्रन्थ का प्रधान विषय है। इसमें राजा और राज्यशासन से सम्बन्ध रखने वाली प्रायः सभी बातों पर विचार किया गया है। यह सम्पूर्ण ग्रंथ पद्यमय है। इसकी प्रतिपादन-शैली सुलभ, सुन्दर, संक्षिप्त एवं गंभीर है। वस्तुतः यह ग्रंथ अपने नामानुकूल अगाध नीतिसमुद्र के मन्थन से संगृहीत सारभूत अमृत ही है। इसमें सन्नीति का अवलम्बन करने का ही आदेश है। आचार्य सोमदेव के गुरु का नाम नेमिदेव और प्रगुरु का नाम यशोदेव था। हमारे सोमदेव जी बड़े भारी तार्किक कवि, धर्माचार्य एवं राजनीतिज्ञ थे। इन्होंने कई ग्रन्थों का प्रणयन किया है। इनका विचार बहुत ही उदार था। आप तृतीय राष्ट्रकूट राजा कृष्ण के सामन्त चालुक्यवंश के द्वितीय अरिकेशरी के सभापण्डित थे। इनका समय ईस्वी सन् ६५६ है। इस सुन्दर नीतिग्रन्थ की एक संस्कृत टीका भी उपलब्ध है। वह टीका मूल ग्रन्थ के साथ ही साथ वि० सं० १६७६ में माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन-ग्रन्थमाला बंबई में छप चुकी है। उसमें टीकाकार का नाम नहीं मिलता है, पर टीकाकार के मंगलाचरण से ज्ञात होता है कि वह वैष्णव थे। इन्होंने अपनी टीका में प्रमाणरूप में पचासों ग्रन्थकारों के श्लोकों को उद्धृत किया है। टीकाकार ने मूल ग्रन्थ का आशय विशद करने के लिये भरसक प्रयत्न किया, बल्कि वह इस कार्य में फलीभूत भी हुए हैं। इसमें शक नहीं कि टीकाकार एक बहुश्रुत सुयोग्य विद्वान् थे।

अस्तु यह कन्नड टीका सम्पूर्ण है। इससे संस्कृत टीका का मिलान करने के लिये इस समय मेरे सामने वह कन्नडटीका समग्र मौजूद नहीं है। इसके जो अंश मेरे पास प्रस्तुत हैं इनसे संस्कृत टीका का मिलान करने पर मालूम होता है कि संस्कृत टीका का आश्रय लेकर ही यह टीका रची गयी है। किन्तु भेद यही है कि इन्होंने अपनी इस टीका में संस्कृत टीका में समुद्धृत अन्यान्य शास्त्रीय प्रमाणों का उद्धरण नहीं किया है। समुपस्थित कन्नड टीका के कुछ अंशों से यह भी पता चलता है कि नेमिनाथ जी ने भावार्थ की ओर ध्यान नहीं देकर शब्दार्थ ही की ओर अधिक ध्यान दिया है। हो सकता है कि यत्र तत्र इन्होंने विस्तृत व्याख्या की हो। इसका निश्चय सूक्ष्म दृष्टि से सम्पूर्ण ग्रन्थ के परिशीलन से ही हो सकता है।

अंत में मैं एक बात का और उल्लेख कर के इस लेख को समाप्त करता हूँ। कन्नड टीकाकार नेमिनाथ जी ने अपनी टीका के सर्वान्त में 'माघनन्दी' भट्टारक को प्रशंसारूप में याद किया है। पता नहीं लगता है कि माघनन्दी भट्टारक से इनका कैसा सम्बन्ध था। 'माघनन्दी' नाम के कई आचार्य हो गये हैं, अतः निर्भ्रान्त रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि यह माघनन्दी कौन से हैं। माघनन्दिविषयक बातको खुलासा करने के लिये "जैन शिलालेखसंग्रह" में संगृहीत श्रवणबेल्गोल के अन्यान्य शिलालेखों में अङ्कित माघनन्दी नाम के आचार्य, मुनि एवं कवियों का एक कोष्टक तयार कर नीचे दिये देता हूँ —:

क्रम नं०	शि० ले० नं०	नाम	गुरु नाम	शक सं०	वि० सं०
१	१०५	माघनन्दी	×	१३२०	१४५५
२	१२९	,,	कुमुदचन्द्र	१२०५	१३४०
३	४०	,,	कुलचन्द्र	१०८५	१२२०
४	४०	,,	कुलभूषण	१०८५	१२२०
५	५५	,,	चतुर्मुख	१०२२ लगभग	११५७
६	४१	,,	चारुकीर्ति	१२३५	१३७०
७	४२, १२४, १२८, १३०	माघनन्दी (श० सं० अ० ११०३,) (वि० सं० १२३८)	नयकीर्त्ति	१०९९	१२३४
८	४२	माघनन्दी	श्रीधरदेव	१०९९	१२३४
९	४९९	,, (भट्टारक) (श० सं० ११७० वि० सं० १३०५)	भानुकीर्ति	११७०	१३०५
१०	४९९	माघनन्दी व्रती	×	११७०	१३०५
११	१२९	माघनन्दी सि० च० (श० सं० १२०५ वि० सं० १३४०)	×	१२०५	१३४०
१२	४७१	माघनन्दी सिद्धान्तदेव	×	×	×
१३*	भूमिका	माघनन्दी	गुप्तिगुप्त	×	×

मेरा अनुमान है कि नं० ४९९ के शिलालेखाङ्कित भानुकीर्तिजी के शिष्य माघनन्दी भट्टारक को ही नेमिनाथ ने स्मरण किया है। कारण यह कि नेमिनाथ ने भट्टारकोपाधि-विशिष्ट ही माघनन्दी का स्मरण किया है और साथ ही साथ इस भट्टारक माघनन्दी के समकालीन भी नेमिनाथ हो आते हैं। उल्लिखित कोष्टक से यह भी पता चल जाता है कि

*नन्दी-सन्घ की पट्टावली के आधार पर

अन्यान्य माघनन्दियों में दूसरा कोई माघनन्दी भट्टारक-पदधारी है भी नहीं। अतः मेरा यह अनुमान एक प्रकार से निर्विवाद सा ज्ञात होता है।

श्रवणबेल्गोल के उल्लिखित ४६६ नं० के शिलालेख में मेरे इन भट्टारक माघनन्दी की गुरुपरम्परा यों दी गयी है :—

मूलसंघ देशीयगण पुस्तकगच्छ कुंदकुंदान्वय में माघनन्दी सिद्धांत-चक्रवर्त्ती हुए। इन के शिष्य भानुकीर्त्ति जी हुए। इन्हीं के शिष्य हमारे भट्टारक माघनन्दी जी हैं। इस भट्टारक माघनन्दी की प्रशंसा शिलालेख में—"अखिलकलामय, उदारचरित, अतिविशद-यशोधाम, मुनिपुङ्गव, वरविद्यामहित, व्रतीश्वर" आदि अनेक विशेषणोल्लेख-द्वारा की गयी है। इनके प्रगुरु-सिद्धांत-चक्रवर्त्ती माघनन्दी 'होय्सलराय' के राजगुरु थे। जैनशिलालेख के सुविज्ञ सम्पादक बाबू हीरालालजी एम० ए० का कहना है कि "संभवतः ये ही उस 'शास्त्रसार' के कर्त्ता हैं जिन का उल्लेख प्रारंभ के एक श्लोक में आया है"



धार्म्मिक-उदारता

(ले० बाबू पूरणचंद जी नाहर एम० ए० बी० एल०)

संसार में धर्म ही एक ऐसी वस्तु है कि जिसकी सृष्टि सब धर्म्मवाले अलौकिक बताते हैं। कोई इसको अनादि कहते हैं, कोई स्वयं ईश्वर का वचन अथवा कोई ईश्वर-तुल्य अवतार के कहे हुए उपदेश और नियमादि के पालन को ही धर्म्म कहते हैं। चतुर्द्दश रज्ज्वात्मक जीवलोक में जितने भी जीव हैं सुखप्राप्ति के लिये सब लालायित रहते हैं। जीव की मुक्ति अर्थात् निर्व्वाण के अतिरिक्त जितने प्रकार के सुख हैं सब सामयिक तथा निर्दिष्टकाल और परिमाण के होते हैं। 'धर्म्म' शब्द के अर्थ को देखिये तो यही ज्ञात होगा कि यह ऐसी वस्तु है कि जो जीव को दुःख में पड़ते हुए से बचावे। जो अपने को कष्ट से बचावे और सुख की प्राप्ति करावे ऐसी वस्तु को कौन नहीं चाहता? सारांश यह है कि किसी न किसी प्रकार का 'धर्म्म' मनुष्यमात्र को चाहिये। चाहे उनका धर्म्म सनातन हो, चाहे जैन, चाहे बौद्ध, चाहे ईसाई हो, चाहे वे मुसलमान हों, चाहे नास्तिक हों, उनको किसी न किसी धर्म्म की अथवा किसी महापुरुष के चलाये हुए मत की दुहाई देनी पड़ती है। जिस प्रकार समाज में चाहे वह गरीब हो चाहे सेठ साहूकार अथवा राजा महाराजा हो सामाजिक दृष्टि से सबों का दर्जा एक है, उनमें कोई बड़ा छोटा नहीं समझा जाता उसी प्रकार धार्म्मिक दृष्टि से भी—एक ही धर्म्म के पालनेवाले सबलोगों की गणना एक ही श्रेणी में होती है। परन्तु अपने अपने धर्म्मवाले उनको धार्म्मिक दृष्टि-कोण से दूसरे धर्म्मानुयायियों को घृणा के भाव से देखते हैं। इतिहास कहता है कि धर्म्म के नाम पर मुसलमान लोगों ने कई बार संग्राम छेड़ दिया था। मैं कुरान शरीफ से परिचित नहीं हूं परन्तु सम्भव है उनके धर्म्म-प्रवर्तक महम्मद साहब का ऐसा उपदेश न होगा। दूसरों के धर्म्मका नाश करके अपने धर्म्म का प्रचार करना दूसरी बात है, परन्तु मनुष्य होकर इस प्रकार दूसरे मनुष्य को कष्ट पहुँचाना धर्म्म नहीं हो सकता। अपने धर्म्मानुयायियों की संख्या-वृद्धि करने को धर्म्म समझना स्वाभाविक है, परन्तु वे लोग इस विचार को कार्यरूप में लाने के समय सीमा के बाहर जाते थे। जैन धर्म्म के तत्व में अन्य धर्म्म का अथवा अन्य धर्म्मावलम्बियों को 'न निंदिज्जई न वँदिज्जई' यहाँ तक कि निन्दा करना मना है। धार्म्मिक विषयों में ऐसी उदारता अवश्य होनी चाहिये। हमारे तीर्थंकर जातिनिर्व्विशेष से उपदेश दिया करते थे। जैनियों के धर्म्मग्रन्थ से स्पष्ट है कि

तीर्थंकरों के 'समवसरण' में अर्थात् जिस स्थान से तीर्थंकर धर्म्मोपदेश देते थे वहां पर सब जीवों का—पशुपक्षियों तक का भी स्थान रहता था और देवता से लेकर तिर्यंच तक सर्व प्रकार के प्राणी अपनी अपनी भाषा में भगवान का उपदेश समझ लेते थे। इस अलौकिक शक्ति को तीर्थंकरों का 'अतिशय' बताया गया है।

जैनियों के अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामी को हुए आज २५ शताब्दी हो चली तो भी जैनियों में वही उदारता देखने में आती है। इधर कई शताब्दी तक मुसलमान सम्राटगण भारत के शासक रहे। यहाँ के निवासियों से उनलोगों का राजा प्रजा का सम्बन्ध हुआ था। वे लोग हिन्दु धर्म्मावलम्बियों को समय समय पर उत्पीड़ित करते रहे। देखिये—हिन्दुओं के प्रसिद्ध तीर्थस्थान 'सोमनाथ' जो भारत के सुदूर सौराष्ट्र प्रांत में है वहाँ महम्मद गजनी ने जिस प्रकार मूर्ति को नष्ट किया था वह कथा भारत के समस्त इतिहास की पुस्तकों में वर्णित है। शताब्दियों तक अनाचार होता रहा और रही सही लगभग १७वीं शताब्दी में 'काला पहाड़' ने बिहार और बंगप्रान्त के सब हिन्दू बौद्ध देवता और देवियों की मूर्त्तियां तोड़ दी थीं। परन्तु धार्म्मिक उदारता के कारण जैनियों पर कोई विशेष अत्याचार का उल्लेख नहीं मिलता। मुझे कुछ समय पूर्व तीर्थ-राजगृह के पंच पहाड़ों में से पहिले विपुलाचल के श्रीपार्श्वनाथ मंदिर की विशाल प्रशस्ति मिली थी। यह संस्कृत भाषा में गद्य-पद्यमय है और इसका समय विक्रम संवत् १४१२ अर्थात् १५वीं शताब्दी है। उस समय सम्राट् फिरोज़ शाह राज्य करते थे। उक्त प्रशस्ति में उल्लेख है कि मुसलमानगण भी जैनियों के धार्म्मिक कार्य्य में सहायता देते थे। प्रशस्ति के आदि और अन्त के कुछ आवश्यक अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं :—

"ॐ नमः श्रीपार्श्वनाथाय। श्रेयः श्रीविपुलाचलामरगिरिस्थेयः। स्थितिस्वीकृतिः। पत्रश्रेणिरमाभिरामभुजगाधीशस्फटासंस्थितिः॥ पादासीनदिवस्पतिः शुभफलश्रीकीर्त्ति-पुष्पो द्गमः। श्रीसंघाय ददातु वांछितफलं श्रीपार्श्वकल्पद्रुमः॥१॥ .. श्रीराजगृहमहातीर्थे। गजेंद्राकारमहापोतप्राकारश्रीविपुलगिरिविपुलचूलापीठे सकलमहीपालचक्रचूलामाणिक्य-मरीचिमंजरीपिंजरितचरणसरोजे। सुरत्राणश्रीसाहिपेरोजे महीमनुशासति। तदीय-नियोगान्मगधेषु मलिकवयो नाम मंडलेश्वरसमये। तदीयसेवकसहणासदुरदीनसाहाय्येन ....इति विक्रम संवत् १४१२ आषाढ़ बदि ६ दिने। श्रीखरतरगच्छशृङ्गार-सुगुरुश्रीजिनलब्धिसूरिपट्टालंकारश्रीजिनचंद्रसूरीणामुपदेशेन।............ठ० वच्छराज ठ० देवराज सुश्रावकाभ्यां कारितः......श्रीपार्श्वनाथप्रासादस्य प्रशस्तिः॥"

भावार्थ यह है कि सुलतान फिरोज साह ने मलिक वय को मगध प्रदेश का सूबा अर्थात् शासक नियुक्त किया था। सूबा के कार्यकर्त्ता शाह नासरुद्दीन की सहायता से मगधदेश

स्थित राजगृह तीर्थ के विपुलगिरि पर आचार्य श्रीजिनचन्द्र सूरि के उपदेश से वच्छराज देवराज ने श्रीपार्श्वनाथ का मंदिर सं० १४१२ आषाढ़ वदी ६ को बनवाया।

सम्राट् अकबर की धार्म्मिक उदारता प्रसिद्ध है। जहाँगीर, शाहजहाँ आदि बादशाहों के समय में भी जैनियों को धार्म्मिक विषयों में सहायता मिली थी। उनके पवित्र तीर्थक्षेत्रों के संरक्षण के लिये समय समय पर गुजरात, मालवा, बंगाल आदि प्रान्त के सूबों में लोगों से फरमाण आदि भी प्राप्त किये थे।

जैनियों में श्वेताम्बर और दिगम्बर दो मुख्य सम्प्रदाय हैं। मैं दिगम्बर-साहित्य से विशेष परिचित नहीं हूं। श्वेताम्बर-साहित्य के इतिहास को मैंने जहां तक अवलोकन किया है, उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर आचार्य और विद्वानों ने प्राचीन काल से अजैन विद्वानों की कृतियों को निःसंकोच से अपनाया था। उनका अभ्यास करते थे, उन पर पाण्डित्यपूर्ण टीकायें रची हैं, उनके साहित्य को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। यही धार्म्मिक उदारता है।

जैनियों के श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सिद्धसेन दिवाकर,* उमास्वाति वाचक* हरिभद्र अभयदेव से लेकर हेमचन्द्राचार्य आदि तथा दिगम्बर सम्प्रदाय में कुंदकुंदाचार्य, समंतभद्र, अकलंकदेव, प्रभाचंद्र, विद्यानंदि, जिनसेन आदि बड़े बड़े प्रख्यात विद्वान हो गये हैं जिनकी कृतियों की पाश्चात्य विद्वानगण भी भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं। परन्तु सनातन-धर्म्माव-लम्बी-पण्डितोंने उन्हें कहीं अपनाया हो ऐसा देखने में नहीं आता यहां तक कि वे महत्व-पूर्ण जैनग्रन्थों के नामोल्लेख करने में भी हिचकते थे। यह अनुदार भाव उन लोगों की धार्म्मिक संकीर्णता है। अजैन विद्वानों के नाना विषय के ग्रन्थों को श्वेताम्बर लोगों ने किस प्रकार अपनाया है इसका कुछ दृष्टांत मैं यहां उपस्थित करूंगा। आशा है कि दिगम्बर विद्वानगण भी इस प्रकार धार्म्मिक उदारता को प्रकाशित करेंगे।

हाल ही में अमेरिका के पेन्सिलवेनिया विश्वविद्यालय के संस्कृताध्यापक डा० नरमैन ब्राउन साहब ने 'कालिकाचार्यकथा'[1] नामक अङ्गरेजी में पुस्तक प्रकाशित की है, जिसकी भूमिका पृ० ४ में जैनाचार्यों के विषय में इस प्रकार लिखते हैं :—

"It is perhaps permissible to record here my appreciation not merely of the courtesy and scholarship of Jain monks and laymen

---

* ये तथा आगे के भी दो एक आचार्य दिगम्बर-सम्प्रदाय में भी मान्य हैं—सम्पादक।

(1) The story of 'Kalaka' by W. Norman Brown, Prof. of Sans. in the university of Pensylvania, Washington U. S. A. 1933, Preface P. IV.

but also of their lofty ideals and noble lives. They are of the greatness that is India. There is a spirit of helpfulness, tolerence and sacrifice coupled with their intelligence and religious devotion that marks them as one of the world's choice communities."

अर्थात् "जैन साधुओं और गृहस्थ जनों के शिष्टाचार और विद्वत्ता के साथ साथ उनके ऊंचे आदर्श और उत्कृष्ट जीवन का यहां उल्लेख कर देना शायद उचित होगा। उनके बड़प्पन से भारत गौरवान्वित है। उन में सहायता, सहनशीलता और त्याग की शक्ति है। उनकी बुद्धि और धार्म्मिक लवलीनता इन सब गुणों के साथ मिलकर इन्हें संसार के आदर्श सम्प्रदायों में से एक प्रमाणित करती है।"

यह देखकर आश्चर्य होता है कि भारत के किन्हीं भी धर्म्मावलम्बियों में जैनियों की तरह धार्म्मिक उदारता नहीं पाई जाती है। यदि अजैन विद्वानगण अपने २ साहित्य से ऐसे २ दृष्टांत प्रकाशित कर सकें तो मेरा यह भ्रम दूर हो जाय। अजैन साहित्य के नाना ग्रन्थों पर जैन लोगों ने किस प्रकार टीका, वृत्ति आदि की रचना की है यह निम्न-लिखित तालिका से पाठकों को विदित होगा। यहां तक कि हिन्दीग्रन्थ पर भी जैना-चार्यों ने कई टीकायें रच डाली हैं।

जैनविद्वानों ने सिद्धान्त के अतिरिक्त व्याकरण, न्याय, काव्य, कोष, अलंकार, नीति, ज्योतिष आदि नाना विषयों पर अच्छे २ ग्रन्थ रचे हैं। केवल हेमचन्द्राचार्य के ही अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं। इनके पूर्व सिद्धर्षि आचार्य ने 'उपमिति-भव-प्रपंच-कथा' नामक ग्रन्थ लिखा था जो कि साहित्यिक दृष्टि से बड़े महत्व का है। इस लेख में इन सबों का उल्लेख करना अनावश्यक है। इतना ही लिखना यथेष्ट होगा कि श्रीमहावीर स्वामी के पश्चात् आज लगभग पचीस शताब्दी तक जैन लोग धार्म्मिक उदारता के साथ साहित्य की सेवा बजा रहे हैं। जैनाचार्यगण महत्त्वपूर्ण अजैन ग्रन्थों के नाम लेकर स्वयं अच्छे अच्छे काव्य रचे हैं। ११वीं शताब्दी में श्रीजिनेश्वर सूरिने "जैननैषधीय" नामका एक सुन्दर काव्य की रचना की थी। श्रीजयशेखर सूरिने "जैन-कुमार-संभव" लिखा है जो उनकी विद्वत्ता प्रकट करती है। "जैनमेघदूत" की रचना भी प्रशंसनीय है। भारतवर्ष के अन्य विद्वानों में कहीं भी इस प्रकार की उदारता का दृष्टान्त नहीं मिलेगा।

व्याकरण

कातन्त्र-सूत्र*—१ वर्द्धमान सूरिकृत 'कातंत्र विस्तार'
(कलाप) २ सोमकीर्ति सूरिकृत 'कातंत्र पंजिका' वृत्ति
३ जिनप्रभ सूरिकृत 'कातंत्रविभ्रम' वृत्ति
४ चारित्रसिंहकृत 'कातंत्रविभ्रमावचूरि'
५ मेरुतुंगसूरिकृत 'बालावबोध' वृत्ति
६ विजयनन्दनकृत 'कातंत्रता'
७ दुर्गसिंहकृत वृत्ति
८ पृथ्वीचंद्रसूरिकृत 'दौर्गसिंह" वृत्ति
९ मुनिशेखरकृत वृत्ति
१० प्रबोध मूर्त्तिकृत 'दुर्गपदप्रबोध' वृत्ति
११ मुनिचंदसूरिकृत वृत्ति
१२ गौतमकृत 'कातंत्रदीपिका'
१३ विजयानंदकृत 'कातंत्रोत्तर'

पाणिनि— रामचंद्रर्षिकृत 'धातुपाठ' टीका
सिद्धांतचन्द्रिका—सदानंदकृत 'सुबोधिनी' टीका
मुग्धबोध— कुलमंडनकृत 'मुग्धावबोध उक्तिक'
काशिकान्यास—जिनेंद्रबुद्धिकृत
कविकल्पद्रुम—विजयविमलकृत अवचूरि

सारस्वत— १ सहजकीर्त्तिकृत वृत्ति
२ भानुचंद्रकृत टीका
३ दयारत्नकृत वृत्ति
४ मेघरत्नकृत 'ढुंढिका' वृत्ति
५ यतीशकृत 'सारस्वतदीपिका' वृत्ति
६ चंद्रकीर्तिकृत वृत्ति
७ नयसुंदरकृत टीका
८ आ० मंडनकृत सारस्वत-मण्डन टीका

* इसी कातन्त्र सूत्र पर दिगम्बराचार्य भावसेन त्रैविद्यदेव कृत भी "कातन्त्ररूपमाला" नाम की एक प्रशस्त वृत्ति है। बल्कि कई विद्वान् कातन्त्रसूत्र के रचयिता शर्ववर्मा को जैन मानते हैं।
(सम्पादक)

वाक्यप्रकाश— १ उदयधर्मकृत टीका
२ हर्षकुलकृत टीका
३ रत्नसूरिकृत टीका

अनिट् कारिका—१ क्षमामाणिक्यकृत अवचूरि
२ हर्षकीर्त्तिकृत वृत्ति

शब्दप्रभेद— ज्ञानविमलकृत 'शब्दभेदप्रकाश' वृत्ति
(कर्त्ता महेश्वर कवि)

अलंकार

वृत्तरत्नाकर— १ सोमचन्द्रसूरिकृत टीका
२ हर्षकीर्त्तिकृत टीका
३ समयसुंदरकृत टीका

श्रुतबोध— १ हर्षराजकृत टीका
२ हर्षकीर्त्तिकृत टीका

छन्दःशास्त्र— १ वर्द्धमान सूरिकृत टीका
२ श्रीचन्द्र सूरिकृत टीका
३ पद्मप्रभसूरिकृत टीका

पगलसार— १ विवेककीर्त्तिकृत टीका

काव्यालंकार— १ नमिसाधुकृत टीका

काव्यप्रकाश— १ यशोविजयकृत टीका
२ माणिक्यचन्द्रकृत 'काव्यप्रकाशसंकेत'

गाथासप्तशती— १ भुवनपालकृत वृत्ति

विदग्धमुखमंडन— १ शिवचंद्रकृत टीका
२ जिनप्रभसूरिकृत चूर्णि

काव्य

कादम्बरी— १ सूरचन्द्रकृत टीका
२ मदनमंत्रिकृत 'कादम्बरीदर्पण' टीका
३ भानुचन्द्रकृत टीका (पूर्व खंड)
४ सिद्धिचन्द्र कृत टीका (उत्तर खंड)

भट्टी काव्य—कुमुदानंदकृत "सुबोधिनी" टीका

रघुवंश—	१	चारित्रवर्द्धनकृत 'शिशुहितैषिणी' टीका
	२	धर्म्ममेरुकृत 'सुबोधिनी' टीका
	३	सुमतिविजयकृत 'सुगमान्वया' टीका
	४	समुद्रसूरिकृत टीका
	५	रत्नचंद्रकृत टीका
	६	विजयगणिकृत टीका
	७	समयसुन्दरकृत टीका
	८	गुणविजयकृत टीका
कुमार संभव—	१	विजयगणिकृत वृत्ति
	२	लक्ष्मीवल्लभकृत टीका
	३	चारित्रवर्द्धनकृत 'शिशु हितैषिणी' टीका
	४	मुनिमतिरत्नकृत 'अवचूरि'
	५	जिनभद्रसूरिकृत 'बालबोधिनी' टीका
मेघदूत—	१	क्षेमहंसकृत वृत्ति
	२	महीमेरुकृत 'बालावबोध' टीका
	३	सुमतिविजयकृत 'अवचूरि'
	४	मेरुतुंगसूरिकृत वृत्ति
	५	महिमसिंहकृत टीका
	६	आसड़कृत टीका
नैषध—	१	जिनराजसूरिकृत टीका
	२	श्रीनाथसूरिकृत 'नैषधप्रकाश' टीका
	३	चारित्रवर्द्धनकृत टीका
किरातार्जुनीय—	१	विनयसुंदरकृत वृत्ति
	२	धर्म्मविजयकृत 'दीपिका' टीका
शिशुपालवध—	१	वल्लभदेवकृत टीका
	२	चारित्रवर्द्धनकृत टीका
नलोदय—	१	आदित्यसूरिकृत टीका
वासवदत्ता—	१	सिद्धिचंद्रकृत वृत्ति
	२	सर्वचंद्रकृत वृत्ति
	३	नरसिंहसेनकृत टीका

राघवपांडवीय— १ पद्मनंदीकृत टीका
२ पुष्पदन्तकृत टीका
३ चारित्रवर्द्धनकृत टीका
खंडप्रशस्ति— १ गुणविनयकृत 'सुबोधिका' वृत्ति
२ जयसोमगणिकृत टीका
३ विजयगणिकृत टीका
कर्पूरमंजरी— १ प्रेमराजकृत लघु टीका
२ राजशेखरकृत टीका
३ धर्मचंद्रकृत वृत्ति
भर्तृहरिशतक— १ धनसारसाधुकृत टीका
२ जिनसमुद्रसूरिकृत टीका
३ रूपचन्द्रकृत टबार्थ
अमरुशतक—रूपचन्द्रकृत टबार्थ
षट् पंचाशिका—उ० महिमोदयकृत 'बालावबोध' टीका
जगदाभरणकाव्य—ज्ञानप्रमोदकृत टीका

घटकर्परकाव्य	शांतिसूरिकृत टीका
वृन्दावनकाव्य	
शिवभद्रकाव्य	
राक्षसकाव्य	

नाटक

अनर्घराघव— १ जिनहर्षकृत वृत्ति
२ नरचन्द्रकृत टिप्पण
३ देवप्रभकृत 'रहस्यादर्श' टीका
प्रबोधचन्द्रोदय— १ रत्नशेखरकृत वृत्ति
२ जिनहर्षकृत वृत्ति
३ कामदासकृत वृत्ति
राघवाभ्युदय— १ रामचन्द्रकृत टीका
दमयन्ती-चम्पू— १ प्रबोधमाणिक्यकृत टिप्पन
२ चंडपालकृत टीका
नलचम्पू—गुणविजयगणिकृत टीका

न्याय

तर्कभाषा—शुभविजय कृत वार्त्तिक

तर्कफक्किका—क्षमाकल्याणकृत टीका

तर्करहस्यदीपिका—गुणरत्न-सूरिकृत

न्यायकंदली— १ नरचन्द्रसूरिकृत टीका

२ राजशेखरसूरिकृत पंजिका

३ रत्नशेखरसूरिकृत टीका

न्यायप्रवेश—हरिभद्रसूरिकृत टीका

न्यायसार—जयसिंहसूरिकृत टीका

न्यायलंकार—अभयतिलककृत वृत्ति

न्यायबोधिनी—नेतृसिंहकृत टीका

पातांजलयोगदर्शन—यशोविजयकृत टीका

योगमाला—गुणाकरकृत लघुवृत्ति

ज्योतिष

जातक—हर्षविजयकृत 'जातकदीपिका' वृत्ति

लघुजातक—मतिसागरकृत 'बालावबोध' वचनिका

ताजिकसार—सुमतिहर्षकृत वृत्ति

वसन्तराजशकुन—भानुचन्द्रकृत टीका

स्वप्नसप्ततिका—सर्वदेवसूरिकृत वृत्ति

महाविद्या—भुवनसुन्दरकृत वृत्ति

मंत्रशास्त्र—मल्लिषेण-कृत टीका

मंत्रराजरहस्य—सिंहतिलकसूरिकृत टीका

योनिप्राभृत—हरिषेणकृत टीका

योगरत्नाकर—नयशेखरकृत टीका

वैद्यक

योगरत्नमाला—गुणाकरकृत टीका

रसचिन्तामणि—अनंतदेवसूरिकृत टीका

वैद्यकसारसंग्रह—हर्षकीर्त्तिकृत टीका

वैद्यकसारोद्धार—हर्षकीर्त्तिकृत टीका

वैद्यकवल्लभ —हस्तिरुचिगणिकृत टीका

योगचिन्तामणि—हर्षकीर्त्तिकृत टीका

ज्वराष्टक—मल्लदेवकृत टीका

सन्निपात-कलिका—हेमनिधानकृत टीका

लक्षणसंग्रह—रत्नशेखरकृत टीका

भाषा

बिहारी-सतसई—समरथकविकृत टीका

रसिकप्रिया—कुशलधीरकृत 'रसिक-प्रिया-विवरण'

पृथ्वीराजबेली—१ कविसारंगकृत संस्कृत टीका

२ कुशलधीरकृत टीका

३ शिवनिधानकृत टीका

४ श्रीसारकृत टीका

५ जयकीर्त्तिकृत टीका

६ राजसोमकृत टीका



शुद्धाशुद्ध-पत्र

मेरी अनुपस्थिति में ग्रन्थमाला के दो फर्मों का संशोधन एक ही संशोधक के दृष्टिगोचर होने से कुछ अधिक अशुद्धियाँ रह गयी हैं, उनका शुद्ध-रूप नीचे दिया जाता है।

(के० बी० शास्त्री)

प्रशस्ति-संग्रह

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध-रूप	शुद्ध-रूप
१	२	प्रभेन्दुरचिता (?) लघुवृत्ति	प्रभेन्दुरचितालघुवृत्ति
१	११	युक्तिशस्त्रेण	युक्तिशास्त्रेण
२	७	प्रारीप्सु:	प्रारिप्सु:
२	१३	स्मृतश्चेति	स्मृतिश्चेति
२	१६	एतद्विकाम्	एतद्‌द्विकाम्
३	४	जैनइतिहाषान्वेषी	जैनइतिहासान्वेषी
३	६	इसका	इसकी
५	१०	अघात्यारातिः	अघात्यराति
६	६	जंबाख्यमुनिकेवला:	जम्बाख्यमुनिकेवला:
६	८	पराजितमहातपा:	ऽपराजितमहातपा:
६	११	विशुद्वयस्तान्	विशुद्धया तान्
६	१२	सृष्टि:	सृष्टे:
७	२६	कालविषोपम्	कालविषोपमम्
७	१	भिल्लागच्छ	मिल्लागच्छ
७	१२	तवनतेजसा	तपनतेजसा
८	१५	ज्योत्स्ना:	ज्योत्स्ना
८	१५	जिनचन्द्रजा:	जिनचन्द्रजा
८	१६	वर्धयन्ति	वर्धयन्ती
८	१८	सम्यक्	सम्यग्

वैद्यसार

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध-रूप	शुद्ध-रूप
१	२१	कफगंद्	कफगदं
१	२२	योगानुयानै	योगानुपानै
२	३	क्रमातू	क्रमात्
४	१०	समाछाद्य	समाच्छाद्य
४	१२	दिवाराति	दिवारात्रं
४	२६	सुद्ध	शुद्ध
५	१६	परिएष्कौ	पश्चिनष्कौ
५	१७	अंकोलुकं	अंकोलकं
६	८	मालकांवनी	मालकांगनी
७	१३	वष्ट्यमिधामेला ?	वष्ठ्यमिधामेला
७	१७	पिटकादिव्रणान्	पिटिकादिव्रणान्
७	२१	भस्म बन पर जाने पर	भस्म बन जाने पर
७	२२	औषध	औषधि



स्याद्वादामृतपाथोधिमन्थने मन्दराचलः ।
"पण्डिताचार्य" उदितो भवनाब्जविकाशकः ॥

प्रशस्ति-संग्रह

(सम्पादक—के० भुजबली शास्त्री)

---

(१) ग्रन्थ नं० १६६/ख

न्याय-मणिदीपिका (कागज पर नागराक्षर में)

रचयिता—

विषय—न्याय

भाषा—संस्कृत

लम्बाई—३ इंच चौड़ाई—७ इंच पत्रसंख्या—१६६

मंगलाचरण

श्रीवर्द्धमानमकलङ्कमनन्तवीर्यमाणिक्यनन्दियतिभाषितशास्त्रवृत्तिम् ।
भक्त्या प्रभेन्दुरचिता(?)लघुवृत्तिदृष्ट्या नत्वा यथाविधि वृणोमि लघुप्रपञ्चम् ॥१॥

मदज्ञानमहत्प्रीतं मलमत्र यदि स्थितम् ।
तन्निष्काम्येयमिवत्सन्तः प्रवर्त्तन्तामिहाब्धिवत् ॥२॥

इह हि खलु सकलकलङ्कविकलकेवलावलोकनविमललोचनावलोकितलोकालोकपरमगुरुवीरजिनेश्वररुचिरमुखसरसीरुहसमुत्पन्नसरस्वतीसरसानवरतस्मरणावलोकनसल्लापपरचित्तवृत्तिः । र लराजाधिराजपरमेश्वरस्य हिमशीतलस्य महाराजस्य महास्थानमध्ये निष्ठुरकण्ठवादसौष्ठवदुष्टसौगतान् चटुलघटवादादिपटिष्ठतया तारादेवताधिष्ठितदुर्घटघटवादविजयेन राज्ञा सभ्यैः समासद्भिश्च परिप्राप्तजयप्रशस्तिः सकलतार्किकचूडामणिमरीचिमेचकितरुचिररुचिचकचकायमानचरणनखरो भगवान् भट्टाकलङ्कदेवो विश्वविद्वन्मण्डलहृदयाह्लादियुक्तिशास्त्रेण जगत्सद्धर्मप्रभावमबूबुधत्तमाम् । तदनु बालाननुजिघृक्षुरक्षयगुणोऽक्षुण्णमोक्षलक्ष्मीकटाक्षविक्षेपनिदानपरीक्षादक्षो गुणमणिवृन्देन भव्यवृन्दमानन्दयन्माणिक्यनन्दिमुनिवृन्दारकस्तत्प्रकाशितशास्त्रमहोदधेरुद्धृत्य तदवगाहनाय पोतोपमं परीक्षामुखनामधेयमन्वर्थमुद्दलप्रकरणमारचयन्मुदा तदनु तत्प्रकरणस्य विशिष्टतमोऽसिस्पष्टं प्रभेन्दुः प्रभाचन्द्रभट्टारकः प्रमेयकमलमार्त्तण्डनामबृहद्वृत्तिं चरीकरीतिस्म । तद्वृत्तिमभ्यस्य

मार्त्तण्डमण्डलायितत्वेन सकलविद्वच्चित्तप्रकाशकत्वेऽपि बालान्तःकरणगुहाभ्यन्तरप्रकाशन-सामर्थ्याभावमाकलय्य तत्प्रकाशनाय दीपिकायितां सकललोकालङ्कारयोग्यत्वतो रत्नायितप्रमेयैरारचितत्वेन प्रमेयरत्नमालेत्यन्वर्थनामोद्वहन्तीं स्वालोकनप्रवृत्तिमतां पुंसां क्रोड़े कृतघटपटादिवस्तुप्रतिबिम्बितरत्नकणिठकायितत्वेन वा स्वाभिधेयानि प्रमेयाणि प्रकाशयन्तीं लघ्वीं वृत्तिं लघ्वनन्तवीर्याचार्यवर्यो भव्यानुग्रहकार्यसौकर्यसूक्तिसौकुमार्य्यो गुण-गाम्भीर्यशाली वैजेयप्रियसूनुना हीरपाख्यवैश्योत्तमेन बदरीपालवंशद्यु मणिना शान्तिषेणा-ध्यापनाभिलाषिणा प्रेरितः सन् प्रारीप्सुः तदादौ चिकीर्षितवृत्तेरविघ्नतः परिसमाप्त्यर्थं शिष्टाचारपरिपालनार्थं पुण्यावाप्त्यर्थञ्च विशिष्टेष्टदेवतामभिष्टौति ।

मध्य-भाग (पूर्व पृष्ठ ६४, १म पंक्ति से):—

इत्यभिधानादिति प्रकाश्य प्रकारान्तरेण तदुक्तानायोगं दर्शयितुं तावदभावप्रमाण-प्रतिपादककारिकामाह, "गृहीत्वेति" वस्तुसद्भावं गृहीत्वेत्यादि सामग्र्या सर्वज्ञाभावग्राहक-मभावप्रमाणमसर्वज्ञस्य नोदेति इत्याह। तथाचेत्यपरथा प्रतिनियतकालप्रतिनियतत्त्वेन-लक्षणवस्तुसद्भावग्रहणेऽन्यत्रान्यदा गृहीतसर्वज्ञस्मृतश्चेतिरीत्यसर्वज्ञनास्तिताज्ञानमभाव-प्रमाणं न युक्तमन्यत्रान्यदा गृहीतसर्वज्ञसत्वप्रसङ्गात् ।

अन्तिम पद्य :—

अकलङ्करत्ननन्दिप्रभेन्दुसदनन्तगुणिभक्त्या ।
एतद्विकां बालो निरूढवारि ने (?) व किल गुरुभक्त्या ॥
स्याद्वादनीतिकान्तामुखलोकनमुख्यसौख्यमिच्छन्तः ।
न्यायमणिदीपिकां हृद्वासागारे प्रवर्त्तयन्तु बुधाः ॥

इति परीक्षामुखलघुवृत्तेः प्रमेयरत्नमालानामधेयप्रसिद्धाया न्यायमणिदीपिकासंज्ञायां टीकायां षष्ठः परिच्छेदः ।

शास्त्र के प्रतिलिपि कर्त्ता के नामादि—

श्रीमत्स्वर्गीयबाबूदेवकुमारस्यात्मजदानवीरबाबूनिर्मलकुमारस्यादेशमादाय आगरा-प्रान्तगतसकरौलीनिवासिनः रेवतीलालस्यात्मजराजकुमारविद्यार्थिना लिखितमिदं शास्त्रम् ।

इदं लक्ष्मणभट्टेन विलिखितं प्रथमं शास्त्रं लक्षीकृत्य लिखितम् । संशोधयितव्या विद्वज्जनैः । प्रतिलिपिकाल—सं० १९८० श्रावण-शुक्ल-त्रयोदशी ।

इसमें ग्रन्थकर्त्ता के नाम का उल्लेख नहीं है। किन्तु मित्रवर पं० सुब्बय्य शास्त्री जी का कथन है कि ताड़पत्र की किसी प्रति में इस न्यायमणिदीपिका के रचयिता अजितसेना-

चार्य स्पष्ट लिखा हुआ है। बल्कि पं० सुब्बय्य जी का यह कथन—Catalogue of Sanskrit and Prakrita Manuscripts in the Central Provinces and Berar by R. B. Hira Lal B. A. Appendix (B.) से भी प्रमाणित हो जाता है, फिर भी जैनइतिहासान्वेषी इस ओर विशेष ध्यान देंगे। जैन-सिद्धान्त-भवन की इस प्रति के अत्यन्त अशुद्ध होने के कारण इसके साहित्यिक विवेचन पर विशेष प्रकाश नहीं डाला जा सकता। तो भी यह कहना ही पड़ेगा कि इसका संस्कृत सरल एवं प्रशस्त है।

नं० ६०/ख की एक दूसरी प्रति भी 'भवन' में है जिसकी वर्तमान ग्रन्थ प्रतिलिपिमात्र है। वस्तुतः दोनों प्रतियाँ अशुद्ध हैं। पहली प्रति की नकल कन्नडप्रति से उल्लिखित मूडविद्रिनिवासी वामन भट्ट के पुत्र लक्ष्मण भट्ट ने की है।

---

(२) ग्रन्थ नं० १६५/ख

चन्द्रप्रभचरित-व्याख्यानम् (का० ना०)

अपर नाम—विद्वन्मनोवल्लभ

रचयिता—

विषय—काव्य

भाषा—संस्कृत

लम्बाई—१३॥ इञ्च *चौड़ाई—८॥ इञ्च* *पत्रसंख्या—३०६*

मङ्गलाचरण

बन्देऽहं सहजानन्दकन्दलीकन्दबन्धुरम्।
चन्द्राङ्कं चन्द्रसंकाशं चन्द्रनाथं स्मराम्यहम् ॥१॥
चन्द्रप्रभार्हद्धीरस्य काव्यं व्याख्यायते मया।
विभ्रमम्वयरूपेण स्पष्टसंस्कृतभाषया ॥२॥

मध्य-भाग—(पूर्व पृष्ठ ६६, श्लोकटीका १२)

गुरुवंशमिति। अथ प्रस्थानानन्तरे। गजेन्द्रगामी गजेन्द्र इव गच्छतीत्येवं शीलः मन्द-गामीत्यर्थः। स कुमारः। गुरुवंशम् गुरवः महान्तः वंशाः वेणवः यस्मिन् तं पक्षे गुरुर्महान्

वंशः कुलं यस्य तम्। अप्रमाणसत्त्वम् अप्रमाणाः प्रमाणरहिताः सत्त्वाः प्राणिनः यस्मिन् तं पक्षे बहुलसामर्थ्यम्। अत्युन्नतशालिनीम् अत्युन्नत्या शालिनीम्। सम्पूर्णस्थितिं व्यवस्थितिं पक्षे मर्यादां। दधानं धरन्तं। रुचिराकृतिं रुचिरा आकृतिर्यस्य तं। एकं। स्वसमानं स्वस्य समानं। नगं पर्वतं। आलुलोके ददर्श लोकृञ् दर्शने लिट्। श्लेषोपमा।

समाप्तिसूचक अन्तिम पंक्ति:—

इति वीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये अष्टादशः सर्गः समाप्तः।

चन्द्रप्रभचरित काव्य की अभीतक दो टीकायें उपलब्ध हैं। एक चारुकीर्तिकृत और दूसरी प्रभाचन्द्र भट्टारककृत। प्रभाचन्द्र भट्टारक का समय वि० सं० १३१६ है और चारुकीर्त्ति का समय शकाब्द १३२१ के बाद का ज्ञात होता है। चारुकीर्त्तिजी का यह समय तभी सम्भवपरक कहा जा सकता है, जबकि यही पार्श्वाभ्युदय के भी टीकाकार हों। चारुकीर्त्तिकृत चन्द्रप्रभकाव्य की टीका की श्लोकसंख्या छः हजार मानी गयी है। भवन की इस प्रति में भी लगभग छः हजार श्लोकसंख्या अनुमित होती है। अतः यह कहा जा सकता है कि यह चारुकीर्त्ति जी की ही टीका है।

ज्ञात होता है कि टीकाकार ने इस टीका में व्याकरण, अलङ्कार एवं कोषादि की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है।

पार्श्वाभ्युदय के टीकाकार चारुकीर्त्ति जी की निम्नलिखित कृतियों का पता लगता है:—

(१) चन्द्र प्रभ काव्य की टीका। श्लोक-संख्या—६०००
(२) आदिपुराण ३०००
(३) यशोधरचरित
(४) नेमिनिर्वाणकाव्यटीका
(५) पार्श्वाभ्युदयकाव्यटीका
(६) गीतवीतराग

(३) ग्रन्थ नं० १६८/ख

हनुमच्चरित्रम् (का० ना०)

कर्त्ता—ब्रह्माजित

विषय—चरित्र (प्रथमानुयोग)

भाषा—संस्कृत

लम्बाई—११ इञ्च चौडाई—७ इञ्च पत्रसं०—६७

मङ्गलाचरण

सद्बोधसिन्धुचन्द्राय सुव्रताय जिनेशिने ।
सुव्रताय नमो नित्यं धर्मशब्दार्थसिद्धये ॥१॥
वृषभाय जिनेन्द्राय वृषाय परमेष्ठिने ।
नित्यं स्वान्यप्रकाशाय नमस्त्राता (?) सुतायिने ॥२॥
नमः श्रीचन्द्रनाथाय सर्वज्ञाय शिवाप्तये ।
अनन्तशर्मकन्दाय कन्दाय परमात्मने ॥३॥
शान्तिं कुर्यादनेकान्तबुद्धिं सिद्धयर्थदायिनीम् ।
असातक्षीरजलधिमन्थने मन्दराचलः ॥४॥
श्रीमते वर्द्धमानाय नमः श्रेयोविधायिने ।
अघात्याघातिघाताय मुक्तिमार्गप्रदायिने ॥५॥
दुर्वारापारसंसारपारावारैकतारकान् ।
प्रणौमि परितो नित्यमपरान् जिननायकान् ॥६॥
सार्द्धद्वयमिते द्वीपे सर्वान्तकविवर्जिते ।
सीमन्धरादिदेवानां पादपद्मान् प्रणौम्यहम् ॥७॥
वर्त्तन्ते भाविनोऽतीता विबुधालिप्रपूजिताः ।
नौमि सर्वान् जिनान् जैनमतसिन्धुविधून् सदा ॥८॥
आचाराङ्गादिभेदेन पूर्वान्तांश्च प्रकीर्णकान् ।
निर्गतां जिनसद्वक्त्रात् सारदां नौमि शारदाम् ॥९॥
यस्याः प्रसादतः सर्वो वितीर्य श्रुतसागरम् ।

परमाप्नोति भावानां तां प्रणौमि जिनास्यजाम् ॥१०॥
त्रिहीननवकोटीनां मुनीनां पादपङ्कजान् ।
स्मरामि स्मरजेतॄणां त्रातॄणां भववारिधेः ॥११॥
नमामि वृषसेनादिगौतमान्तान् गणेश्वरान् ।
सार्द्धांश्चतुर्दशशतान् त्र्यधिकान् श्रीसुखप्रदान् ॥१२॥
गौतमः श्रीसुधर्मा च जंग्राख्यमुनि केवलाः (?) ।
त्रयः केवलिनः पूज्या नो नित्यं सन्तु सिद्धये ॥१३॥
श्रीविष्णुनन्दिमित्राख्यो पराजितमहातपाः ।
गोवर्द्धनो भद्रबाहुः पञ्चैतान् श्रुतसागरान् ॥१४॥
द्वादशांगश्रुताभ्यासनीरेण क्षालितं न कान् ।
प्रणौम्यहं विशुद्ध्यस्तान् पञ्चपाण्डित्यहेतवे ॥१५॥
सृष्टिः समयसारस्य कर्त्ता सूरिपदेश्वरः ।
श्रीमच्छ्रीकुन्दकुन्दाख्यस्तनोतु मतिमेदुराम् ॥१६॥
पुराणपद्धतिर्यस्य हृदये प्रस्फुटं गता ।
प्रणौमि जिनसेनस्य चरणौ शरणं सताम् ॥१७॥
जीयात्समन्तभद्रोऽसौ भव्यकैरवचन्द्रमाः ।
दुर्वादिवादकण्डूनां शमनैकमहौषधिः ॥१८॥
अकलङ्कगुरुर्जीयादकलंकपदेश्वरः ।
बौद्धानां बुद्धिवैधव्यदीक्षागुरुरुदाहृतः ॥१९॥
शुद्धसिद्धान्तपाथोधिपारीणः परमेश्वरः ।
नेमिचन्द्रश्चिदानन्दपदवीमुख्यतां गतः ॥२०॥
प्रभा गुणवती यस्य प्रभाचन्द्रस्य सूरिणः ।
सोऽस्तु मे शुद्धिसिद्ध्यर्थं कारुण्यादिरसालयः ॥२१॥
पञ्चाचाररता येऽन्ये सूरयः संस्तुताः सुरैः ।
ते मे दिशन्तु सन्मेधां पद्मनन्दीश्वरादयः ॥२२॥
मङ्गलादिप्रसिद्ध्यर्थं मया भावेन संस्तुताः ।
श्रीहनुमत्कुमारस्य कथायाः सिद्धये पुनः ॥२३॥

मध्य-भाग (पृष्ठ ३१, श्लोक १६)

इत्युक्तं केनचित्तावत्कुमाराय जितद्विषे ।
अंजनाप्रभवं वृत्तं सर्वं कालविषोपम् ॥१६॥

मित्रागच्छ वयं यामो महेन्द्रपुरभेदने।
अंजना मे स्थिता तत्र चित्तचोरणतस्करी ॥१७॥
स्वमित्रेण समं वायुरचलत् श्वाशुरं पुरम्।
स्वात्मीयं गजमारुह्य वश्रितः स्वजनैस्तदा ॥१८॥
संप्राप्तो नगरीवाह्यं हर्षसंभृतमानसः।
प्रियाङ्कमिव संप्राप्तो दृष्ट्वा पुरवरं तदा ॥१९॥
प्रभञ्जनकुमारस्यागमनं श्रुत्वा महीपतिः।
पुरशृङ्गारमकरोत् वैजयन्त्यादितोरणैः ॥२०॥

प्रशस्ति :—

जैनेन्द्रशासनसुधारसपानपुष्टो देवेन्द्रकीर्त्तियतिनायकनैष्ठिकात्मा।
तच्छिष्यसंयमधरेण चरित्रमेतत् सृष्टं समीरणसुतस्य महर्द्धिकस्य ॥६१॥
विशदशीलस्वर्धुनीशिलातलैकराजहंससोत्सवाय क्रीडनप्रियः
स्वमतसिन्धुवर्द्धने प्रकृष्टयामिनीतयनतेजसाद्भुतप्रभामितः।
सुरेन्द्रकीर्त्तिविद्ययाविनन्द्यनंगमर्दनैकपण्डितः कलाधरः
तदीयदेशनामवाप्य शुद्धबोधमाश्रितो जितेन्द्रियस्य भक्तितः ॥६२॥
गोलाशृंगारवंशे नभसि दिनमणिर्वीरसिंहो विपश्चित्
भार्या वीधा प्रतीतातनुरुहविदितो ब्रह्मदीक्षाश्रितोऽभूद्।
तेनोच्चैरेष ग्रन्थः कृत इति सुतरां शैलराजस्य सूरेः
श्रीविद्यानन्दिदेशात् सुकृतविधिवशात्सर्वसिद्धिप्रसिद्ध्यै ॥६३॥
इदं श्रीशैलराजस्य चरितं दुरितापहम्।
रचितं भृगुकच्छे च श्रीनेमिजिनमन्दिरे ॥६४॥
धर्मार्थी लभते वृषं धनयुतो वृद्धिश्च निःस्वो धनम्
पुत्रार्थी स्वकुलोचितं च तनयं कामांश्च कामी लभेत् (?)
मोक्षार्थी वरमोक्षमाशु लभते प्रोक्तेन सान्द्रेण किम्
ह्येतत् शैलमुनीन्द्रराजचरितं सर्वार्थसिद्धिप्रदम् ॥६५॥
पठिता पाठकश्चैव वक्ता श्रोता च भावुकः।
चिरं नन्द्यादयं ग्रन्थस्तेन सार्द्धं युगावधिः ॥६६॥
प्रमाणमस्य ग्रन्थस्य द्विसहस्रमितं बुधैः।
श्लोकानामिह मन्तव्यं हनुमच्चरिते शुभे ॥६७॥

इतिश्रीहनुमच्चरित्रे ब्रह्माजितविरचिते एकादशः सर्गः

इसके लिपिकर्त्ता काशीनिवासी बटुक प्रसाद नाम के एक कायस्थ हैं। लिपिकाल सं० १९७८ है।

इस प्रति के अतिरिक्त भी "भवन" में एक अत्यन्त प्राचीन प्रति $\frac{१६०}{ख}$ नम्बर वाली है। खेद के साथ यह कहना पड़ता है कि ये दोनों प्रतियाँ अशुद्धियों से भरी हुई हैं। बल्कि इसी प्राचीन प्रति से प्रस्तुत प्रति उतारी गयी है।

इसकी प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इसके कर्त्ता अजित ब्रह्मचारी देवेन्द्रकीर्त्ति जी के शिष्य थे। इनके पिता का नाम वीरसिंह और माता का वीधा था। इनके वंश का नाम गोलशृङ्गार है। विद्यानन्दजी की आज्ञानुसार ही इन्होंने भृगुकच्छ (भरोच) नगर में इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है। ग्रन्थ-रचनाकाल प्रशस्ति में नहीं दिया गया। पं० जुगल-किशोर जी की राय है कि यह अजित ब्रह्मचारी १६वीं शताब्दी में हुए हैं।

---

(४) ग्रन्थ नं० $\frac{२०४}{ख}$

विद्यानुवादांग (जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय)

कर्त्ता— (का० मा०)

विषय—प्रतिष्ठापाठ

भाषा—संस्कृत

लम्बाई—१४ इंच *चौडाई ५।। इंच*

मंगलाचरण

लक्ष्मीं दिशतु वो यस्य ज्ञानादर्शे जगत्त्रयम्।
व्यदीपि स जिनः श्रीमान्नाभेयो नौरिवाम्बुधौ ॥१॥
माङ्गल्यमुत्तमं जीयाच्छरण्यं यद्रजोहरम्।
निरहस्यमरिघ्नं तत्पञ्चब्रह्मात्मकं महः ॥२॥
दोषसन्तापशमनीर्वाग्ज्योत्स्नाः जिनचन्द्रजाः।
वर्धयन्ति श्रुताम्भोधिं स्वान्तं ध्वान्तं धुनोतु नः ॥३॥
मोक्षलक्ष्म्या कृतं कण्ठहारनायकरत्नताम्।
रत्नत्रयं नमः सम्यक् दृग्ज्ञानाचारलक्षणम् ॥४॥

प्रतिमा-लेख-संग्रह*

(संपादक—बा० कामता प्रसाद जी जैन)

श्री दि० जैन-पंचायती (बड़ा) मन्दिर मैनपुरी (गंज)

१ ऋषभदेव—चिह्न बैल—कृष्ण पाषाण—२८ अं० उंचाई—लेख—"मितो माघ वदी ६ सम्वत् १६३१ माथे† मैनपुरी मुहकमगंज के ।"

२ ऋषभदेव—चिह्न बैल—धातु—१४ अं०—आसन में शासनदेवता गोमुखाकार गोमुख और चक्रेश्वरी तथा २ सिंह हैं—लेख—"सम्वत् १५४५ वर्षे वैशाख सुदि १० चन्द्रदिने श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्रीजिनचन्द्र देवाः वरहिया-कुलोद्भव साहु लखे भार्या कुसुमा तयो पुत्र साहु मल्लू तस्य भार्या ढदवश्री तयो पुत्र चन्द्र ज्येष्ठ, सा० लहण तत्कनिष्ठ सा० छोटे तत्कनिष्ठ सा० वीर सिंह तत्कनिष्ठ सा० अर्जुन तत्कनिष्ठ सा० प्रभू तत्कनिष्ठ सा० पल्टू तत्कनिष्ठ सा० वल्लू तेषां मध्ये सा० अर्जुन तस्य भार्या मता तेन अर्जुनेनेदं आदीश्वरबिंबं रच पूजनार्थं कराषितां ।"

३ ऋषभदेव—चिह्न बैल—मूलवर्ण पाषाण—३१ अं०—"मितो माघ वदी ६ सम्वत् १६३१ मध्ये मैनपुरी मुहकमगंज के सकल पंचन के ।"

समवशरण में विराजमान :—

४ शान्तिनाथ—चि० हिरण—सामान्य पाषाण—आसपास यक्षयक्षिणी मध्य में भामण्डल छत्रोपेत लिङ्गलेखादिरहित—१२ अं०—यह मूर्ति प्राचीन है ।

५ पार्श्वनाथ—सर्प—श्वेत पा०—१० अं०—"सं० १५१६ बटेर मध्ये भ० विश्वसेनप्रतिष्ठापितं ।"

६ चन्द्रप्रभु—धूसरवर्ण पा०—११ अं०—"सम्वत् १६१० मिती माघ सुदी १४ शनि काष्ठासंघे लोहाचार्याम्नाये भ० राजेन्द्रकीर्ति देवास्तदाम्नाये अग्रोत्कान्वये वासिलगोत्रे साधु श्रीसाखीलाल तत्पुत्र मुनिसुव्रतदासेन सकल भ्रातृवर्गं तत्सिद्ध्यर्थं श्रीजिनबिंब प्रतिष्ठाकारापितं ।"

**इस संग्रह में उन प्रतिमाओं का विवरण दिया जाता है जिनमें लिंग-चिह्न प्रकट नहीं है और जो दिगराम्नाय के जैन-मन्दिरों में विराजमान हैं ।*

†मौलिकता लुप्त हो जाने के खयाल से इस प्रतिमा-लेख संग्रह के लेखों की भयंकर अशुद्धियां ज्यों की त्यों छोड़ दी गयी हैं । सम्पादक

७ सुपार्श्वनाथ—श्वेत०—१३ अं०—" सम्वत् १६६२ मिती माघ सुदी ५ काष्ठासंघे भ० मुनींद्र कीर्ति तदाम्नाये छेदीलाल बकरस—जैन—"

८ पार्श्वनाथ—धातु—११ अं०—यक्षयक्षिणी—सहित—कमलासन—"सम्वत् १३४६ चैत्र (पंचपरमेष्ठी) सुदी १३ मूलसंघे श्री मालवंश साधु बिहु ॐ शङ्गे प्रतापचन्द्रवृह उपसंघा ।"

९ पार्श्वनाथ—धातु—१० अं०—"सं० १५२८ वर्षे वैशाख सुदी ७ श्रीमूलसंघे भ० श्रीजिनचन्द्र तत्पट्टे श्री सिंहकीर्ति देव महियवंश—साधु हां भार्या वैसा पुत्र प्रगन्धा भार्या रेना पुत्र जैसी भा० तावसो पुत्र गणसेन.........इत्यादि"

१० चन्द्रप्रभु संघ-सहित—धातु—११ अं०—"सम्वत् १४११ वैसाख सुदी १३ श्रीमूलसंघे सा० नरवर सिंह नगरकोटेल गोत्रा ।"

११ आदिनाथ समूह,छत्र, भामण्डल, यक्षयक्षिणी-सहित—१४ अं०—धातु-"सम्वत् १५२१ वर्षे माघ सुदी १५ गोलरडे एहरजू पुत्रदेव साधु जू माथेमा ।"

१२ पार्श्वनाथ-धातु-८ अं०-"सम्वत् ११३३ ... मच्छिले साहु ... पीसकला ... ।"

१३ अजितनाथ—श्वेत-१० अं०-"सम्वत् १६८८ फाल्गुण शुक्ला ८ शनौ श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये भ० जगद्भूषण तदाम्नाये सा० जगदू तस्य सेवास पुत्र...... ।"

१४ शांतिनाथ पंचपरमेष्ठी—खाकी पा०—२४ अं०-भामण्डल, छत्र यक्षयक्षिणी-सहित, "सम्वत् १०१५ वर्षे माघ सुदी ५ मूलसंघे...... ।"

१५ चन्द्रप्रभु—समूह-सहित—धातु-१० अं०-"सम्वत् १२०८ सा० कुंवरपाल पत्नी सुधनी नित्यं प्रणमति ।"

१६ पार्श्वनाथ-धातु-६ अं०—"सम्वत् १४१५ माघ सुदी १५ रेसक की साहु जू ।"

१७ नेमिनाथ—कृष्ण पा०—५ अं०—"सम्वत् १८२१ प्रतिष्ठोयां ।"

१८ पार्श्वनाथ मन्दिर-सहित-धातु—३ अं०—"सम्वत् १७११ वर्षे माघ सुदी ५ श्री मूलसंघे भट्टारक श्रीनन्दुदेव ।"

१९ पार्श्वनाथ मन्दिर—सहित—धातु-३ अं०-"सम्वत् १६८८ वर्षे फाल्गुण सुदी ८ श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंद० भ० श्रीजगद्भूषणदेवास्तच्छिष्ये वृक्ष माधव कर्मक्षयार्थं नित्यं प्रणमति ।"

२० पार्श्वनाथ—स्फटिक—१॥ अं०—लेखरहित ।

२१ पार्श्वनाथ—कृष्ण पा०-६ अं०-"माघ बदी ६ सं० १६२५माघे मैनपुरी के सकल पंचन के ।"

२२ पार्श्वनाथ—धातु—२१ अं०—"श्री सम्वत् १६५५ माघ सुदी १२ शुद्धाम्नाय प्रतिष्ठितम् महापुरुष ।"

२३ पार्श्वनाथ—धातु—७ अं०—"सम्वद १४३६ श्रीमूलसंघेन श्रीप्रभाचन्द्र तच्छिष्य मंडलाचार्य श्रीधर्मचन्द्रस्तदाम्नाय खंडेलवाल तरान्वये पाटणी गोत्रे सा० टोकम भा० निहुरणा सरितस्तत्र प्रणमंति।"

२४ चंद्रप्रभु—७ अंगुल-धातु—"सं० १६५७ वैसाख बदी २ बनारसीदास प्रतिष्ठितं भोगांब मुवासीलाल की भौजे।"

२५ महावीर—धातु—६ अं०—"सं० १५३७ वर्षे वैसाख सुदि १४ रविवासरे श्रीमूलसंघे जैसवार सा० जैसिंह भार्या सामा पुत्र माधव कर्मक्षयार्थ निर्मितं।"

२६ चन्द्रप्रभु—धातु—४ अं०—"सं० १६५५ प्रतिष्ठितम् गुलालाल अजमेर।"

२७ पार्श्वनाथ—धातु-५ अं०—"सं० १४७१ लमेचू सीलखालेन पुत्र नित्यं प्रणमंति।"

२८ पार्श्वनाथ—४ अं०—धातु—लेखरहित।

२९ पार्श्वनाथ—४ अं०—धातु—"सं० १५२४ प्रतिष्ठितं।"

३० अर्हंत—धातु—३॥ अं०—लेख व चिह्नरहित।

३१ पार्श्वनाथ—धातु—३ अं०—"सं० १५०६...... ।"

३२ अर्हंत—धातु—"सं० १६५५।"

३३ ,, ,, लेखरहित।

३४ पार्श्वनाथ—धातु—३॥ अं०—"सं० १५४८"

३५ पार्श्वनाथ—धातु—३॥ अं०—लेखरहित।

३६ आदिनाथ—मटीला पा०—१० अं०—लेख मिट गया है। पढ़ने में नहीं आता। प्राचीन मूर्ति है जटाधार बाल हैं।

३७ पार्श्वनाथ—धातु—३ अं० "पं० शोभाराम।"

३८ पार्श्वनाथ—धातु—३ अं०—"सं ११२१"

३९ पार्श्वनाथ—धातु—२ अं०—लेख नहीं।

४० पार्श्वनाथ—धातु—३ अं०—"श्रीमूलसंघे सं० १४५०"

४१ आदिनाथ—श्वेत पा०—६५ अं०—"श्री संवत् १६५२ मिती माघ सुदी ५ काष्ठासंघ दिल्ली सिंहासनाधीश भ० श्री प्रकीर्तिदेवास्तदाम्नाये अग्रवाल बाबू छेदीलाल जी विशुचंद्र जी नरोत्तम दास जी प्रतिष्ठा करायितं कटेश्वर स्थां"।

नोट—जिनके साथ खड्गासन लिखा है उन बिंबों को छोड़कर शेष पद्मासन हैं।

श्री दि० जैन–मन्दिर कटरा मैनपुरी में कुल १४० मूर्तियां हैं, जिन में नीचे की प्रतिमाओं में लिंग–चिह्न नहीं है।

---

१ पार्श्वनाथ—धातु—६ अं०—"सं० १५१० ... ... "

१ पार्श्वनाथ—धातु—६ अं०—"सं० १५४८ वर्षे वै० सु० ५"

३ पार्श्वनाथ— „ „ "सं० १४५४ ... देव की......"

४ पार्श्वनाथ— „ —८ अं०—"सं० १५३३ ... ... "

५ अर्हंत तीन खड्गासन—धातु—५ अं०—"सं० १६५७ वै० ..."

६ पार्श्वनाथ—धातु—५ अं०—"सं० १६८८ वर्षे फाल्गुण सुदि ८ श्रीभट्टारक विजय ललित साक्षी तरतमत (?)"

७ पार्श्वनाथ—धातु—४ अं०—लेखरहित।

८ पार्श्वनाथ—धातु—६ अं०—"सं० १३३५ वैसाख सुदि ५ सा लेपंमखरतत्पुत्र मकम सहद है..."

९ महावीर समवशरण—धातु—१० अं०—"सं० १५२९ वर्षे वैसाख सुदि २ बुधे मूलसंघे भ० सिंहकीर्त्ति देवा। सा सहरदा पुत्र मोदिक जल्लू दिगम्बर मूर्ति जू सदा सहाई विलसी।"

१० महावीर समूह-सहित—धातु—१० अं०—लेख पूर्ववत्।

११ महावीर समूह—भामंडल—छत्र—यक्षादि—सहित—श्वेतपाषाण—१८ अं०—"विजपाल नागपाल"

१२ अर्हन्—११ अं०—हरितकृष्ण पा०—लेखरहित।

१३ अर्हन्—५ अं०—कृष्ण पा०—लेखरहित।

१४ मुनिसुव्रतनाथ—लाल-काला पा०—"सं० १५०८ वैशाष वदि ८ ... वैशाष वदि अष्टमी परतीष्ट सधामि उपधारी......"(?)

१५ पार्श्वनाथ—स्फटिक—५ अं०—लेखरहित।

१६ अर्हत्—खाकी पा०—५ अं०—लेखरहित।

१७ पार्श्वनाथ—धातु—६ अं०—"सं० १५४१ मूलसंघे इत्यादि"

१८ पार्श्वनाथ—धातु—८ अं०—"सं० १५३० माघ सुदि ११ भ० देवचन्द्र सा० तेऊ पुत्र भोजादेव प्रतिष्ठापितं।"

१९ महावीर—धातु—७ अं०—"सं० १८०२ ... ...।"

२० अरहनाथ समूह—धातु—६ अं०—"सं० १५४५ वैसाष सुदि ७ श्री काष्ठासंघे भ० कमलकीर्ति साहसुरू ... पुत्र वीधा ..."

२१ **महावीर समवशरण**—धातु—१४ अं०—"सं० १५३७ वर्षे वैसाष सुदि १० गुरौ श्रीमूलसंघे भ० जिनचन्द्राम्नाये मंडलाचार्य विद्यानन्दी तदुपदेशं गोलारारान्वये पिथु पुत्र........।"

२२ **महावीर समूह**—धातु—१४ अं०—सं: १५१० वर्षे माघ सुदि ८ सोमे काष्ठासंघे भट्टारक कमलकीर्ति देव अग्रोत्कान्वये गर्गगोत्रे ता० रन भा० देन्हो पुत्र सहज भा० वारु पुत्र षेमचन्द् प्रणमन्ति ।

२३ **सुमतिनाथ समूह**—धातु—११ अं०—"सं० १५५१ वर्ष वैसाष सुदि १३ गुरो बरहडाश्रा गोत्रे ऊकेश ज्ञातीय सा० शिवाभार्या सिंगार सुत देपति भार्या देहलणदे सुत राचणे तसश्रयोर्थंयी श्रीसुमतिनाथबिंबं कारितं प्रतिष्ठितं तं वा **श्रीहेमविमल सूरिभिः** ॥" नागुर ग्रामे ॥

२४ **पार्श्वनाथ**—स्फटिक—४ अं०—लेखरहित ।

२५ **अर्हत्**—धातु—५ अं०—"सं० १४१२ वर्षे वैसाष सुदी १३ बुधे श्रीमूलसंघे प्रतिष्ठाचार्य श्री प्रभाचन्द्रदेव लम्बकञ्चुक सा न्याङ्गदेव भार्या ताग पुत्र लाखड़ भार्या महादेवी वारम्वार प्रणमति ।"

२६ **पार्श्वनाथ**—धातु—४ अं०—लेखरहित ।

२७ **श्रेयांसनाथ**—धातु—४ अं०—"सं० १५२५ चैत्र शुक्ले ३ बुधे श्रीमूलसंघे श्रीसिंहकीर्ति प० ह० पु० लंबकंचुकान्वये साधे मिरडे भार्या सोना पुत्र सा० जल्लू भार्या मना प्रणमन्ति ।"

२८ **पार्श्वनाथ**—धातु—६ अं—"सं० १५४६ ज्येष्ठ वदी ६ भ० श्री हेमचन्द्राम्नाये गोयलगोत्रे सा० ऊदा भार्या पोवाही पुत्र सोमनसिंह ।"

२९ **चोवीसीपट्ट**—धातु—७ अं०—"सं० १७१६ वर्षे चैत्रवदी ४ श्रीमूलसंघे भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति..."

३० **पार्श्वनाथ**—धातु—५ अं—"सं० १४०१ वैसाष १४ सुदी लमेचू सा० रमू......।"

३१ **आदिनाथ**—धातु—४ अं०—"सं० १५३२।वर्षे वैसाष वदी १४ सं० महिपरु पुं० संपरसुपुधेजसि।"?

३२ **पार्श्वनाथ**—धातु—६ अं०—"श्री मूलसंघे भ० श्री विमलेन्द्रकीर्ति सा० वीरपालू भार्या वरणी बाई तेसुं"।

३३ **पार्श्वनाथ**—धातु—७ अं०—"सं० १६६६ चैत सुदी १५ रवौ भ० ललितकीर्ति भ० धर्मकीर्ति तदुपदेशात् सा० पदारथ भार्या जिवा पुत्र दो खेमकरण पमापेता नित्यं नमति ।"

३४ **पार्श्वनाथ**—धातु—६ अं०—"श्री मूलसंघे भ० जिनचन्द्र उपदेशात्......।"

३५ **अर्हत्**—धातु—६—"सम्वत् १५२५ फाल्गुण......।"

३६ **अर्हत्**—धातु—३ अं०—"सं० १५७५ .....।"

३७ **पार्श्वनाथ**—धातु—४ अं० "सं० १५०५ वैसाष सुदी ५ शुभमस्तु ।"

३८ **पार्श्वनाथ**—धातु—४ अं०—लेखरहित ।

३९ **नेमिनाथ**—धातु—४ अं०—"सं० १६८६ वस ।"

४० पार्श्वनाथ—धातु—४॥ अं०—"सं० १५३१ मूलसंघे सा०......।"

४१ पार्श्वनाथ—धातु—३ अं०—"सं० १२०४......"

४२ आदिनाथ—धातु—३॥ अं०—"सं० १५२२......"

४३ पार्श्वनाथ—धातु—४ अं०—"श्री भट्टारक रामसेन"

४४ चन्द्रप्रभ—धातु—४ अं०—"सं० १६०१ फाल्गुन सुदि ६ मूलसंघे धर्मकीर्ति आचार्य सा० महन् भार्या भानुमती पुत्र सर्वन......"

४५ पार्श्वनाथ—धातु—३॥ अं०—लेख लुप्त।

४६ पार्श्वनाथ—धातु—४ अं०—"सं० १६८५ वैसाख सुदी ३"

४७ पार्श्वनाथ—धातु—६ अं०—"सं० १५२१ वैसव सावन सुदी ५ बुधे श्रीमूलसंघे"।

४८ अर्हत् मन्दिर-सहित—धातु—१ अं०—"सं० १६८६......"

४९ पार्श्वनाथ—धातु—४ अं०—"सं० १५१४ चैतसुदी १ बुधे"

५० पार्श्वनाथ—धातु—४ अं०—"सं० १५१४"

५१ पार्श्वनाथ—धातु—४ अं०—"सं० १४३८ वर्षे......"

५२ पार्श्वनाथ मंदिर—धातु—१ अं०—"सं० १७४६ माह सुदी...श्रीमूल संघे भ० श्रीजगत्कीर्ति संघई श्रीकृष्णदास"

५३ अरिहंत—धातु—४ अं०—"श्री मूलसंघे बाई करया"

५४ पार्श्वनाथ—धातु—५ अं०—लेखरहित।

५५ आदिनाथ—धातु—४॥ अं०—"सं० १५२५ वर्षे चैत सुदी १५ श्रीमूलसंघे भ० सिंहकीर्तिदेव गोलाराडान्वये साधु भडयार......"

५६ अर्हत्—खड्गासन—धातु—५ अं०—"सं० १४७३ श्रावण वदी १ श्रीकाष्ठासंघे भ० श्रीगुणकीर्ति सा० जिनदास"।

५७ अर्हत्—धातु—५ अं०—"सं० १४१३ वर्षे वैसाव सुदी १३ बुधे श्रीमूलसंघे प्रतिष्ठाचार्य श्री जिनचन्द्रदेव लंबकंचुक साहु सहदेव भार्या चम्पा पुत्र दोतदेव भार्या मूल। पुत्र लखनदेव पद्मदेव धर्मदेव प्रणमन्ति नित्यं।"

५८ चंद्रप्रभ—धातु—४ अं०—"सं० १६०१ फागुन सुदी ६ भ० धर्मकीर्त्याचार्य जसपालदासु भार्या "राजमति करापिता।"

५९ पार्श्वनाथ—धातु—५ अं०—"सं० १२४२......"

६० अर्हत्—धातु—४ अं०—"सं० १४१४ वैसाप सुदी १५ श्री काष्ठासंघे सा० रयह पुत्र नानिग।"

६१ बिमलनाथ—धातु—३॥ अं०—"श्री अम्ब० सा० लूणा सुत सा० रत्ना विमलनाथ।"

६२ अर्हत्—धातु—४ अं०—"सं० १५५७ वर्षे फाल्गुण वदी २ मूलसंघे।"

६३ पार्श्वनाथ—कृष्ण पाषाण—४ अं०—"सं० १५६२ श्रीमूलसंघे भ० जिनचन्द्रदेव......।"

६४ अर्हन्त तीन (खड्गासन)—धातु—७ अं०—"सं० १५२५ वर्षे चैत्रवदी १ बुधे मूलसंघे भ० सिंहकीर्ति:बाई महासिरि सा० नजू भार्या भूरी पुत्र बहोरु भार्या वधी।"

६५ अर्हत्—धातु—६ अं०—"सं० १५२० वर्षे आसाढ़ सुदी ७ श्रीमूलसंघे खंडेलवालान्वये सा० हरिदास प्रणमन्ति।"

६६ पार्श्वनाथ—धातु—२॥ अं०—"श्रीशुभ......"

६७ पार्श्वनाथ—धातु—६ अं०—"सं० १५४० वैसाष सुदी १० मूलसंघे।"

६८ पार्श्वनाथ—धातु—६ अं०—"सं० १६६२ माघ वदी १ मूलसंघे संघई अहिमनि"

६९ पार्श्वनाथ—धातु—६ अं०—"सं० १४५२......"

७० अर्हत्—धातु—५ अं०—"सं० १४१३ वर्षे वै० सु० १३ बुधे......"

७१ अर्हत्—धातु—४ अं०—लेख पढ़ने में नहीं आता।

७२ पार्श्वनाथ—धातु—६ अं०—"सं० १५६२ माघ वदी ५ श्रीमूलसंघे सा० बहगु भार्या हरिदेवि।"

७३ पार्श्वनाथ—धातु—६ अं०—"सं० १५४५ वर्षे......"

७४ पार्श्वनाथ—धातु—६ अं०—"सं० १५५४ वैसाष सुदी ३ चन्द्रे सा० भुलू भार्या भरनो..."

७५ पार्श्वनाथ—धातु—६ अं०—लेख पढ़ा नहीं जाता।

७६ पार्श्वनाथ—धातु—४ अं०—लेखरहित।

७७ अर्हत्—धातु—२॥ अं०—"सं० १५२६"

७८ पार्श्वनाथ—धातु—५ अं०—"सं० १५०३......"

७९ पार्श्वनाथ—धातु—३ अं०—"सं० १४६०"

८० पार्श्वनाथ—धातु—७ अं०—"सं० १६६६ चैत्र सुदी १ मूलसंघे भ० ललितकीर्ति भ० धमकीर्ति उपदेशात् सरूपचन्द्र प्रतिष्ठापितम् पौरपदेसापदिकुं पुत्र भावते ?।"

८१ अजितनाथ—धातु—७ अं०—"सं० १५११ श्रीमूलसंघे ब्र० जिनदास उपदेशात् पौरवाड़ जाति सा० रहुणा भार्या गोलसिरि पुत्र गर्जू भोजराज प्रणमन्ति।"

८२ पार्श्वनाथ—धातु—७ अं०—"सं० १५३७......"

८३ आदिनाथसमवशरण—बलबखिणी-सहित—धातु—१६ अं०—"सं० १५३० वर्षे माघ सुदी ६......"

८४ पार्श्वनाथ—धातु—३ अं०—"सं० १५१० सा० पन्नालाल"

८५ पार्श्वनाथ—धातु—४ अं०—लेखरहित।

८६ पार्श्वनाथ—धातु—१॥ अं०—"श्रीमूलसंघे"

८७ पार्श्वनाथ—धातु—३॥ अं०—"सं० १५३४ वैसाख सुदी १० ....."

८८ अर्हत्—बलबखिणी-सहित समवशरण—धातु १६ अं० बीच में खड्गासन शेष १३ पद्मासन चहुंओर सिंह तथा लेखरहित।

८९ पार्श्वनाथ—धातु—८ अं०—"सं० १५३४ वर्षे फाल्गुण सुदी ८ भौमे श्रीमूलसंघे सा० बढ़ भार्या ब्रह्मदेवी......"

९० पार्श्वनाथ—धातु—७ अं०—"सं० १५४८ श्रीमूलसंघे श्रीभुवनकीर्ति दीक्षिता गोलसिंगारी आर्या ज्ञानश्री नित्यं प्रणमंति।"

९१ आदिनाथ समवशरण यक्षयक्षिणी-सहित—धातु—२५—अं०—"ॐ संवत् १४५० वर्षे वैशाख सुदी १२ गुरौ श्री चाहुवानवंशह्‌ शेषर प्रकाशनमार्तंड सारवै विक्रमन्व श्रीमत सरूप भूपस्वान्वय भुंडदेवात्मजस्व भुवजूशक्रस्व श्रीसुवर नृपतेः राज्ये वर्तमान श्रीमूलसंघ भ० श्रीप्रभाचंद्रदेव तत्पदे श्रीपद्मनन्दि देव तदुपदेशे गोलाराडान्वये ......इत्यादि"।

९२ पार्श्वनाथ—धातु—३ अं०—"सं० १५०२ वैसाख सुदी १।"

९३ ,, ,, ,, ,, ,,

९४ ,, ,, ,, ,, ,,

९५ ,, ,, ,, ,, ,,

९६ पार्श्वनाथ—धातु—८ अं०—"सं० १५१५ वर्षे माघ सुदी ५ भौमे श्री मूलसंघ सरस्वती गच्छे भ० जिनचन्द्रदेव गोलाराडान्वये सा० अभू भार्या हको......"

९७ पार्श्वनाथ—धातु—७ अं०—लेख लुप्त हो गया।

९८ पार्श्वनाथ—धा०—८ अं०—"सं० १५३१ फाल्गुण सुदी ५......।"

९९ आदिनाथ समवशरण यक्षयक्षिणी सहित—धातु—११ अं०—"सं० १५२९ वै० सुदी ७ बुधे श्रीकाष्ठासंघे भ० श्री मलयकीर्ति भ० गुणभद्राम्नाये अग्रोत्कान्वये मित्तल गोत्र आदि"।

१०० संभवनाथ—धातु—१६ अं०—समवशरण—लेख नहीं।

१०१ आदिनाथ समवशरण यक्ष०—धातु—१८ अं०—"सं० १५३१ फाल्गुण सुदी ५ शुक्रे श्री काष्ठासंघे भ० गुणभद्राम्नाये जैसवाल सा० काल्हा भार्या जयश्री आदि।"

१०२ नेमिनाथ—धातु—३ अं०—लेख पढ़ा नहीं गया।

१०३ पार्श्वनाथ—धातु—३ अं०—"सं० १२०४"

१०४ अर्हत् तीन खड्गासन—धातु—३ अं०—"सं० १५१५......

१०५ पार्श्वनाथ—धातु—११ अं०—"सं० १९२७ वै० सुदी १२ सोमवासरे...मूलसंघे दिगम्बराम्नाए श्रीकुंदकुंदाचार्योपदेशात् भोगांवनगरे बढ़ेलवाल वंशोद्भवे गिरधारीलाल बनारसी दास प्रतिष्ठितम् नित्यं प्रणमंति कटरा पन्नीलाल"।

१०६ अजितनाथ—श्वेत पा०—२८ अं०—"श्रीशुभ संवत्सरे नृपति विक्रमादित्य राज्यस्थ सं० १२०५ शाके १५६३ फाल्गुन सुदी ८ सोमवासरे श्रीमधणपुरि पातिसाह श्री मत्साहजहां राज्ये प्रवर्तमाने श्रीमूलसंघे गच्छे भ० श्रीमज्जिनप्रभसूरि तेतो भ० श्री जिनभान......"

वैद्य-सार

(अनुवादक—पं० सत्यन्धर जैन, आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

१—त्रिदोष पर महारस सिन्दूर

शुद्धं पारदषड्गुणोक्तसुरभि-जीर्णीकृतं तद्रसं
युक्त्योक्तं नवसारकं मणिशिला-पंचांशकं टंकणं ।
वज्रसारकलांशकैर्विमिलितं गंधार्धभागं क्रमात्
सर्वं खल्वतले विमर्द्य शुभगे योगादियुक्ते दिने ॥१॥
कन्याभास्करहंसपाद्यनलकैर्जंबीरनीरार्जुनी
गोजिह्वानखरंजितं फणिलतापार्थैश्च संमर्दितं ।
तत्कल्कातपशोषितं च सर्वं संरुध्य कूप्यां तथा
यंत्रे त्र्यंगुलवालुकास्थितयुतं तत्पूरितं भांडकं ॥२॥
पक्वं द्वादशयामकं क्रमगतं चोद्धृत्य सूतं गतं
खल्वे पूर्वकृतं विधाय निखिलद्रव्यान्वितं मर्दयेत् ।
प्राग्वत् कूपिकसंस्थितं दिनयुगं पक्त्वा क्रमाग्नि शनैः
पश्चादागतसिद्धसूतमखिलं संमर्दयेत् तद्द्रवैः ॥३॥
यंत्रोक्तक्रमसिद्धकैः कृतचतुर्विंशानुयामं क्रमात्
सूतं पक्वमिति त्रिवारमुचितं सिद्धं रसेन्द्रं बुधैः ।
पक्वं द्वि त्रि यथाक्रमैः दशशताधिक्यात् सहस्राद् गुणैः
तस्मात् सर्वगुणानुयोगमधिकं युक्त्या त्रिवारं पचेत् ॥४॥
पक्त्वादाय सुसिद्धमंगलमिदं पूजोपचारैः क्रमम्
उद्यद्भास्करसंनिभं च विमलं तत्सूर्यभारंजितं ।
सिद्धं सूतरसायनं गदहरं धर्मार्थकामप्रदं
तत्सूतं मरिचाज्ययुक्तमनिलं हन्यात् सिताज्यैर्जयेत् ॥५॥
पित्तं क्षौद्रकणान्विते कफगदं व्योषार्कक्षारेण सह
मन्दाग्निं स च सन्निपातसकलं योगानुपानैर्जयेत्
श्वासं कासमरोचकं क्षयहरं कामाग्निसंदीपनं
तुष्टिं पुष्टिबलावहं सुखकरं लावण्यहेमप्रभं ॥६॥

नित्यं सेवितशाश्वतं रसवरं योगोत्तरं सर्वदा
रोगात् सज्जनरक्षणार्थभिषजः कीर्तिं करोति सदा
सर्वं लोकहितंकरं विरचितं शास्त्रानुसारैः क्रमात्
विख्यातं करुणाकरं रसवरं श्रीपूज्यपादोदितम् ॥७॥

टीका—दोषरहित तथा छह गुणों से सहित स्वच्छ शुद्ध तथा शोधन मारण करने वाले द्रव्यों से जीर्ण अर्थात् आठ संस्कार अथवा अट्ठारह संस्कार से शुद्ध किया हुआ पारा तथा शुद्ध नवसादर तथा शुद्ध मैनशिला ये तीनों समान भाग तथा पारे से पांचवे भाग सुहागा, पारे से १६ वां भाग शातलाक्षार (थूहर) तथा पारे से आधा शुद्ध गंधक (आंवला सार गंधक) सबको मिला कर शुभ दिन, शुभ नक्षत्र शुभमूहूर्त में खरल में मर्दन करके घीकुमारी, (गंवार पाठा) आक का दूध, हंसराज (तिपतिया), चित्रक, जंबीरी नींबू को रस, तथा नत्रिक, गोभी, नखरंजित (एक सुगंधित पदार्थ) नागर वेल (पान) कोहा, इनके स्वरस में एक २ दिन अलग २ खूब मर्दन करके घाम में सुखा करके कांच की शीशी में बंद करे तथा बालुकायंत्र में शीशी के नीचे ३ अङ्गुल बालुका रहे फिर शीशी के मुंह तक बालुका भर देवे और उसको क्रम से मन्द, मध्य, खर आँच १२ प्रहर तक देवे फिर उस शीशी में से वह पारा निकाल कर उसे उपर्युक्त सब औषधियों के स्वरस में अलग २ मर्दन करे तथा दो दिन तक फिर बालुकायंत्र में पकावे, पाक होने पर पारा निकाल कर उन्हीं द्रव्यों के स्वरस में घोंट एवं सुखा कर बालुकायंत्र में पकावे तथा २४ प्रहर तक बराबर आँच दे। इस प्रकार तीन बार पाक करे तो यह योग सहस्र गुणों से युक्त होता है इसलिये इसको युक्तिपूर्वक तीन बार अवश्य ही पकावे। यह पका हुआ पारा सिद्ध होने पर मंगलमय है तथा इसको इष्टदेव की पूजा करके सेवन करे। यह उदय हुए सूर्य के रङ्ग के समान स्वच्छ, उत्कृष्ट सूर्य की आभा-सहित सिद्ध पारद रसायन (महारस सिन्दूर) अनेक रोगों को हरनेवाला धर्म, अर्थ, काम को देनेवाला होता है। काली मिर्च तथा घी के साथ खाने से वायु-रोग शान्त होते हैं तथा पीपल और मधु के साथ सेवन करने से कफ-जन्य रोग शान्त होते हैं, सोंठ, मिर्च, पीपल और अर्कक्षार (अकौने के क्षार) के साथ सेवन करने से मंदाग्नि शान्त होती है। तथा अनेक अनुपान के योग से सम्पूर्ण सन्निपातों को और श्वास, कास अरोचक, क्षय को जीतता है, कामाग्नि को दीपन करनेवाला, शरीर को हृष्ट-पुष्ट करनेवाला, बल को देनेवाला, सुखप्रद, सुन्दरता को देनेवाला यह सुवर्ण के समान कान्तिवाला योग नित्य ही सेवन करना चाहिये। यह योग सज्जनों की रक्षा करने एवं वैद्यों को कीर्त्ति का देनेवाला तथा सम्पूर्ण लोक का हित करनेवाला शास्त्र के अनुसार श्रेष्ठ श्रीपूज्यपाद स्वामी ने कहा है जो प्रसिद्ध है और श्रेष्ठ रस है।

२—प्रमेह पर वंग-भस्म

शरावे निक्षिपेत् शुद्धं बंगं पलचतुष्टयम्।
दीप्यकं तु चतुःप्रस्थं द्विप्रस्थं रजनीरजः ॥१॥
विलीनवंगं तज्ज्ञात्वा गालयेद्भस्मवद्भवेत्।
विदारीकंदो मुसली गोक्षुरो भूमिशर्करा ॥२॥
सुरवल्ली सारकः साम्यमेतेषां द्विगुणा सिता।
बंगभस्म पणैकं तु योजयित्वा तु भक्षयेत् ॥३॥
चुलुकं सितोदकं पानं द्विदलैश्चाम्लवर्जितम्।
सर्वप्रमेहविध्वंसि पूज्यपादनिरूपितम् ॥४॥

टीका—एक मिट्टी के गहरे सरावे में अथवा हंडी में शुद्ध बंग (रांगा) के १६ तोला लेकर डाल देवे और उसके नीचे आगी जलावे जब वह गल जावे तब उसमें ५२ छटांक जीरे का चूर्ण पीस कर डाले तथा ३२ छटांक हल्दी का चूर्ण डालता जावे इस प्रकार डालते रहने से रांगे का भस्म तैयार हो जायगी। जब वंग भस्म वारितर हो जाय (जल में तैर जावे अर्थात् नीचे नहीं डूबे) तब नीचे लिखे अनुपान से सेवन करे। यथा विदारीकंद, मूसली, गोखुरू, भूमिशर्करा, गुर्च का सत ये पाँचो तीन तीन माशे लेकर सब का चूर्ण करे तथा सबके बराबर उत्तम मिश्री मिलाकर चूर्ण तैयार करले और फिर १ पण (५ रत्ती) वंग भस्म लेकर उसमें मिलावे तथा प्रतिदिन प्रातःकाल तथा सायंकाल मिश्री की चासनी से सेवन करे तथा उसके ऊपर एक चुल्लू मिश्री का पानी पीवे तथा खटाई और दाल की बनी चीजें नहीं सेवन करे। प्रमेहों का नाश करनेवाला यह योग श्रीपूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ है।

३—प्रमेहादि पर कर्पूररस

शुद्धं सूतं पलमितं समादाय पुनस्ततः।
सैन्धवं स्फाटिकं सम्यक् शुद्धं त्रिचतुः पलं ॥१॥
चूर्णयित्वाथ जंबीररसेन परिमर्दयेत्।
तस्योपरि रसं क्षिप्त्वा समालोड्य विमीलयेत् ॥२॥
हंडिकायां च तत्कल्कं क्षिप्त्वोपरि शरावकं।
निरुध्य संधिं बध्नीयात् दृढं मृण्मयकर्पटैः ॥३॥
रवियामं पचेद्यत्नात् ऊर्ध्वं भांडगतं भवेत्।

तच्चूर्णं रूपिणं सूतं समादाय पुनस्ततः ॥४॥
नवसारं क्षिपेत् सार्धनिष्कमात्रं ततः पुनः।
प्रथमं नवसारं तु चूर्णयित्वाथ भस्मकं ॥५॥
विचूर्ण्य मेलनं कृत्वा काचकूप्यां प्रपूरयेत्।
कूपीद्वारं तु बध्नीयात् खरया सूत्रेण बंधयेत् ॥६॥
द्वारं विहाय संपूर्णं मृदा सम्यक् प्रलेपयेत्।
हंड्यामथ च बालुकया चतुरङ्गुलमात्रकम् ॥७॥
प्रपूर्य कूपिमूर्धानमूर्ध्वं कृत्वा क्षिपेदथ।
शेषं बालुकयापूर्य चतुरङ्गुलसंमितं ॥८॥
ऊर्ध्वदेशं शरावेण समाच्छाद्याथ लेपयेत्।
संधिं मृदा दृढ़ं यत्नाच्चुल्ल्यामारोप्य यंत्रकम् ॥९॥
दिवारात्रि पचेद्धीमान् चाग्नि तत्क्रमवृद्धिना ?।
ज्वालयेन्निर्निमेषेण पारदं च परिक्षयेत् ॥१०॥
दृढ़ं कर्पूररूपेण रसः कर्पूरतां व्रजेत्।
मेहानां विंशतिं हन्यात् चतुराशीतिवातजान् ॥११॥
स्फोटं श्वासं च कासं च पांडुं प्लीहं हलीमकम्।
संधिशोफे क्षीणबले संधिवाते कफग्रहे ॥१२॥
अर्दिते पक्षघाते च हनुवाते गलग्रहे।
चित्तभ्रमे भग्नकामे निःप्रतीते तुनीहते ॥१३॥
श्वेतकुष्ठे दद्रुरोगे प्रदातव्यं भिषग्वरैः।
गुंजामात्रमिदं खादेत्—शर्करामधुनाथवा ॥१४॥
दुग्धं सेव्यं दिने तस्मात् द्राक्षाखर्जूरकं तथा।
नारंगं नारिकेलं च कदलीफलकं तथा ॥१५॥
तक्रसारः प्रदातव्यः रसे च कुपिते तथा।
योगोऽयं प्रयुक्तः स्यात् पूज्यपादेन स्वामिना ॥१६॥

टीका—शुद्ध पारा ८ तोला लेकर तैयार रक्खे, फिर सेंधा नमक और फिटकरी दोनों को शुद्ध कर क्रम से ८ तोला और १६ तोला लेकर दोनों चूर्ण कर जंबोरी नींबू के रस में मर्दन कर लुगदी बनावे और फिर उस लुगदी में उस पारे को मिला देवे फिर एक पक्की हंडी में कपड़मिट्टी करके उसके भीतर उस लुगदी को रख कर ऊपर एक सरावा ढाँक कर पक्की कपड़मिट्टी करे और उसको १२ प्रहर तक आँच देवे और ठंडा होने पर ऊपर लगा

हुआ जो सफेद रंग का हो उसको यत्नपूर्वक निकाल लेवे, और फिर उस निकाले हुए द्रव्य में ४॥ मासा (६ आने भर) नौसादर मिलावे दोनों को खूब पीसकर काँच की शीशी में बंद करे कूपी का मुख खड़िया मिट्टी से अच्छी तरह बंद करे, और फिर हंडी में शीशी का ऊँचा मुख करके बालू भर देवे परन्तु बालू इतनी भरे कि शीशी की तली ४ अंगुल खाली रहे। ऊपर से एक सरावा ढाँक देवे और कपड़मिट्टी कर देवे तथा चूल्हे पर चढ़ा देवे तथा एक दिनरात पकावे किन्तु आँच क्रम से हीन, मध्यम, तीखी देवे और जब स्वांग शीतल हो जाय तब खोलकर कपूर के समान जमा हुआ जो पारा है वह निकाल लेवे बस इसी का नाम रस कपूर है। यह रस कपूर २० प्रकार के प्रमेह चौरासी प्रकार के वातरोग, फोड़ा, श्वास, खाँसी, पांडुरोग, प्लीहा—हलीमक, संधिशोथ, क्षीणता, संधियों की जकड़ाहट, कफ की जकड़ाहट, अर्दित रोग, पक्षाघात, हनुवात, गलग्रह, चित्तभ्रम, अनिच्छा (नपुंसकता) इत्यादि रोगों में वैद्यवरों को देना चाहिये। इसकी मात्रा एक रत्ती है। इसको मिश्री तथा शहद के साथ देना चाहिये। इसके ऊपर दूध का सेवन अवश्य करना चाहिये तथा इसके पथ्य में मुनक्का, खजूर, नारङ्गी, नारियल, केला अवश्य देना चाहिये। रसधातु के कुपित होने पर तक्र देना चाहिये। यह उत्तम योग पूज्यपाद-स्वामी ने कहा है

४—क्षयरोग पर वज्रेश्वर रस

कर्षं खर्परसत्त्वं स षणमासे हेमविद्रुते
निक्षिपेच्चूर्णयेत् खल्वे षणिष्कौ सूतगंधकौ ॥१॥
अंकोलुकं कुणीबीजं तुल्यांशं तालकश्चतुः।
मुक्ताप्रवालचूर्णं तु प्रतिनिष्काष्टकं क्षिपेत् ॥२॥
मृतलौहस्य निष्कौ द्वौ टंकणस्याष्टनिष्ककं।
द्वौ निष्कौ नीलकटुक्यौ वराटानां च विंशतिः ॥३॥
शीसः निष्कत्रयं योज्यं सर्वं खल्वे विमर्दयेत्।
चांगेर्यम्लेन यामैकं जंबीराम्लैः दिनद्वयम् ॥४॥
रुद्ध्वा पुटाष्टकं देयं हस्तमात्रं तुषाग्निना।
जंबीरोत्थद्रवैरेव पिष्ट्वा पिष्ट्वा पुटे पचेत् ॥५॥
ततो वनोत्पलैरेव देयं गजपुटं महत्।
आदाय चूर्णयेत् श्लक्ष्णं चूर्णार्धं शुद्धगंधकं ॥६॥

गंधार्धं मरिचं चूर्णमेकीकृत्य त्रिमाषकं।
लेहयेन्मधुना सार्धं नागवल्लीरसेन सह ॥७॥
पथ्यं तु प्रतियामं स्यादभुक्ते विषवद्भवेत्।
रसो वज्रेश्वरः ख्यातः क्षयपर्वतभेदकः ॥८॥
उत्तमो राजयोगोऽयं पूज्यपादेन भाषितः।

टीका—एक तोला खपरिया का सत्व लेकर छह माशे शुद्ध सोने को गला कर उस में डाल दे फिर दोनों का चूर्ण कर छह निष्क (१॥ तोला) पारा गंधक तथा अंकोलक १॥ तोला मालकांगनी १॥ तोला शुद्ध तबकिया हरताल तथा अभ्रकभस्म, कांत लौहभस्म, ताम्र-भस्म चार २ निष्क (१ तोला) तथा शुद्ध मोती और शुद्ध प्रवाल आठ आठ निष्क (२ तोला) लेकर तथा लौहभस्म २ निष्क एवं सुहागा शुद्ध आठ निष्क (२ तोला) नील और कुटकी २ तोला २ शुद्ध पीली गठीली कौड़ी २० तोला, शुद्ध शीसा भस्म तीन निष्क लेकर सबको एकत्रित कर चांगेरी के रस में १ पहर तक घोंटे फिर सबको टिकिया बनाकर संपुट में बंदकर १ हाथ का गड्ढा करके तुष की अग्नि के द्वारा पुट देवे और फिर जंबीरी नींबू के रस की भावना देवे इस प्रकार आठ पुट देवे फिर आठ पुट के बाद जंबीरी नींबू के रस की भावना देकर जंगली कंडों से १ गजपुट देवे फिर सबको चूर्ण करके चूर्ण से आधा शुद्ध आँवलासार गंधक लेवे तथा गंधक से आधी काली मिर्च लेकर सबको एकत्रित कर तीन तीन माशे शहद और पान के रस के साथ प्रातःकाल एक बार सेवन करे एवं इस दवाई के सेवन करने पर प्रत्येक पहर के बाद पथ्यपूर्वक भोजन करे यदि इस औषधि के सेवन करने पर पथ्य सेवन न किया जायगा तो यह औषधि विष के समान काम करेगी। यह वज्रेश्वर रस क्षय अर्थात् राजयक्ष्मा-रूप पर्वत के नाश करने के लिये वज्र के समान है। यह उत्तम राजयोग पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ बहुत उत्तम है।

५—शीतज्वर पर शीतांकुश रस

तुल्थमेकं त्रयं तालं शिलाचैव चतुर्गुणं
धत्तूरस्य रसैर्मर्द्यः कुक्कुटीपुटपाचितः ॥१॥
शीतांकुशरसो नाम शीतज्वरनिवारणः
शीतज्वरविषघ्नोऽयं पूज्यपादेन भाषितः ॥२॥

टीका—१ भाग शुद्ध तूतिया, ३ भाग शुद्ध तवकिया हरताल, ४ भाग शुद्ध मैनशिला, ४ भाग जवाखार सबको एकत्रित कर धतूरे के रस से मर्दन कर कुक्कुट पुट में पका कर रत्तियों के प्रमाण में सेवन करे तो इससे शीतज्वर दूर होता है—यह शीत ज्वररूपी विष को नाश करनेवाला पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

६—मुत्रकृच्छ्र पर कृच्छ्रांतक रस

पारदाभ्रकवैक्रान्तहेमकांतनिगंधकम् ।
मौक्तिकं विद्रुमं चैव प्रत्येकं स्यात् पृथक् पृथक् ॥१॥
समं निंबूरसैर्मर्द्यं मूषायां संनिरोधयेत् ।
पंचविंशतिपुटान् दद्यात् ततः सर्वं विचूर्णयेत् ॥२॥
माषमात्ररसं दद्यान्नवनीतसितायुतं ।
बिदारी तुलशी रंभा जाती बिल्वं शतावरी ॥३॥
मुस्ता निदिग्धिका वासा धात्री छिन्नोद्भवा कुशा ।
पाषाणभेदी सर्पाक्षी चेक्षुकृष्णा त्रिकंटकं ॥४॥
एर्वारुबीजयष्ट्यमिधामेला (?) चंदनबालुकं ।
सर्वं संचूर्ण्य यत्नेन क्वाथयित्वा पिबेदनु ॥५॥
मूत्रकृच्छ्राश्मरीमेहवातपित्तकफामयान् ।
क्षयाद्यखिलरोगांश्च नाशयेन्नात्र संशयः ॥६॥
रसः कृच्छ्रांतको नाम पिटकादिव्रणान् जयेत् ॥

टीका—शुद्ध पारा, अभ्रक भस्म, वैक्रांत मणिभस्म, सुवर्णभस्म, कान्तलौहभस्म शुद्ध गंधक, शुद्ध मोती, शुद्ध मूंगा, ये सब चीजें अलग अलग बराबर बराबर लेकर नींबू के स्वरस में मर्दन कर मूषा में बंद कर पचीस पुट देवे। प्रत्येक पुट में नींबू के रस की भावना देवे इस प्रकार सब का भस्म बन पर जाने पर सबको चूर्ण कर एक माशा प्रतिदिन मक्खन और मिसरी के साथ खावे तथा औषध के खाने के बाद ही नीचे लिखा काढ़ा पीये। बिदारीकंद, तुलशी, केला कंद, चमेली-पत्ती, बेल की छाल, शतावर, नागरमोथा, छोटी कटहली, अड़ूसा, आँवला, गुरबेल, कुश की जड़, पाषाणभेद, सर्पाक्षी, गन्ना, पीपल, गोखरू, ककड़ी के बीज, मुलहटी, छोटी इलायची, सुगन्धवाला, सफेद चन्दन इन सब इकीस चीजों को कूटकर काढ़ा बनाकर पीये। यह ऊपर की दवा का अनुपान है। इसके सेवन करने से मूत्र-कृच्छ्र, पथरी, प्रमेह, बात-पित्त, कफ के रोग तथा क्षय वगैरह संपूर्ण रोगों को नाश करता है। यह मूत्रकृच्छ्रान्तक रस उत्तम है।

७—विबन्ध (कोष्ठबद्धता) पर विरेचक तैल

रसगंधकनेपालदंतिबीजानि टंकणं।
एरंडं तुंबिबीजानि राजवृक्षाभयात्रिवृत् ॥१॥
पलाशबीजमेकैकं वृद्धिभागोत्तरेण च।
स्नुहीक्षीरेण संयुक्तं मर्दयेत्रिदिनान्तरम् ॥२॥
नारिकेलफले क्षिप्त्वा महागाढातपे स्थितम्।
तत्तैलं जायते शीघ्रं लेपोऽयं नाभिमध्यतः ॥३॥
अणुमात्रविलेपेन सप्तवारं विरेचयेत्।
तद्गन्धाघ्राणमात्रेण पंचवारं विरेचयेत् ॥४॥
गुंजावत्पादलेपेन दशवारं विरेचयेत्।
वैरेचकप्रयोगोऽयं पूज्यपादेन भाषितः ॥५॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, शुद्ध जमाल गोटा, शुद्ध सुहागा, शुद्ध अंडीबीज शुद्ध कड़ू तोमर के बीज, अमलतास, बड़ी हरें का छिलका, निशोथ छिवले (पलाश) के बीज ये ६ चीजें एक एक भाग क्रम से बढ़ती लेकर सबको एकत्रित कर थूहर के दूध से ३ दिन तक बराबर मर्दन कर नारियल के फल में भर कर खूब तेज घाम में रख दे। सब दवाइयां घुलकर तैलरूप हो जायँ तब जानो यह विरेचक तैल तैयार हो गया। यह तैल थोड़ा सा नाभी पर लगाने से ७ बार दस्त होता है तथा १ रत्ती पाँव के तल भाग में लेप करने से दस बार दस्त होता है। और इस तैलको सूंघने से ५ बार दस्त होता है। विरेचन का यह प्रयोग पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

८—प्रमेह पर राजमृगांक रस

सुवर्णं रजतं कांतं त्रपुषं चैव शीसकं।
भस्मीकृत्य च तत्सर्वं क्रमवृद्धया क्रमांशकं ॥१॥
व्योमसत्त्वभवं भस्म सर्वैस्तुल्यं प्रकल्पयेत्।
कज्जलीं सूतराजस्य सर्वैरेतैः समांशकम् ॥२॥
प्रदाय लौहभस्मानि पूर्वभस्मनि निक्षिपेत्।
काष्ठेनालोड्य तत्सर्वं दिनमेकं-समाचरेत् ॥३॥
ततो विचूर्ण्य तत्सर्वं सप्तधा परिभावयेत्।
आकुलीबीजसंजातक्वाथेनैवं हि यत्नतः ॥४॥



THE JAIN ANTIQUARY

An Anglo-Hindi quarterly Journal,

Vol. I.] June, 1935. [No. I.

Editors:

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B., P.E.S.,
Professor of Sanskrit,
King Edward College, **Amraoti**, C. P.

Prof. A. N. UPADHYE, M.A.,
Professor of Prakrata,
Rajaram College, **Kolhapur**, S.M.C.

B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.,
Aliganj, Distt. Etah. U.P.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, Nyayakulabhushana,
Nyayacharya, Librarian,
The Central Jaina Oriental Library, **Arrah.**

Published at

THE CENTRAL JAIN ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription:

Inland Rs. 4. **Foreign Rs. 6-8.** **Single Copy Rs 1-4.**

Om.

THE
JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. 1. No. 1. | ARRAH, (INDIA) | June, 1935.

MESSAGE.

I welcome the '*Jain Antiquary,*" and wish it all success. I know Jainology will fully reveal the Truth and antiquity of Jainism by cogent evidence. My own researches in mythology have shown how far and wide has been the acceptance of its principles in the world. The same, I feel sure, will be found to be the result of investigation in the other departments of Research. Let me again wish the Jain Antiquary full unqualified success.

CHAMPAT RAI JAIN,
London.

APPRECIATIONS.

1. C. E. A. W. Oldham, Esqr., C.S.I., writes from London :—

"I wish this new 'Antiquary' every success in its career, and trust the Editorial Board will also exert their influence towards the

publication of the many Jaina texts not yet available to the public, or even for the use of research workers, as these are likely to contain valuable material for the history, both religious and secular, of India."

2. Prof. E. J. Rapson writes from Cambridge (England) :—

"I heartily wish your Quarterly all possible success."

3. Rao Bahadur Sirdar M. V. Kibe, M.A., Minister of Commerce, Indore remarks :—

"I am delighted to hear, you had now undertaken to publish a quarterly devoted to the study of Jainism. Although its followers are few, yet its Philosophy and its History are of great interest possessing many problems which require a close study in the interest of Humanity."

4. Late Rai Bahadur Babu Hira Lal, B.A., Retd Dy. Commissioner, Katni wrote :—

"I congratulate you and your colleagues on the excellent idea of starting the Jain Antiquary, devoted to the study of Jainology, which has not been thoroughly studied upto this time. The vast literature, which the Jaina records contain are extremely important not only from the Jaina religious point of view, but they are a storehouse of historical information and linguistic morphology which are so interesting to present day scholars of the East and the West. I wish every success to the new Quarterly and to the laudable efforts of its promoters."

5. Prākatana-Vimarsa-Vichaksana, Rao Bahadur R. Narasimhacharya M.A., M.R A.S. writes :—

"I am very happy to hear that an Anglo-Hindi Quarterly is proposed to be published to promote the cause of Jainlogy and to foster the study of the subject.........I am greatly interested in the study of Jainism and shall be immensely happy for any steps that may be taken for developing Jain Research.........Wishing you every success in your efforts."

6. Prof. W. Schubring, Ph. D. Hamburg :—

"I was glad to learn from you that you are about to start, under the title of 'The Jaina Antiquary' a new Anglo-Hindi Quarterly devoted to Jaina Studies. As our own studies, as you know, are devoted to the same object, I am eagerly looking forward to the first number. You would oblige me very much by sending me one or several copies in order that I may obtain an idea of the line on which your journal is started and from which the character of any future contribution will depend. With my best wishes."

7. Dr. Hermann Goetz of the Kern Institute, Leyden (Holland) writes :—

"The Kern Institute of Indian Archæology is of course very much interested in your useful and promising undertaking. We therefore shall be very glad to co-operate with you..."

EDITORIAL.

Our Venture.

A fully correct and comprehensive history of India has not yet been written and can not be written unless and until single historical facts from age to age and period to period, province to province and movement to movement, are studied and examined in all their aspects. It is now well-known, at least in scholarly circles, that Jainism is one of the most ancient religions of India and that it has influenced the religion, philosophy, moral and social out-look of the people to a remarkable extent. But the details of these influences, how, why and when Jainism made its contributions to the cultural development of the Indian people, are even now a matter of vague speculation, and even scholars are not very clear about them. The Jaina idea of God and eternity of life has been woefully misunderstood and the system has been denounced as *Nastika* or *atheistic.* The principle of *Ahimsā* or non-violence which is the *sine-qua-non* of the faith, has been misrepresented as the factory in which the shackles of slavery were forged. The philosophy of *Anekānta* or multifold view points with which Jainism has tried to reconcile seemingly opposite opinions and beliefs, has been derided and held up to ridicule as a jumble of contradictions. The fine arts such as architecture, sculpture, painting, music and poetry as developed by the Jainas have been neglected or their importance minimised, and the Jaina literature, inspite of its fullness and versatality, has not been considered worthy of serious study. This state of affairs was first due to the fact that the spirit of Jaina religion and its followers was very much misunderstood by the followers of the Hindu religion, but the position was continued and even aggravated by the apathy of the Jainas themselves who made no efforts to make their attitude clear and did not give sufficient publicity to their literature. With the changing times, however, the conditions are now fast changing. On the one hand, the scholars all over the world are becoming increasingly interested in the study of Jainism, and on the other, the Jainas themselves have become keen about clearing their position and attitude both by propaganda and by throwing open their literary treasures to the world.

The present venture is a modest attempt to facilitate and encourage the growth of this new spirit. All Jaina and non-Jaina scholars are invited to express themselves freely about Jaina religion, philosophy, history, art and literature through the pages of the Jaina Antiquary. Our forum shall be open to all those, and only to those, who wish to present facts without any passion or acrimony. Our aim is to elicit

truth, to remove prevailing doubts and suspicions to re-examine known facts impartially, to discover unknown events of history and fit them in with the known facts and to bring to light the vast ancient literature that yet remains hidden from the public view. All this we mean to accomplish by cool and patient study without distorting facts and without forcing conclusions. We are fully conscious of the difficulties which lie in our way but we also know that nothing good and great has ever been accomplished without great risks. We will do our best and we feel confident of the co-operation not only of the Jainas of all denominations, Digambaras, Svetambaras and Sthanakavasis, but also of all those belonging to India or outside, who are interested in the study of Indology. We are sure of our efforts but the measure of our achievements will depend upon the measure of co-operation that we receive. And thus only our humble venture shall crown with success, which no doubt shall be a thing of pride for the Jaina Oriental Library, Arrah and of satisfaction for that departed great soul Shrīmān Babū Devakumārajī, of Arrah, who founded the Library and the "Jaina Siddhanta Bhāskara," the Hindi quarterly which is being published again by his illustrious sons Messrs. Nirmal Kumarjī and Chakreswar Kumarji B. Sc., B.L., and of which the "*Jaina Antiquary*" forms a part, simply to promote the cause of Jaina Research. May the Shāsana Devas help us and the Victory be of the Great Jinas!

HIRA LAL JAIN.
KAMTA PRASAD JAIN.

Ancient South Indian Jainism.

BY

Prof. B. Seshagiri Rao M.A., Ph. D.
Bharatithirtha Pradhani, Vizianagram.

Jitam bhagwatā Srîmad-dharma-tirtha-vidhāyinā,
Varddhamānena samprāpta-siddhi-saukhāmritatmanā.
Bhadrabalu Ins of srawana Balgola.

(जितंभगवता श्रीमद्धर्मतीर्थविधायिना ।
वर्धमानेन संप्राप्तसिद्धि सौख्यामृतात्मना ॥)

Namas Kriyā.

My grateful thanks are due to the Editorial Committee of the *Jain Antiquary* for the honour they have done me in inviting me to join their present literary enterprise. I gladly respond to their kind invitation and say something about " Ancient South Indian Jainism " with the history of which I made myself familiar to some extent.

Spiritual religion and Ritualism.

To day, institutional religion in India, of whatever denomination, has become so grossly and so largely identified with mechanical, formalistic ritualism that religion as spiritual aspiration and spiritual achievement through moral perfection has almost completely lost ground. In such circumstances, a peep into the antiquities of any faith or system of religion in India is bound to have very chastening and ennobling reactions. I trust the labours of *Jain Antiquary* will in time bring about this new life in that ancient system of Jainism which for at least twelve centuries, if not more, exercised great power and influence over the south, and needless to say north—Indian peoples.

A Religion of Strength.

It appears to me, that Jainism is a religion of strength, believing that man in Spirit and that his supreme goal in life or '*Uttama Purushartha* ' is the attainment of Godhood or Arhathood, *i.e.*, that *Jivatma* is destined to become *Paramatma*, its original source. The obligation to, and effort at this transformation it throws on man's efforts more than on God's Grace (or Paramêsvarasya Nirhêtuka-jâyamâna-katâksha). It is a worker's and not an idler's faith. It looks upon *Samsara* or life experience as a " sea of troubles," an entangling snare,—Samsara or experience where it is mostly, as ordinarily, a life of the impulses or the senses. That the ideal of man is

the culture of the spirit and not of the body, that it is the spirit that abides, and it is the body that at some time or other has to be given up. That such a faith appealed to ancient South Indian peoples, thus wise, is clear from the following extracts from the Inscriptions of Sravana Belgola,[1] the greatest and most ancient centre of Jainism in South India :—

(*a*) " The dense smoke of inequity spreading wide and filling space like the huge mountain of ignorance, the fool who is entangled in the great and delusive troubles of family falling under the power of kings, goes to ruin "[2].

(*b*) " An ignorant man, manifestly corrupting his mind with passion and enemity may fail in devotion to the Spirit, the form of all wisdom, the ever peaceful ; but how can a wise man for a moment strive for any other end ? "[3]

(*c*) Thou having fixed thy mind unshaken on the indwelling spirit, love and all the desires of sense have fled away, the happiness of perfect spiritual knowledge increases, and by the complete destruction of sin, thou hast attained the state of final beatitude, Gommata deva, and unending happiness '[4].

(*d*) He to whom all actions are directed, removed above all opposition, highly exalted, free from ignorance, without an equal, free from desire, of a glory beyond expression or thought, having subdued the power of the world, the highest,—may his glory dwell in my mind "[5].

These extracts emphasise the cardinal duty and principle of self-perfective effort through the conquest of sense desire and the self-exaltation about the distractions of *samsāra* as the highest goal of religion. Jainism is thus not only a religion of strength, but of " *knowledge*" (*jnana*) and self-discipline (*sikshā*).

1 A large village situated in 12°51′ north latitude and 76°33′ east longitude in the Chennarayapatna Taluq of the Hassan District of the Mysore State.

2 Epigraphia Carnatica Vol. II Sravana Balgola Incns No. 3, (one of the earliest on the Hill.)

3 Ibid No. 54, dated 1128 A. D.

4 Ibid No. 85, dated 1180 A. D.

5 Ibid No. 108, dated 1433 A. D.

Doubts may arise as to whether such a faith were not too intellectual, too rigid, or ascetic to be practical; whether like *advaita* it does not tend to withdraw man from the material arts of life and civilisation; and whether after all, it were not too difficult or too esoteric for the masses to follow. It is, however, the most pitiable and even contemptible aspect of Indian life to day that we mistake the indulgence in the luxuries of life to be the raising of its standard and keep the mass mind in perpetual ignorance of the vital issues of life and its ennobling disciplines and even nourish it on the religion of formalistic ritualism on the theory of salvation by actions *karma* or on ecstatic emotionalism on the theory of salvation by grace or *Bhakti* and *Prapannata*. To my mind ancient South Indian Jainism in its prestive purity and essence seems to have been a living protest against these forms of religious practice, and had *successfully trained even the lowest minds* in the knowing, understanding and appreciating pursuit of religion as the culture of the Spirit and the conquest of the flesh as distinguished from ritualism or ecestatic sentimentalism.

A practical religion and discipline for all.

And *first*, that it is deliberately intended for all and sundry and that the great Jaina *rishis* of old acquired their great spiritual gifts to share them with their pupils, both lay and clerical, to train them to become as spiritually great as themselves, there is ample evidence in the Sravana Baegola Inscriptions on which the present paper is based A few instances will suffice :—

(*a*) That learned *muni* of great acumen obtained many celebrated disciples whom he taught *in order to purify the world and diffuse merit in all parts*,— who, putting faith in their *guru*, imbibed from him all learning as a calf sucking milk from the cow of plenty and growing strong with that nourishment became celebrated everywhere "[1].

The outlook of Jaina Śiddhantā-Charyas.

(*b*) "a fire to the forest of family cares... . a summit of uplifted honour, the cow of plenty in bestowing wealth, the *remover, of the sorrows of those in the power of the enemies of sin and ignorance* was *Srutamuni*, the chief *Suri*, pure in morals untouched by women." [2]

(*c*) " He to whom Shree *Matisagara* was guru, that creator of moon-like fame; he to whom the worshipped *Vadi Raja*, head of the *gana*, was fellow student, that *Dayapala Vrati* was

1 Ibid No. 108, dated A. D. 1433.

2 Ibid No. 105, dated A. D. 1398.

the only fortunate one *in whose mind was the desire to impart to others a portion of his own form.*" (N. B. Herein is the ancient ideal of *guru-sishya nyaya* defined as "*:·acharyah purva rupam-antacas-y-uttara rupam.*" [1]

And, *Secondly*. in all such intellectual pursuit of spiritual culture under gurus who are themselves adepts or *siddhas*, two practical principles played the greatest part viz. *diksha* or concentration and *Siksha* or discipline. It will not do to take a vow or pledge ; it will have to be made an operative force in the daily round of life ; and the constant and unfaltering pursuit of a pledge as an active force in life is *siksha* or discipline. The Jain faith in ancient times invited the south Indian *masses* to concentrate on the culture of the spirit ; to live the life of the spirit and not of the senses, so that by such culture they may not only sanctify their bodies and minds, but make of themselves centres of radiating spiritual influence. It was not mere theory, nor mere gospel-preaching, not doctrinaire hair-splitting, but downright, real, practical, demonstrable life lived from hour to hour *in the eye of the masses*, as a living example of a possible ideal. On this head also there is ample evidence in the *Sravana-Belgolo* Epigraphs. In all religious controversy a stage would arrive when the final appeal would be made from disputations and theories, from *raddhantas* and *Siddhantas* to the arbitrament of *life*. The *life* is the thing, the most appealing *pratyaksha Pramana* or occular authority, to catch the conscience of the devotee ; to overcome the hesetancy of the novitiate. That is why one of these most ancient Jaina Ācāryas and disputants said :—

Dikshā and Sikshā.

> " Why vainly strive, O." Jewelcrown of the wanton populace to prove the true Tathagata faith to be false ? Escape quickly, for the proverb says—" *living shall see good'* and leave your love of dispute" [2].

And here below are a few characterisations of such ancient Jaina *Risis* who *lived* their faith and promulgated it by action even more effectively than by disputation, great as they were at the latter also :—

(*a*) " Unruffled by accusers, of a form like the beautiful placid moon, and a place of fortune, having attained the path of learning and the path of victory—such was the *mahā muni Hāma sana* " [3]

Some great Jaina Siddhantā caryas.

1 Ibid No. 54, dated A. D. 1128.

2 Ibid No. 105, dated 1398 A. D.

3 Ibid No. 54, dated 1128 A. D.

(b) "He by whom the desired form of siddhi was with worthy words ensured to friendly men, the *Dayapala Muni*...do ye with words revere" [1].

(c) "In whom equal patience rejoices, in whom kindness has no limit, whom impartiality loves, whom absence of desire desires, through love loving salvation, though in his own esteem low, yet the head of yogis, by his character an *achari*, Sri *Mallishena muni*—him let us revere [2].

(d) "The ignorant and the wise, the poor and the rich, the lowly and the honourable, the evil and the good the sorrowing and the happy, the proud and the virtuous, he caused to become *samantabhadra* (ever fortunate)......may *Sri Charukriti* prosper in the world......" In order *that his own merit*—the destroyer of the enemy of sin, the bestower of highest happiness, difficult to obtain and an object of desire—which he had acquired by the supreme path, highly prized by the worthy, of a sanyansi, *might accure to all people*, he poured forth the nectar of his eloquence so that they all, forsaking their bodies and praising the feet of Jina, attained to the state of the Gods." [3].

Very naturally, such great Rishis of Belgola, the great examples of the higher life, in time came to be worshipped even by kings and in time became Rajagurus, Mahamandalacharyas and Jagad-gurus. Of such Rishis, who thus worked their way to power and influence through their learning, character and other attainments there are also references in the Sravana Belgola Inscriptions. A few examples are given here under :—

(a) "*Siddhanta yogi*......whom, though his lotus feet were ever tinted with the rays from the crowns of bending kings, no substance and no woman, no clothing and no youthful pride, no strength and wealth could tempt." [4]

(b) "After him *Hulla* the minister of King Narasimha ; his guru was the *Jagadguru Kukkutasana Maladhari Deva*." [5].

(c) "Maghanandi Siddhanta Chakravarti, *Rajaguru* to the Hoysala king." [6].

(d) "Mahamandalacharya *Deva Kirti Pandita Deva*." [7].

(e) "The moons of the nails of his feet illumined as with the hues of evening from the jewels in the crown of the Ganga

1 Ibid No. 54 dated 1128 A. D
2 ,, ,, ,, ,,
3 Ibid No. 105, dated 1398 A. D.
4 Ibid No 108, dated A. D. 1433.
5 Ibid No. 137, dated A. D. 1160.
6 Ibid No. 129, dated A. D. 12:3.
7 Ibid No. 89, dated A. D. 1268.

King, was he whose name was first the word Sri followed by the famous *vijaya*, learned, of superhuman qualities, of glory dispensing ignorance." [1]

(*f*) " He whose pair of pure lotus feet the Poysala king Vinayaditya having served was brought into the possession of great fortune, the place of implicit commands, that *Santi Deva muni's* ability who is worthy to describe as this much or that much ; are they not rare, the possessors of such surpassing glory." [2]

Jaina Influence on Conquerors.

I shall close this paper by giving just one illustration of how the Vîtaraga doctrine of Jaina Sampradāya and the Vîtarāgî Rishis that lived it and by doing so wielded even such political power, had worked over persons high placed in life *i.e.*, over conquerors of kingdoms and embattled hosts :—

" This auspicious great minister and dandanāyaka......*Ganga Raja*, when the army of the Chalukyan emperor......was left in camp at *Kannegala* ; saying " Let go " and springing on to his horse, caring not for its being a fight by night, went with speed and with the sword in his arm carried terror into the panick stricken army."

Thus as if it were sport, having defeated all the feudatories, he brought the whole collection of their stores and vehecles and presented them to his own lord ; who saying I am delighted, delighted with the prowess of your own arm. Ask, what you will.

Having gained supreme favour he asked not at all for kingdom or wealth, but his mind fixed on the worship of Arhat, he asked for *Parama*.

And having so asked—

He presented it for the worship of the Jinālaya which his mother Pôchala Dêvî had made and the Jinālaya which his wife Lakshmî Dêvi had made " [3]. Such was the piety and contempt for mere wealth which the Jaina faith had engendered in the minds of the greatest " men of action."

Such was ancient South Indian Jainism ; such was its vogue and such its influence. This is but the barest of a bare outline of its cultural history which deserves a volume by itself. If Jainism and Jaina Culture should again influence Indian life in our time, it should worthily concentrate, as did its ancient Ṛṣis in South India, on the *practical teaching of* its *spiritual discipline*, its *dikshas* and its *sikshas to one and all*, men, women and children, high and low, rich and poor,—*preferably even low and poor* in order that whereby the mass mind may be illumined and the mass life ennobled and freed from the bondage to ignorance and the thraldom to sense desire. Will the Jainacharyas take the leadership of the coming democracy in India ?

1 Ibid No. 54, dated A. D. 1128
2 " " "
3 Epigraphica Carnatice Vol. II Sravana Belgola Insņs No. 45, dated A. D. 1117.

NĀYAKUMĀRACARIU.

An Apabhramśa work of the 10th century.

(By Prof. Hīrā Lāl Jain, M.A., LL. B.)

1. DISCOVERY OF THE WORK.

It was in the year 1924 that I first discovered the NĀYAKUMĀRA CARIU of Puṣpadanta from the manuscript stores at *Karanja* in Berar The notes that I made on that occasion were included in the Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts in C. P. and Berar, published by the Local Government in 1926. The *Apabhramsa* works discovered there proved very interesting and I contributed an article on "*Apabhramsa* Literature" to the Allahabad University Studies Vol. I and determined the date of *Puspadanta* who was the chief of the authors, first in the notes contributed to the Catalogue and then in an article contributed to the Hindi Quarterly "*Jain Sahitya Samsodhak*" Vol. II.

2. THE AUTHOR

The author of the work is Pupphayanta-SK. *Puspadanta.* Of this author three works have so far come to light-*Mahapurana* or *Tisatthi-purisa-gunalamkara* in 102 chapters, Jasaharacariu in 4 chapters and *Nayakumaracariu* in 9 chapters. From these works the following information about the poet can be gathered :—

1. *Puspadanta* was the son of *Kesava Bhatta* and *Mugdhadevi* Brahmins of *Kasyapa* Gotra.

2. He travelled to *Manyakheta* from somewhere and was patronised by Bharata and later by his son Nanna both ministers of *Krsnaraja* alias *Vallabharja* who may be identified with *Krsnaraja* III of the *Rastrakuta* dynasty of *Manyakheta.*

3. He began his *Mahapurana* in *Siddhartha* Samvatsara and completed it in Krodhana Samvatsara on *Asadha Sukla* 10 which is found to correspond with Sunday, the 11th June, 965 A.D.

4. He describes himself as tender in costitution and ugly in appearance, homeless, dressed in rags and barks, bathing in rivers and pools and sleeping on bare ground. Never-the-less, he was equanimous towards the rich and the poor and friendly to all. He had a high sense of self-respect and was excessively fond of poetry for which he earned the titles of *Ahimana-meru* and Kavva-pisalla.

5. He mentions the following three historical events of his time :—

(i) The king of *Manyakheta,* here called Tudigu, killed the

Cauda king. The latter may be identified with *Rajaditya* Cola who was killed by *Krsna* III in 949 A. D.

(*ii*) The king of *Dhara* burnt *Manyakh ta.* This king may be identified with the *Parmar* prince *Harsadeva.*

(*iii*) A severe famine razed over *Manyakheta.* This may have followed the raid of the capital by Harṣadeva.

I shall now confine myself to what the poet says about himself in the present work and the circumstances that led him to compose it. In the colophon of each Sandhi we are told that it is the work of *Mahakai* Pupphayanta. At the beginning of the work the poet introduces himself as the son of *Muddhai* (*Mugdhadevi*) and *Kesavabhatta* of Kāśyapa Gotra. He was residing in the house of Nanna in the city of *Manyakheta* when two persons, Nailla and *Silaiya,* pupils of one Mahodadhi, approached him, eulogised his talents and expressed their desire to hear from him the story of *Nagakumara,* illustrating the fruit of observing the fast of Sri-Pancami. He was also requested to the same effect by Nanna, the minister of *Vallabharaya,* and Nailla and Sīlaiyā urged him to associate the work with the name of Nanna. The poet acceded to the request and began the story. In the *praśasti* that we find at the end of the work, besides the usual information about his parentage the poet records something that has not been told anywhere else. He tells us here that his parents were at first devotees of Siva, but "they had their ears filled by the ambrosia of the teacher's words and so they died by the Jaina form of renunciation." We have here, no doubt, the mention of the conversion of Puspadanta's parents from Saivism to Jainism.

3. THE POET'S PATRONS

Puspadanta has, in all his works, profusely eulogised his patrons. In the *Mahapurāna* he tells us that when he reached *Manyakheta* he was received with great honour by Bharata, the king's minister who kept him in his own house aud induced him to write poetry. The *Mahapurāna* is dedicated to him as in the colophon of each Sandhi we are told that the work was Mahābhavva-Bharaha-anumannia, approved by the noble Bharata. Bharata was a Brahmin of *Kaundinya* Gotra. His father's name was Aiyana or Annaiya, mother's Sridevi and wife's Kundavva or Kanakadevi. He had seven sons, Devalla, Bhogalla, Nanna, Sohana, Gunavarma, *Dangaiya* and *Santaiya.* Of these Nanna succeeded his father in office either because his elder brothers died premature or because of his superior talents. Two works, Jasaharacariu and *Nayakumarcariu* are dedicated to him, the former being called Nanna-kannaharana, an ornament to the ears of Nanna, and the latter 'Nanna-

nāmāṅkita, stamped with the name of Nanna. He has been highly eulogised at the beginning of the work and in the ending *praśasti*. One of his adjectives, 'Vicchinna-Sarāsai-bandhava' seems to me to suggest that Nanna took particular interest in the revival of Prakrit poetry which was going out of use as we know that almost all of the Jaina authors who flourished immediately before Puspadanta, for example Jinasena, Gunabhadra and Somadeva, wrote in Sanskrit Of the other brothers of Nanna, Sohana and Gunavarma or Gunadharma, while yet young, had a hand in inducing the poet to compose the Nayakumaracariu, and Dangaiya is mentioned in the *praśasti*. The office of ministership was hereditory in the family but there seems to have been an interruption just before Bharata who is said to have restored the family to the position which it had lost. In the verse prefixed to the second chapter of Jasaharacariu, mention is made of Nanna's sons. Thus in Puspadanta's works we find mention of the four generations of this illustrious family associated with the ruling dynasty of *Manyakheta* during the tenth century.

4. THE STORY IN BRIEF

The story of *Nagakumara* is briefly as follows :—

Jayandhara was the king of Kanakapura in the Magadha country. From his first wife *Visalanetra* he had a son named Srīdhara. He later on married *Prthvidevi*, the princess of Girinagara, from whom he got another son. While yet a baby, he inadvertantly fell into a well where he was protected by a *Naga* who adopted him, gave him the name of *Nagakumara* and educated him. He then returned to his father and married two dancing girls, *Kinnari* and *Manohari*. He subdued a vicious horse and a ferocious elephant which had defied the attempts of his elder brother at subjugation. His growing power made his elder brother jealous of him and he tried to remove him out of his way altogether. The attempt made by *Sridhara* on his life fortunately failed owing to the presence, as his body-guard, of *Vyala*, a prince of Mathura who had become his friend and attendant. In order to avoid a fratricidal war between his sons Jayandhara ordered *Nagakumara* to go out of the realm and come back only when called in. So *Nagakumara* quited the realm accompanied by his two wives and his friend Vyāla.

The period of exile was full of adventures and unfailing good luck for *Nagakumara*. He went to Mathura and compelled the king-regent to release the princess of *Kanyakubja* whom he had imprisoned. He went to *Kasmira* and won the hand of the princess by his skill in lute-playing. He went to the Ramyaka forest where he acquired many

Vidyās and a great fortune from the Asura settlements. He then went to *Girisihhara* and married the daughter of the chief called *Vanaraja.* He restored the latter to his parental throne of Pundravardhana from where his anscestors had been ousted by the coparcenars. Proceeding to the Urjayanta mountain he contracted the friendship of the king of Antarapura with whom he then went to Girinagara to help the king against the attack of Candapradyota, king of Sindhu. He exhibited extraordinary valour in the battle that followed and the king of Girinagara, recognising in him his sister's son, married his daughter to him. He then worshipped the Jina on the Urjayanta mountain.

At this stage, his help was solicited by Abhicandra, king of Gajapura against *Vidyadhara* Sukantha who had killed his elder brother Subhachndra of *Kausambi* and captured his seven daughters. Chivalrously responding to the call, *Nagakumara* immediately went to Alaṁghanagara and rescued the princesses by slaying the *Vidygdhara.* He then went to Gajapura where he married the seven princesses as well as the daughter of Abhicandra. While staying here, *Mahavyala*, the elder brother of *Vyala* brought to him the news that the princess of Ujjaini did not like any man. He proceeded to Ujjaini and won the heart and the hand of the princess. He then went to *Kiskhinda*-Malaya and won the hand of the Meghapura princess by exhibiting his skill in the art of playing upon the *Mirdanga.* He then heard about some wonders in the Toyāvali island where *Vidyadhara* Pavanavega had murdered the king of Bhūmitilaka and had captured his five hundred daughters whom he was harrassing because they would not marry their father's murderer. *Nagakumara* went to the island along with his comrades by the help of the Vidya and slew Pavanavega, rescued the princesses and married them all.

He then came to the *Pandya* capital, thence to Dantipura in the Āndhra country where he married the daughter of king Candragupta, and then to Tribhuvanatilaka where he married Lakshmimati the daughter of the chief Vijayandhara. His latest bride won his affections so deeply that he inquired of sage Pihitāśrava as to its cause. The latter narrated the events of his past life when he was the son of a merchant in Vitasokapura and died in the observance of the fast of *Sri-Panchmi.* All his personal charms and prowess in the present life were pointed out by the sage to be due to that religious fast and that his wife Lakshamimati was no other than his wife of the former birth.

At this stage minister Nayandhara arrived from home and Nāgakumāra returned to Kanakapura where he was crowned king by his own father.

Sridhara became a recluse through sheer disgust and his parents also retired for ascetic life. *Nagakumara* ruled the earth for a long time. He then handed down the throne to his son Devakumāra and himself devoting to the religious life of a Digambara ultimately attained salvation.

5. THE POETRY OF NĀYAKUMĀRACARIU.

In the introductory part of his *Mahapurāna*, *Puspadant* says that he had seen nothing of the works of Akalanka, Kapila, *Kanacara*, *Patanjali* Vyāsa, Bḥāsa, Kālidāsa, Svayaṁbhū, Sri-Harṣa, Bāṇa, Rudraṭa, Nyāsakāra, Piṅgala and many others. But he has completely belied himself in his works. I shall here confine myself to the present work alone to show that its author was familiar not only with the Hindu, Buddhist and Jaina religion, philosophy and mythology but with also all those branches of technical literature a knowledge of which formed a necessary part of the equipment of an accomplished poet in ancient India.

As might be expected, the poet shows a thorough grasp of the tenets of the Jaina faith to which he turns frequently but which he has particularly expounded twice (IV, 2-4; IX, 12-14). Once (IX, 5, 5) we find mention of the two questions, namely, wearing clothes and eating food during the stage of omniscience, round which ranges a long controversy between the Digambaras and the Svetambaras. Various doctrines and beliefs of the Hindu and Buddhist religions have been mentioned and commented upon in seven passages (5 to 11) of chapter nine. Systems of philosophy such as *Samkhya*, *Mimasa*, *Kanikovada* *Sunyavada* and *Isvaravada* and some of their founders such as Kapila, *Aksapado* *Kanacara* and Sugata are named. Even the materialist school of Bṛhaspati has not been overlooked.

For poetic embellishment the author has drawn considerably upon Hindu mythology contained in the *Purānas*. Brahmā has been called the lotus-born and Ṛudra or Siva figures with his consort Parvati, his three eyes, his trident, his bowl and his garland of skulls. The stories of his burning of cupid and cutting off the head Brahmā also come in for review. Similarly, *Visnu* appears with his consort *Lakshmi* and the cowherd maids (Gopis), and his lifting of the Govardhana mountain and slaying of Madhu and Sisupala are familiar events to the poet. The lifting of the earth by the boar, the churning of the ocean by the gods and the earth being supported on the hood of a serpent are also within his knowledge. Other gods, such as Indra and his consort Paulomi, Yama Vaivasvata and Kubera or *Dhanapala* find frequent mention, while Bṛhaspati's learning and his defeat by his rival, *Rambhas* personal charms and Cupid's flower-arrows have received the poet's recognition.

For the same purpose, the *Mahabhārat* and the *Ramayana* have been freely drawn upōn. The five fiery *Pandavas* and their destruction of the Kaurava forces, Arjuna's going to Droṇa for instructions and his enmity with *Karna*, the liberality of the latter and his fight against his own brothers, the purity of the character of Bhīṣma and his turning away from the battlefield, the righteousness of Yudhiṣṭhira and his troubles of exile, and Vṛkodara with his mace serve the poet in his similes and metaphors. He mentions Arjuna as Nara and Karṇa as Ravinandana which shows that he was not deriving his knowledge of the Bharata story exclusively from the Jaina books. He mentions Rama and Sītā as ideal man and woman, Sugrīva and Hanumat as waiting upon Rām and Hanumat's loyalty for his master though he was a monkey, and Rāvana's fight with the armies of gods. His allusion to the death of Ravana at the hands of *Laksamana* is clearly derived from the Jaina *Padma Purana*, but his probable reference to Vasiṣṭha's falling in to trouble for his hospitality to *Visvamitra* can be from no where else than *Valmiki's Ramayana*.

The poet's reference to three buddhis, three saktis, *pancanga* mantra, ariṣadvarga, seven vyasanas and seven *rajyangas* shows his knowledge of works on state-craft such as Kamandakīya *Nitisāra* and Kautilīya *Arthasastra*.

Some of the poet's similes are derived from the stellar region, for example, his pun on kumbha as a water jar and the constellation aquarius or the elephant's temple and the constellation in union with Saturn, on *hasta* as the elephant's trunk and the constellation carvus in union with the moon. He also speaks of the sun being eclipsed by Rahu and of yuti, that is, confluence of planets, as auspicious.

The description of the limbs of *Nagakumara's* body is in accordance with Varahamihira's description of *Mahapurusalaksana*, and the mention of the various fine and useful arts and the handling of amorous situations in various parts of the book presuppose a knowledge of works on erotics such as Vatsayana's Kamasutra.

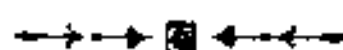
Turning now to the poetic qualities of the work, we find that it is full of beautiful similes and metaphors drawn from the whole range of Aryan mythology and history, and frequently and more effectively from the poet's own observation of nature and human experience. The descriprion of the Magadha country and the town of *Rajagrha*, of *Prthvidevi* as a bride, of the march of armies, their encampment and battle scenes, is atonce beautiful and fascinating. The poet is particularly fond of *yamaka* and sleṣa some striking examples of which are found in the description of the women of *Rajagrha* going to worship the Jina, of the

vicious horse, of the feast given by Vanaraja, of the resolve of Arivarma's warriors, of the arrows of Sukaṇṭha and those of Nagakumara, of the bunyan tree and of the water jars used for the coronation. These and many other passages exercise the mind as well as entertain it by exhibiting all the elegance and ornamentation of artificial poetry. In fact the work, as a whole, is teeming with sweet alliterations, appropriate and striking paronomasia and delightful fancies. These the poet has well succeeded in combining with swift and easy narrative. The story is meant to illustrate the fruit of a religious fast but it has been told in the grand manner of a kâvya. The poet has rightly invoked the goddess Speech " Moving in the mention of a mahākâvya, resplendent with her double ornaments, taking soft, sportive padas with multifold blandishments and feelings, giving delight by commendable sense, combining all arts and sciences and exalted characterstics, moving by the broad metre-road, bearing the ten qualities, sprinkled over with the nine sentiments and beautified by the three vigrahas." By mentioning the ten *prāṇas* the poet has revealed his acquaintence with the works of Bhamaha and Daṇḍi In the body of the work the poet, by means of some stray similes, has told us what he considered to be the essentials of good poetry. 'A great poet would compose a sentimental kavya in mātrā metre, a good kāvya requires a choice of brilliant forms and phrases, a good poet pays attention to the style of language, a poet graces himself by means of a story well told and shorn of ornamentation is the story of a quack poet.'

The conclusion to which we are led by these references is that the poet's statement that he knew nothing of the works of the prominent writers of yore is a mere modesty as also his statement in the present work that he was unable to describe things being a dull poet, and that his titles of mahākavi, vagesvarī-devī-niketa and kävya-pisāca stand amply justified. *

* This work has been published with an exhaustive introduction, glossary, indices and notes as the first volume of the Devendrakirti Jaina Series, Karanja.

श्रीजैनसिद्धान्त-भास्कर के नियम।



१ यह पत्र तीन तीन महीने पर प्रकाशित हुआ करेगा।

२ सर्वसाधारण के लिये डाक व्यय-सहित इसका भारत में वार्षिक मूल्य ४) रुपया और विदेश के लिये ६॥) रुपया है, किन्तु राजा महाराजाओं के सम्मानार्थ १००) रुपया रहेगा। प्रतिकिरण का मूल्य १।) रुपया है। बिना अग्रिम मूल्य के प्रायः यह पत्र नहीं भेजा जा सकता। इसकी पुरानी प्रतियाँ देने के लिये "भवन' बाध्य नहीं होगा। यदि पुरानी प्रति मिलेगी भी तो उसका मूल्य कुछ अधिक लिया जायगा।

३ यदि किसी को पता बदलवाना हो तो वे सम्पादक जैनसिद्धान्त-भवन आरा से पत्र व्यवहार कर ठीक कर लेवें।

४ यदि नियमित तिथि पर पाठकों के यहां "भास्कर" नहीं पहुँचे तो वे अपने यहां के डाकखाने में तलाश कर हमें सूचना दें। बाद हम डाकखाने में इसकी पूरी खोज कर के ठीक कर देंगे।

५ लेख, समालोचना के लिये पुस्तक, बदले के पत्र, मूल्य और प्रबन्ध सम्बन्धी पत्र सम्पादक "श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर" आरा के पते से आना चाहिये।

६ किसी लेख के प्रकाशित करने वा न करने तथा लौटाने वा नहीं लौटाने का पूर्ण अधिकार सम्पादक को है। यदि कोई लेख सम्पादक लौटाना चाहें तो उनका डाक-व्यय और रजिष्टरी का खर्च लेखक को देना पड़ेगा। अन्यथा लौटाने के लिये सम्पादक वाध्य नहीं होगा।

७ अधूरे लेख नहीं लिये जायंगे। स्थान के अनुसार लेख एक वा अधिक किरणों में भी प्रकाशित होते रहेंगे।

८ इस पत्र में ऐतिहासिक, साहित्यिक एवं पुरातत्त्व-सम्बन्धी लेखों के सिवा राजनैतिक आदि विषयों की चर्चा तक भी नहीं रहेगी।

९ पत्र-व्यवहार "जैन-सिद्धान्त भवन आरा" के पते से करना चाहिये।



आरा जैन-सिद्धान्त-भवन की प्रकाशित पुस्तकें

(१) मुनिसुव्रतचरित्र, संस्कृत भाषा-टीका सहित ... २।)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक शास्त्र भा० स० ... १)

(३) जैन-सिद्धान्तभास्कर १म भाग की १म किरण ... १)

„ २य तथा ३य सम्मिलित किरणें ... १।)

(४) भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी शास्त्रों की पुरानी सूची ... ॥)

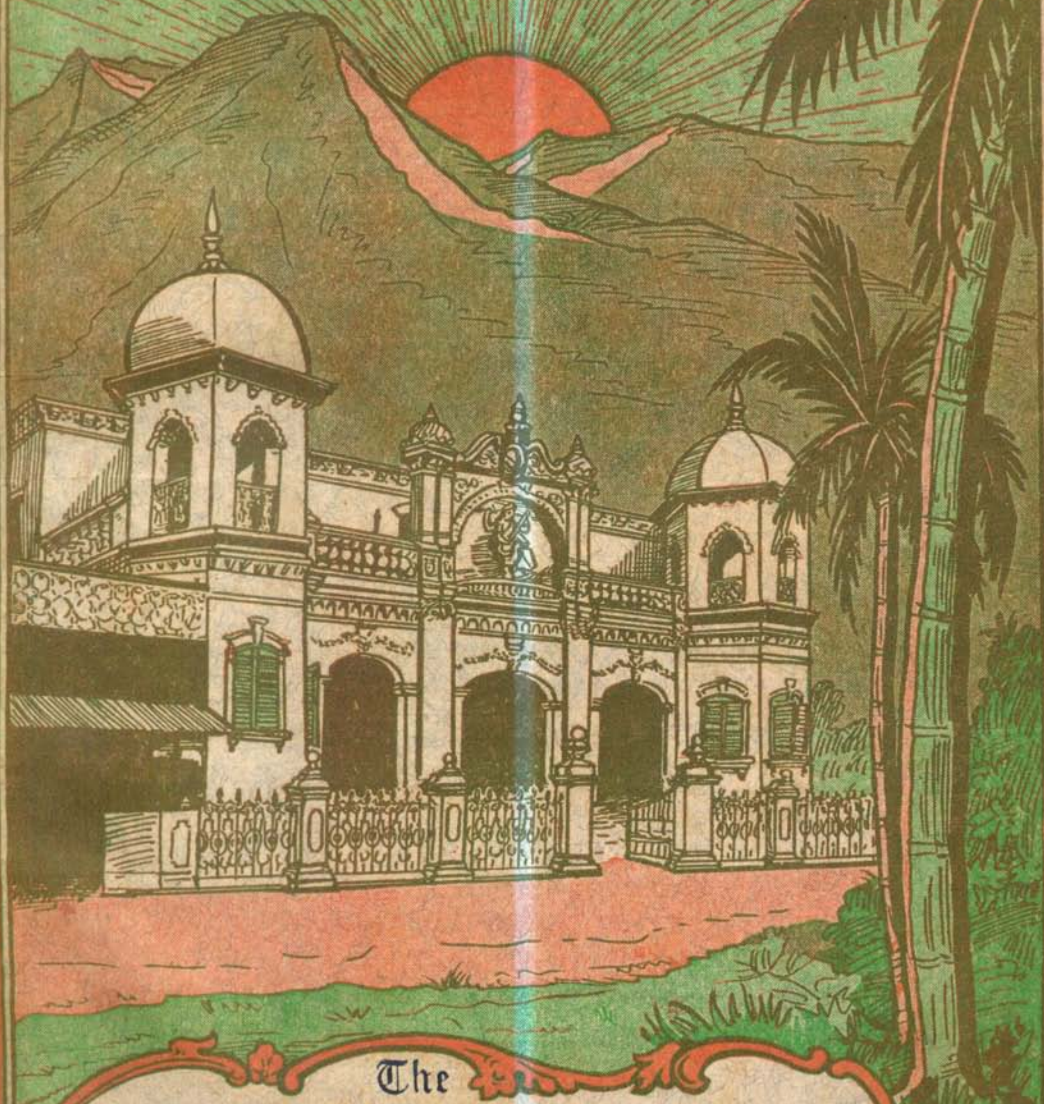
(५) भवन की संगृहीत अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची ... ॥)

प्राप्ति-स्थान —

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (विहार)।

प्रकाशक तथा मुद्रक—बाबू देवेन्द्रकिशोर जैन,
श्रीचक्रवर्ती प्रिंटिंग वर्क्स, आरा।

श्री जैन सिद्धान्त भास्कर



The Jain Antiquary

An Anglo-Hindi Quarterly Journal.

D. N. Varma

श्रीजैनसिद्धान्त-भास्कर के नियम।



१ जैन-सिद्धान्त भास्कर अङ्गरेजी हिन्दी मिश्रित त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ इसका वार्षिक चन्दा देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्य-संबंधी तथा अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, जैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरंत उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि "भास्कर" नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरा-तत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, मानव-जाति-तत्त्व, प्रभृति से संबंध रखनेवाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, श्रीजैन सिद्धान्त-भास्कर, आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादक-मण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे हुए नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ "भास्कर" आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल मात्र जैन-तत्त्व के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.
प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम.ए.
बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.
पण्डित के. भुजबली शास्त्री



(श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा का मुख-पत्र)

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

अर्थात्

प्राचीन जैन-इतिहास, साहित्य एवं शोध-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग २] [किरण २



जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९२

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

ग्रन्थमाला-विभाग—

अंग्रेजी-विभाग—

ॐ

॥ श्रीजिनाय नमः ॥



THE JAINA ANTIQUARY.

जैनपुरातत्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग २ | सितम्बर १९३५ । भाद्रपद वीर नि० २४६१ | किरण २

चन्द्रगुप्त

(ले०—श्री महेश चन्द्र प्रसाद, एम.ए.)

बाहर में थे सूर्य्य सम, भीतर चन्द्र समान।
गहन-ज्ञान-गरिमा रही, तुम में गुप्त सुजान! ॥१॥

घर तज दक्षिण को गये, षट् रिपु हनने हेतु।
रामचन्द्र जी ज्यों गये, वध-हित रावण-केतु ॥२॥

त्याग प्राज्य साम्राज्य को, अनुपम भोग-विलास।
परम प्रोच्च प्रासाद को, पर्वत किया निवास ॥३॥

पर्वत जो सबके लिए, कणवत् तुमको तौन।
दृढ़ता है जिसमें उसे, कठिन वस्तु है कौन? ॥४॥

की सेवा गुरु-वर्य की, दुरा सु-गुरु ऐश्वर्य।
सूर्य्य-चन्द्र-कुल-चन्द्र भी, चन्द्र! भरित आश्चर्य ॥५॥
गिरिवर पर यह है नहीं, तव पदाङ्क ऋषिराज!।
यह पदाङ्क कलिराज की, प्रबल पीठ पर राज! ॥६॥
युद्ध-वीर जैसे रहे, धर्म्म-वीर त्यों तात!।
बाहर-भीतर अखिल:अरि के सर रक्खी लात ॥७॥
ग्रीक-राज-दुहिता हुई, दयिता तव बल देख।
श्रद्धा-सुरसरिता बनी, वनिता निश्छल पेख ॥८॥
जग को जीत महीप जन, करें स्वराज्य प्रसार।
निज को जीत अजीत प्रभु! किया बोध-विस्तार ॥९॥
महा मही के मोह को, मार, टार जंजाल।
किया स्नेह शुचि शून्य से, अकथ, अलौकिक चाल ॥१०॥
समझा स्वामी ने सकल, शुभ शरीर-विज्ञान।
अवनी अवनिप अन्य जो, प्रायः परम अ-जान ॥११॥
ले मृदु जीवन को अहह! किया सिन्धु ने क्षार।
रखा रसातल में सदा, बना उसे निस्सार ॥१२॥
तुमने जीवन ग्रहण कर, किया मृदुलतागार।
बचा रसातल-गमन से, लहा जन्म का सार ॥१३॥
नयनानन्द-द चन्द बस, दिन में मन्द मलीन।
आत्मानन्द-द चन्द! तव, नित्य प्रकाश प्रवीण! ॥१४॥
धन्य जनेन्द्र! जिनेन्द्र-जन! धन्य ज्ञान-गुण-केन्द्र!।
त्यागे असु उपवास-व्रत, सकुचित किया सुरेन्द्र ॥१५॥
मौर्य्य! औजर्ज औ सौर्य्य तव, सिमटे सब निज बीच।
क्षुधा मार संसार में, हुए अमर अरि-मीच! ॥१६॥
बाहुबली जी प्रेम से, आश्रम को तव नव्य।
कबसे देख रहे खड़े, गड़े भाव में भव्य! ॥१७॥
इस प्रपंच के पित्त से, पीत हुआ यह चित्त।
लख न सके तव शुभ्रता, व्याप विषमता-वित्त ॥१८॥
सुख-निधान नित मान हम, करें पान संसार।
दो सु-दृष्टि जिसमें इसे, जानें दुख-भंडार ॥१९॥
हवा लगी न, जगी नहीं, यह मम मानस-धूर।
लगे हवा! यह जग उठे! हे वैखानस-सूर! ॥२०॥

जैन-पुरातत्त्व

(ले०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०)



'पुरातत्त्व' कहते हैं प्राचीन-वार्ता-विज्ञान को। यह वह विज्ञान है जिसमें अतीत-काल का सारा ज्ञान गर्भित है और सच पूछिये तो वही पूर्ण पुरातत्त्वज्ञ हो सकता है जो अतीतकाल की प्रत्येक घटना का ठीक ठीक ज्ञान हमें करा सके। यह सामर्थ्य आजकल के साधारण मनुष्यों में नहीं है। एक जमाना था कि जब यहां पर ऐसे 'पुरातत्त्वज्ञ' मौजूद थे जो वर्तमान और भविष्यत्वार्ता के साथ साथ भूतकाल की घटनाओं का भी पूरा ज्ञान एक साथ करा सकते थे। उन्होंने मानवी कमजोरियों पर विजय प्राप्त कर सर्वोत्कृष्ट ज्ञान—सर्वज्ञता प्राप्त की थी और उसी के बल वह अतीत का ज्ञान अथवा यों कहिये पुरातत्त्व का परिचय पूरा पूरा करा सकते थे। वीर-विजयी होने के कारण ही वह 'जिन' कहलाते थे और संसार में पूज्य दृष्टि से देखे जाते थे। सिन्धुदेश के प्राचीन निवासी उन्हीं 'जिन' की विनय करते थे, यह बात आज वहाँ के पुरातत्त्व से स्पष्ट है*। बौद्ध साहित्य भी 'जिन' महावीर को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी प्रकट करता है†। इन ऐतिहासिक उल्लेखों अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो प्रत्यक्षप्रमाणों से आज से लगभग दो-ढाई हजार वर्ष और उससे भी पहले एक सर्वज्ञ 'पुरातत्त्वज्ञ' का अस्तित्व यहां प्रमाणित होता है। किन्तु उपरान्त वह विशेषता—सर्वज्ञ होने की कला—यहां के अयोग्य मनुष्यों को नसीब न रही। वह उनके सीमित ज्ञान और परिमित शक्ति के बाहर की वस्तु हो गई; फलतः पुरातत्त्व के वेत्ता भी आज पूरे काबिल नहीं मिलते। जो हैं वह अपनी अपनी दृष्टि और अपने अपने ज्ञान के अनुकूल उसकी उपासना कर रहे हैं और अपने आविष्कारों और खोजों से दुनियां को चकित कर रहे हैं। किन्तु सबसे बड़े आश्चर्य की बात यह है कि जिस मत में सबसे ज्यादा पूर्ण-विज्ञ 'पुरातत्त्वज्ञ' हुये, उसी में आज एक भी साधारण-सा पुरातत्त्वज्ञ देखने को नहीं मिलता। मेरा मतलब जैनमत से है। 'जिन' भगवान का बताया हुआ मत जिनमत या जैन मत है। और उस मत-सम्बन्धी प्राचीन वार्ता को प्रकट करनेवाले जो भी साधन और सामग्री हो, वह सब "जैन-पुरातत्त्व" है। उसमें जैन

---

* इन्डियन हिस्टॉरीकल क्वार्टर्ली भा० ८ अंक २ और माडर्नरिव्यू, अगस्त १९३२ देखो।

† मज्झिमनिकाय १।२३८ व ९२-९३; अंगुत्तरनिकाय ३।७४। इत्यादि।

साहित्य, जैनकला, जैनध्वंसावशेष, जैन-शिलालेख, जैनमुद्रा, जैन-तीर्थ इत्यादि सब ही का समावेश हो जाता है। किन्तु इस "जैनपुरातत्त्व" के वास्तविक ज्ञानी नज़र नहीं आते। जैनसाहित्य के मर्मी सर्वाङ्ग विद्वान् ऐसा कोई नहीं जिसने सारे उपलब्ध साहित्य का मथन किया हो और 'दूध का दूध और पानी का पानी' करके उसका सच्चा निखरा हुआ रूप जगत के सामने रक्खा हो। आज एक नहीं अनेक सरस्वती-भाण्डार अछूते पड़े हैं- उनमें न जाने कितने अमूल्य ग्रन्थ-रत्न छुपे हुये हैं। उनको प्रकाश में लानेवाले जितने चाहिये उतने नहीं हैं। धन्यवाद है श्रीजैकोबी-सदृश पाश्चात्य विद्वानों को जिन्होंने दुनियां में जैनसाहित्य का प्रकाश फैलाया है। किन्तु सोचिये तो एक अजैन और वह भी विदेशी आपके धार्मिक-साहित्य का मूल्य क्या आँक सकेगा? कैसे वह जैन और अजैन प्राचीन कीर्तियों की ठीक-ठीक भेदविवत्ता कर सकेगा? कैसे वह मानेगा कि भारत के बाहर भी जैनपुरातत्त्व के चिह्न मिल सकते हैं? वह तो जानता और मानता है कि जैन-धर्म का प्रचार भ० पार्श्वनाथ के समय से हुआ है और वह भारत के बाहर नहीं पहुंचा है। उसे एक आस्तिक जैनी की भांति यह कैसे विश्वास हो कि एक समय सारे भूमंडल पर जैन-धर्म व्याप्त था। धर्मविज्ञान के प्रथम प्रचारक तीर्थंकर भगवान ही थे। जैन चिह्नों का, वर्तमान की ज्ञात और आगे ज्ञात होनेवाली सारी दुनियां में, मिलना असंभव नहीं है। जम्बूद्वीप में अनेक कृत्रिम और अकृत्रिम जैन कीर्तियों का अस्तित्व जैनशास्त्र बतलाते हैं। संसार में उपलब्ध पुरातत्त्व का जैनदृष्टि से यदि अवलोकन किया जाय तो उपर्युक्त व्याख्या सत्य प्रमाणित हो सकती है। जरा सोचिये, क्या भारत में ऐसी गलतियां नहीं हुई कि जिनमें जैन-कीर्तियां बौद्धादि की बता दी गईं? जैनसम्राट् खारवेल और उनका प्रसिद्ध शिलालेख एक समय बौद्धाम्नाय के माने जाते थे। विद्वानों का यह भी खयाल था कि जैनस्तूप होते ही नहीं; परन्तु मथुरा के पुरातत्त्व ने इस धारणा को गलत साबित कर दिया। अब भी विद्वानों की यह धारणा है कि जैनों में मूर्ति बनाने का रिवाज बहुत प्राचीन नहीं है। उनकी इस मान्यता में कारण यह है कि जैनसाधु के लिये मूर्ति का आश्रय लेना—उसके दर्शन करना आवश्यक नहीं है। किन्तु किसलिये आवश्यक नहीं है? इसका ठीक-सा उत्तर उनके पास नहीं है, क्योंकि वह जैनों की मूर्ति-पूजा के उद्देश्य से ही अनभिज्ञ हैं। जैनों की मूर्तिपूजा आदर्शपूजा है—वह पत्थर की पूजा नहीं है। वीतराग-विज्ञानता को प्राप्त करने के लिये एक गृहस्थ मुमुक्षु वैसी ही मूर्तियों से उसकी शिक्षा ग्रहण करता है। साधु इस शिक्षा को पार कर जाता है—इसलिये उसके लिये मूर्ति का दर्शन करना आवश्यक नहीं है—परन्तु उसके लिये उसका निषेध भी नहीं है। अब भला कहिये, यह कैसे माना जाय कि एक अत्यन्त प्राचीनकाल में जैनमूर्तियां नहीं थीं। यह

सच है कि जैनेतर पुरातत्त्वज्ञों ने भरसक कोशिश जैनकीर्तियों को प्रकाश में लाने की की है और उन्हीं के अध्यवसाय का यह फल है कि जैनपुरातत्त्व किञ्चित् प्रकाश में आया है और इसके लिये जैनी उनके चिरऋणी रहेंगे! परन्तु जैनदृष्टि से जैन पुरातत्त्व का ठीक विश्लेषण करना और उसको पहचानना एक जैन विद्वान् का ही काम है। जहाँ अजैन विद्वान् नहीं पहुँच सकते और जिस बात को वह नहीं समझ सकते उसको एक जैन पुरातत्त्वज्ञ सहज में समझ सकता है और उसकी गम्य भी विशेष है। कौशाम्बी जैसे स्थान का कोई भी ठीक ठीक पता कोसमको खुदाई हुये बिना नहीं चल सकता। फिर भी यदि वहां से आई हुई और इलाहाबाद के जैनमंदिरों में विराजमान मूर्तियों के लेखों का अध्ययन किया जाय तो इस विषय में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। साथ ही जैनमूर्तियों की आकृति पर भी नया प्रकाश पड़ सकता है। जैन पुरातत्त्व का अध्ययन करके एक जैन बहुत-सी नई और बड़े मूल्य की बातें जगत को भेंट कर सकता है! किन्तु जैनों में इस विषय की ओर रुचि ही नहीं है। आजसे लगभग सोलह वर्ष पहले स्वर्गीय सर विन्सेन्ट स्मिथ ने जैनों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था और एक बड़ा फण्ड एकत्र करके एक "जैन-पुरातत्त्व-समिति" स्थापित करने का प्रस्ताव जैन-समाज के सामने रक्खा था! किन्तु जैनों पर उसका कुछ भी असर न पड़ा। इस अवस्था में सबसे पहली आवश्यकता जैनपुरातत्त्व के उद्धार के लिये यह है कि जैनों में पुरातत्त्व के प्रति रुचि पैदा की जाय और उन्हें उसका महत्त्व दरसाया जाय। साथ ही जगत के विद्वानों के समक्ष जैनदृष्टि से पुरातत्त्व को दरसाने की भी आवश्यकता है। इनके द्वारा जो भी जैन पुरातत्त्व-विषयक श्रेष्ठ कार्य होते हैं उनका परिचय जैनों को कराया जाय। यह सब कार्य बिना एक-संगठित शक्ति के नहीं हो सकता। इसी आवश्यकता को महसूस करके 'श्रीजैनसिद्धान्त-भवन' आरा के सुयोग्य संचालकों ने प्रस्तुत त्रैमासिक पत्र के प्रकाशित किया है। इसका उद्देश उपर्युक्त कार्य की सिद्धि करना है और अपने पृष्ठों द्वारा प्राचीन-जैन-वार्ता-विज्ञान अथवा पुरातत्त्व का यथासंभव प्रकाश करना है। उसका प्रत्येक शब्द ज्ञान-रत्न की तुलना करे और सच्चे पुरातत्त्वज्ञ 'जिन' के 'विज्ञान' का प्रभाव दुनियां में फैलावे, यही हमारी हार्दिक भावना है। वह यथानाम ठीक "जैनसिद्धान्त-भास्कर" सिद्ध हो, यही कामना है। साथ ही यह वाञ्छा है कि जैनी शीघ्र ही जैन-पुरातत्त्व के उद्धार करने के महत्त्व को हृदयङ्गम करलें और एक बड़ा-सा फण्ड स्थापित करके जैन-पुरातत्त्वज्ञ एक नहीं अनेक इस भूतल पर घूमते हुए जैनकीर्तियों का उद्धार करनेवाले पैदा कर दें। "जैन-भास्कर" के अरुणोदय में इन भावनाओं की सफलता के लिये हम सच्चे पुरातत्त्वज्ञ श्री जिनेन्द्र का पवित्र हृदय से स्मरण करते हैं और हमारी विनय है कि प्रत्येक जैन और

अजैन विद्वान् अपनी बिसात इस पुण्य-यज्ञ में हमारा साथी बने। प्रत्येक जिनेन्द्रभक्त का यह कर्तव्य है कि वह इस 'भास्कर' का स्वयं ग्राहक बने और अपने स्थान के मंदिर, सिद्धान्त-भवन और वाचनालय में इसके पहुंचाने का प्रबन्ध करें। 'भास्कर' का उदय चलतू साहित्य को सिरज कर थोड़ी देर का मनोरंजन करने के लिये नहीं हुआ है -- इसका उदय स्थायी और अमूल्य साहित्य—ठोस ज्ञान को सिरजने के लिये हुआ है। क्या आप इस 'ज्ञान-भास्कर' से अपना गृह प्रकाशित नहीं करेंगे? यदि आप ज्ञान के उपासक हैं तो इसे अवश्य अपनाइये।

विदुषी पम्पा देवी

(ले०—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

प्राचीन कर्नाटक जैन विदुषियों में कन्ति को छोड़ कर उल्लेखार्ह अन्य किसी प्राचीन जैन महिला का नाम उपलब्ध नहीं होता है, यह सचमुच खेद की बात है। प्राचीन साहित्यान्वेषण से यह प्रमाणित हो चुका है कि प्राक्तन जैन विद्वान् भारत की प्रायः सभी भाषाओं के साहित्य के स्तम्भ स्वरूप थे। निष्पक्षपाती सभी विद्वान् उन प्राचीन जैन विद्वानों की कीर्ति-गाथा को आज भी सहर्ष गाते हैं। ऐसी परिस्थिति में प्राचीन जैन विदुषियों की संख्या की कमी वस्तुतः अधिक खटकती है। यह जैन स्त्रीसमाज का दुर्भाग्य है। अस्तु, आज मैं एक कर्नाटक जैन विदुषी महिला का संक्षिप्त परिचय 'भास्कर' के सुज्ञ पाठकों के सामने उपस्थित करूँगा।

इस विदुषी महिला का नाम पम्पा देवी है। इनके पूज्य पिता का नाम तैल सान्तार और माता का नाम चलल देवी था। सान्तार वंश का यह तैलसान्तार पोम्बुच्च में राज्य-शासन करता रहा। यह सर्व विदित है कि प्राचीन काल में पोम्बुच्च एक समृद्धशाली जैन राजधानी थी। वहां पर पूर्वोक्त सान्तार वंश के अन्यान्य शासकों के द्वारा निर्मापित कई जैनस्मारक आज भी जीर्णावस्था में दृष्टिगोचर होते हैं। उल्लिखित तैल सान्तार महादानी रहा; इसीलिये यह जगदेक-दानी भी कहलाता था। इनकी धर्म-पत्नी पूर्वोक्त चलल देवी भी विशिष्ट जिन-भक्ता थी।

इन आदर्श दम्पतियों को श्रीवल्लभ अथवा विक्रम सान्तार नामक पुत्र तथा पम्पा देवी नामकी पुत्री थी। पम्पा देवी महापुराण की विशेष मर्मज्ञा रही। यह अनन्य पण्डिता थीं इसीलिये शासनदेवी कही जाती थीं। इन्हें वाच्चल देवी नाम की केवल एक पुत्री थी। यह वाच्चल चालुक्य-राजा तैल के सेनापति मल्लप्प की पुत्री एवं नागदेव की स्त्री

अत्तिमब्बे के समान विशेष प्रवीण थी। अत्तिमब्बे भी परम जिनभक्ता थीं। इन्होंने कन्नड कवि-श्रेष्ठ राजमान्य महाकवि पोन्न के शान्ति-पुराण की एक हजार प्रति लिखवा कर धर्मार्थ वितरण किया था तथा डेढ़ हजार सुवर्ण और रत्नमयी जिन-मूर्तियों का निर्माण कराया था।* कर्नाटक प्रान्त के प्राक्तन दानवीरों की श्रेणी में इस दान-चिन्ता-मणि अत्तिमब्बे का नाम अवश्य उल्लेख-योग्य है। एक दिन ग्रीष्मकाल में यह श्रवणबेलगोल स्थित बाहुबली स्वामी की सर्वाङ्गसुन्दर, लोक-विख्यात मूर्ति के दर्शनार्थ वहां पर गयी थी। पर्वत पर चढ़ती हुई अत्तिमब्बे तीखी धूप से सन्तप्त हो मन में सोचने लगी कि अगर इस समय कुछ वर्षा होती तो बड़ा अच्छा होता। फलतः तत्क्षण अकस्मात् मेघ एकत्रित होकर जोरों से पानी बरसाने लगा। इस अचिन्तित आश्चर्यकारी घटना से अत्तिमब्बे की भक्ति द्विगुणित हुई। यह निरायास पर्वत पर चढ़ कर असीम भक्ति से बाहुबली स्वामी की पूजा कर सन्तुष्ट हुई।

कन्नड-कवि रत्नत्रयों में अन्यतम सर्वमान्य महाकवि रन्न ने अपने अजित-पुराण में इस शुभ घटना का उल्लेख किया है। उल्लिखित हमारी पम्पा देवी ने 'अष्ट-विधार्चना-महाभिषेक' तथा 'चतुर्भक्ति' की रचना की है। यह बात पूर्वोक्त पोम्बुच्च के तोरण बागिलु के उत्तर स्तम्भ पर स्थित सन् ११४८ के शिलालेख से विदित होती है। यह द्राविड़-संघ, नन्दिगण, अरुङ्गलान्वय के अजित-सेन अथवा वादीभसिंह की शिष्या थीं। श्रीवादीभसिंह प्राचीन आदर्श जैन संस्कृत महाकवियों में अन्यतम हैं†। इनके 'गद्यचिन्तामणि' 'क्षत्रचूडामणि' काव्य सुप्रसिद्ध हैं। पूर्वोक्त इनकी ये कृतियां काव्योचित माधुर्यादि गुणों से ओतप्रोत हैं। 'पदलालित्य, मनोहर शब्दसन्निवेश, सरल प्रतिपादनशैली, आश्चर्यकारी कल्पनाचातुर्य्य, चित्ताकर्षक धर्मोपदेश, धर्मानुकूल नीति, पुण्यपाप-संबन्धी स्वाभाविक शुभाशुभ फलों का वर्णन' आदि अनेक प्राञ्जल विशिष्ट गुणों से वादीभसिंह के ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इनके अजितसेन, वादीभसिंह, ओडेयरदेव ये तीन नाम उपलब्ध होते हैं। मेरा खयाल है कि इनमें से ओडेयरदेव जन्मनाम, अजितसेन दीक्षानाम और वादीभसिंह पाण्डित्योपार्जित उपाधि है। वादीभसिंह का जन्मस्थान अज्ञात है। परन्तु इनका ओडेयरदेव नाम, मद्रास प्रान्त के पोलूरु ताल्लूक में स्थित समाधिस्थान, द्राविड़ संघ ये तीनों इनको तामिल प्रान्तीय प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं। इनकी प्राञ्जल-कृतियों का आश्रय लेकर ही तामिल में 'जीवक-चिन्तामणि' और कन्नड में 'जीवन्धर चरिते' रचे गये हैं। पोम्बुच्च के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि वे वहां भी कुछ समय रहे। अतः वादीभसिंह शायद कन्नड़ भी जानते थे।

*विशेष परिचय के लिये "दिगम्बर जैन" वर्ष २३ अंक १—२ देखें।

†श्रवणबेलगोल का शिलालेख नं० ५४ (६७) देखें।

विदित होता है कि वादीभसिंह को आदर्श महापुरुष महाराज जीवन्धर की जीवनी अधिक प्रिय थी। फलतः इनकी दोनों कृतियां तद्भव मोक्षगामी, आचार-शिरोमणि, महाप्रतापी जीवन्धर की जीवनी को चित्रित करती हैं। महाराज जीवन्धर का हेमांगद* देश वर्तमान मैसूर राज्य के अन्तर्गत था ऐसा कुछ ऐतिहासिक विद्वानों का मत है। जीवन्धर श्रीमहावीर स्वामी के समकालीन थे।

शिवमोग्ग जिलान्तर्गत पोम्बुच्च ग्राम में स्थित नं० ४० के सन् १०७७ के मानस्तम्भगत शिलालेख से विदित होता है कि विक्रम सान्तार ने अजितसेन पण्डितदेव का चरण धोकर भूमि दान किया। कडूर जिलान्तर्गत कोप्प तालूक कोप्प ग्राम में वर्तमान नं० ३ सन् (लगभग) १०९० के शिलालेख से ज्ञात होता है कि महाराज मारसान्तार के वंशज ने अपने गुरु मुनि वादीभसिंह अजितसेन की स्मृति में वहां के स्मारक को स्थापित किया। इसी प्रकार शिवमोग्ग जिला के तीर्थहल्लि ताल्लूक के नं० १९२ के सन् ११०३ के शिलालेख† से अवगत होता है कि पंचबस्ति के सामने अनन्दूर में चत्तल देवी और त्रिभुवनमल्ल सान्तारदेव ने द्राविड़संघ अरुङ्गलान्वय के अजितसेन पण्डितदेव के नाम से एक पाषाण-चैत्यालय बनवाया। इन उल्लिखित लेखों से ज्ञात होता है कि वादीभसिंह का समय ग्यारहवीं शताब्दी है। सोमदेव सूरिकृत 'यशस्तिलक-चम्पू' के द्वितीय आश्वासगत १२६वें पद्य की व्याख्या में श्रीश्रुतसागर सूरि ने 'वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः श्रीवादिराजोऽपि मदीयशिष्यः' सोमदेव सूरि के इस पद्य को उद्धृत कर वादीभसिंह और वादिराज को सतीर्थ बतलाया है। वादिराज ने सन् १०२५ में अपने पार्श्वनाथ-काव्य को पूर्ण किया था। अतः इससे भी वादीभसिंह का काल निर्विवाद रूप में ग्यारहवीं शताब्दी ही सिद्ध होती है।

और एक बात है, वादीभसिंह के ग्रन्थों में से अन्यतम "क्षत्रचूडामणि" के अन्त में 'राजतां राजराजोऽयं राजराजो महोदयैः। तेजसा वयसा शूरः क्षत्रचूडामणिर्गुणैः' ॥ यह पद्य है। इस पद्यगत 'राजराज' शब्द अवश्य विचारणीय है। मेरा खयाल है कि यह श्लेषात्मक शब्द है। इसमें ग्रन्थकर्ता ने जीवन्धर के अतिरिक्त तत्कालीन अन्य किसी राजा का भी उल्लेख किया है। वह राजा चोलवंश का राजराज होना चाहिये। राजराज चोल का समय भी यही ग्याहरवीं शताब्दी है।

इसी अवसर पर मुझे सरस्वती भाग २९, खण्ड २ में प्रकाशित श्रीयुत शम्भुनाथ त्रिपाठी, व्याकरणाचार्य के द्वारा लिखित "महाकवि हरिचन्द्र" शीर्षक लेख को देखने का

---

* इस विषय पर एक स्वतन्त्र लेख लिखा जायगा। (लेखक)

† इन शिलालेखों के लिये "मद्रास व मैसूर प्रान्त के जैनस्मारक" देखें।

सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसमें एक स्थान पर व्याकरणाचार्य जी ने हरिचन्द्र ने वादीभसिंह से कथा नहीं ली इस बात को खुलासा करते हुए यों लिखा है—"राजकेशरी वर्मा—उपाधि-धारी राजकुलोत्तुंग के राज्यकाल में सेक्किलर (तामिल कवि) ने "पिरियपुराणम्" ग्रन्थ बनाया है। उसमें "तिरुत्तकदेवर" कविकृत "जीवकचिन्तामणि" का कुछ जिक्र हुआ है। तिरुत्तकदेवर ने अपने "जीवक-चिन्तामणि" में लिखा है कि "वादीभ" के द्वारा प्रारंभ किये हुए इस ग्रन्थ के शेष भाग को हमने पूरा किया। इस नरेश का समय ग्यारहवीं ईसवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित है। अतः वादीभ का यही समय है।" व्याकरणाचार्य के इस समुद्धृत प्रमाण से भी मेरा उल्लिखित वादीभसिंह के समय-संबन्धी कथन और पुष्ट पड़ जाता है। परन्तु एक बात यहां पर विचारणीय है। वह यह है कि वादीभसिंह के जीवन्धर-जीवनी-विषयक दोनों ग्रन्थ संस्कृत में हैं और पूर्ण हैं। तिरुत्तकदेवर का "जीवक-चिन्तामणि" तामिल में है। ऐसी दशा में तिरुत्तक देवर कैसे लिख सकते हैं कि 'वादीभ के द्वारा प्रारंभ किये हुए इस ग्रन्थ के शेष भाग को हमने पूरा किया'। अगर तिरुत्तकदेवर का यह कथन सत्य है तो मानना पड़ेगा कि "जीवकचिन्तामणि" को वादीभ सिंह ने ही प्रारंभ किया था; पीछे इसी के शेष भाग को तिरुत्तकदेवर ने पूरा किया। इससे वादीभसिंह का जन्म-स्थान भी एक प्रकार से निश्चित हो जाता है जो कि ऊपर अनुमान से सिद्ध किया गया था।

अब पाठकों को भलीभांति विदित हो गया होगा कि श्रीवादीभसिंह का समय ग्यारहवीं शताब्दी है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये उल्लिखित प्रमाणों का उल्लेख कर इस लेख के कलेवर को बढ़ाना पड़ा। क्योंकि वादीभसिंह के कालनिर्णय के विना पम्पादेवी के कालनिर्णय का कोई अन्य साधन नहीं दीखता। जब वादीभसिंह का समय ग्यारहवीं शताब्दी सिद्ध होता है तब इनकी शिष्या पम्पादेवी का समय भी लगभग यही है ऐसा मानना ही पड़ेगा।



बिजोलिया के शिलालेख

(ले०—श्रीयुत मुनि हिमांशुविजय, न्यायकाव्यतीर्थ)

प्राक्कथन

मारवाड़ में 'बिजोलिया' गाँव से आध मील दूर पूर्वाग्नेय कोण में 'पार्श्वनाथ' नाम का एक स्थान है। वहाँ पर पत्थर में अनेक लेख खुदे हुए हैं। उनकी किसी महाशय ने कॉपी की थी। उस कॉपी पर से श्रीयुत पं० भ्रमर शर्मा जी ने उसकी नकल की। और उसे श्रीयुत सत्यनारायणजी पंड्या शिवपुरी लाए थे। उपयुक्त समझ कर मैंने शर्मा जी की लिखित कॉपी से प्रस्तुत कॉपी लिखी है। अतः मैं दोनों को साधुवाद देता हूँ।

दूसरी कॉपीकार ने लिखा है:—इस समय 'पार्श्वनाथ' नामक जैनमंदिर में हनुमान, शिवजी और गणपति की मूर्त्ति स्थापित कर वैदिकों ने उसपर आधिपत्य जमाया है। मुकदमा चल रहा है। पहले यहाँ पर 'महाशाश' नामक मंत्री जैनधर्मानुयायी थे। उक्त प्रदेश में जैनियों का प्रचार और उदय बहुत बड़ा था। इतिहासज्ञों के लिए भी यह एक काम की चीज है।

उक्त शिलालेख का बहुत कुछ भाग मूल कॉपीकार के पढ़ने में साफ नहीं आया होगा इसलिए उन्होंने छोड़ दिया। दूसरी नकल करनेवाले शर्मा जी को प्रथम कॉपीकार के जितने अक्षर साफ समझ में नहीं आए उतने उन्होंने भी छोड़ दिये। और शर्माजी की कॉपी से मैंने यह कॉपी की है। मुझे जो पाठ संदिग्ध लगा वहाँ मैंने (?) ऐसा चिह्न किया है। जो पाठ पढ़ने में साफ नहीं आया उसको मैंने भी ······चिह्न कर छोड़ दिया है। और बाकी शुद्ध या अशुद्ध जैसा पाठ उक्त दूसरी कॉपी में था वह मैंने यहाँ उतारा है। लेख का सम्बन्ध इतिहास के साथ होने से मूलस्थान में खुदे हुए शिलालेख से प्रस्तुत लेख शुद्ध किया जाय तो बहुत लाभ हो सकता है।

यहाँ दो शिलालेखों की कॉपी है। दूसरा प्रमाण में बड़ा है और पुरातत्त्वज्ञों के लिए भी काम का है। उसमें कई भारतीय राजा, मंत्री, श्रेष्ठी और उनके कुलों का वर्णन है। अनेक जैनमुनि और उनके संप्रदायों का उल्लेख है। जैनों के लिये—दिगम्बरों के लिये यह विशेष उपयुक्त है।



श्रीचन्द्रप्रभ

(जयपुरीय कला)

यह चित्र १म किरण में प्रकाशित "जैन-मूर्त्तियाँ" लेख से सम्बद्ध है

THE S. P. W., ARRAH.

इन दो के अतिरिक्त और भी लेख शर्मा जी की कॉपी में थे। 'रेवती नदी का शिलालेख' इन दो से भी बड़ा था। उसमें 'उत्तमगिरि' का वर्णन है जो कि उत्तम काव्य-बद्ध है। उक्त काव्य का नाम 'उत्तरपुराण' लिखा है। उसके पाँचों सर्ग उस शिलालेख (रेवती नदी के शिलालेख) में खुदे हुए हैं। उसमें "दत्त्वा कर्णं सुरेशे स्थितवति भवति स्मेरवक्त्रारविन्दे······" (उत्तरपुराण सर्ग १—५) पद्य है। यह पद्य वादिदेवसूरि के स्याद्वादरत्नाकर का है। आर्हतमतप्रभाकर पूना से प्रकाशित स्या० रत्नाकर के प्रथम भाग के पृष्ठ २ में यह चतुर्थ पद्य है। इससे ज्ञात होता है कि उक्त काव्य की रचना वादिदेव सूरि के काल में या उसके पश्चात् हुई है। वादिदेव सूरि का सत्ताकाल विक्रम सं० ११४३ से १२२५ तक है। उक्त तीसरे शिलालेख के अन्त में वि० सं० १२३६ फाल्गुन वदि १० लिखा है। इसके प्रारम्भ का भाग इस प्रकार है :—

"ओम् नमः सर्वज्ञाय—अज्ञानतिमिरान्धानां त्रैलोकसर्वजन्तूनाम्। नेत्रमुन्मीलितं येन तं वन्दे ऋषभं प्रभुम्॥".

इसके प्रत्येक सर्ग के अन्त में "श्रीसिद्धिसूरिविरचिते उत्तमशिखरपुराणे (प्रथमः सर्गः द्वितीयः सर्गः इत्यादि)

इस पंचसर्गात्मक खुदे हुए काव्य के कुल २९४ पद्य हैं। इसमें पार्श्वनाथ-कमठ का प्रसंग और भ० महावीर-गौतम का मनोज्ञ वर्णन है। इतिहासज्ञों के लिये विशेष महत्त्व का नहीं होने से हमने इसकी नकल नहीं की है।

मैं आशा करता हूँ कि 'बिजोलिया' के सभी शिलालेखों के विषय में पुरातत्त्वज्ञ विशेष शोध करेंगे।

शिलालेख स्तम्भ नं० २

ॐ अर्हद्भ्यो नमः। स्वायंभुवं चिदानन्दं स्वभावे शास्वतोदयम्। धामध्वस्ततमस्तोम-ममेयं महिम स्तुमः॥१॥ ध्रव्योपेतमपि व्ययोदययुतं स्वात्मक्रम·········; लोकव्यापि परं यदेकमपि चानेकं च सूक्ष्मं महत्। श्रीचन्द्रामृतपूरपूर्णमपि यच्छून्यं स्वसंवेदनम्। ज्ञानाद् गम्यमगम्यमप्यभिमतप्राप्त्यै स्तुवे ब्रह्मतात्॥२॥ त्वमर्कसोमोवृत.........तलेऽस्मिन् घनानमूर्त्तिः किमु विश्वरूपः। स्रष्टा विशिष्टार्थविभेददक्षः स पार्श्वनाथस्तनुतां श्रियं वः॥३॥ श्रीपार्श्वनाथ क्रियतां श्रियं वो जगत्त्रयीनन्दितपादपद्मः॥ विलोकिता येन पदार्थसार्थः निजेन सज्ज्ञानविलोचनेन॥४॥ सद्वृत्ताः खलु यत्र लोकमहिता मुक्ता भवन्ति श्रियो; रत्नानामपि भद्रये सुकृतिनो यं सर्वदोपासते। सद्धर्मामृतपूरपुष्टसुमनस्स्याद्वाद-चन्द्रोदयाः कान्ती सोऽक्षसनातनो विजयते श्रीमूलसंघोदधिः॥५॥ श्रीगौतमस्यादिगणीशवंशे

श्रीकुन्दकुन्दो हि मुनिर्बभूव। पट्टे ष्वनेकेशु (षु) गतेषु तस्माच्छ्रीधर्मचन्द्रो गणिषु प्रसिद्धः ॥६॥ भवोद्भवपरिश्रमप्रशमकेलिकौतूहली। सुधारससमः सदा जयति यद्वचः प्रक्रमः स मे मुनिमतल्लिका × × × × × ×

घिकचमल्लिकाजित्वर, प्रसृत्वरयशोभरो भवतु रत्नकीर्त्तिर्मुदे ॥७॥ प्रसर्प्यद्दृर्घन्ति प्रशमनपटुः सौगतशिरःकरोटीकुट्टाककषितखरचावकिनिकरः। अहंकारस्मेरः स्मरदमनदीक्षापरिकरः। प्रभाचन्द्रो जियाज्जिनपतिमतांभोनिधिविधुः ॥८॥ श्रीपद्मनन्दिविद्वन्विख्याता त्रिभुवनेऽपि कीर्त्तिस्ते। हारति हीरति हसति हरोत्तंसमनुहरति ॥९॥ ये के (वके) तर्कवितर्ककर्कशधियः केचित्परं। सादसा अन्ये लक्षणलक्षणा परम............धौरेकसाराः परे। सर्वग्रन्थरहस्यधौतधिषणो (वि)ज्ञानवाचस्पतिः, क्षोणीमण्डलमण्डनं भवति हि श्रीपद्मनन्दिर्गुरुः ॥१०॥ श्रीमत्प्रभेन्द्रपट्टेऽस्मिन्पद्मनन्दीयतीश्वरः। तत्पट्टाम्बुधिसेवीव शुभचन्द्रो विराजते ॥११॥ गंभीरध्वनिसुन्दरे समकरे चारित्र्यलक्ष्याकरे कारुण्यामृतदैवते गुणगणश्रेणीमणिदुस्तरे! स............समुल्लसत् .... मावेला कुले सागरे; पट्टे श्रीमुनिपद्मनंदि............भेन्दुर्गणी ॥१२॥ महाव्रतैः योऽत्र विभूषितोऽपि संसक्तचेताः समितौ गरिष्ठः। तथा हि कीर्त्या समलिंगकश्च श्रीहेमकीर्त्तिरभवद्यतीन्द्रः ॥१३॥ शिष्योयं शुभचन्द्रस्य हेमकीर्त्तिर्महान्सुधीः येन वाक्यामृतेनापि पोषिता भव्यपादपाः ॥१४॥ नि......धिकेयं सकला × × × × × ×

विशुद्धा श्रीहेमकीर्त्तेर्यतिनः सुसिद्ध ॥ आस्तां च तावज्जगतीतलेऽस्मिन् यावत् स्थवो(?) चन्द्रदिवाकरौ च ॥१५॥ सं० ४१८० वर्षे फाल्गुन शुद ८ चन्द्र।

शिला लेख नं० १ बावड़ी के उत्तर।

चिद्रूपं सहजोदितं निरवधि ज्ञानैकनिष्ठार्पितम् नित्योन्मीलितमुल्लसत्वरकलं स्यात्कारविस्फारितं। सद्युक्तं परमाद्भुतं शिवसुखानंदास्पदं शाश्वतम् नौमि स्तौमि जपामि यामि शरणं तज्ज्योतिरात्मस्थितम् ॥१॥ नास्तं गतः कुग्रहसंग्रहो वा नो तीव्रतेजा............वः। ....नैव सुदुष्टदेहो पूर्वो रविस्तात्समुदो व्र वः ॥२॥ भवेच्छ्रीशान्तिः ....सा सुत्तविभवभंगी भवभृतां, विभो यया भाति स्फुरितनखरोचि करयुगम्। विनम्राणामेषामखिलकृतिनां मंगलमयीं, स्थिरीकर्तुं लक्ष्मीमुपरचितरंगाव्रजमिव ॥३॥ नासाश्वासेन येन प्रबलबलभृतो पूरितः पांचजन्यः।..............खरदरमोलत...............पद्माग्रे दृशैः ॥ हस्ताङ्गुष्ठेन शार्ङ्गधनुरतुलबलं कृतसमारोप्य विष्णोरंगुल्यां दोलितोऽयं हलभृदि वनितं तस्य नेमेस्तनोमि ॥४॥ प्रांशुप्राकारकान्तात्रिदशपरिवृढव्यूहवद्वावकाशा। वाचाला केतुकोटिक्वणद्युमणिमसी किंकिणीभिः समन्तात् ॥ यस्य व्याख्यानभूमिमहह किमिद-

मित्याकुलाः कौतुकेन। प्रेक्षन्ते प्राणभाजः स खलु विजयतां तीर्थकृत्पार्श्वनाथः ॥५॥ वर्द्धतां वर्द्धमानस्य वर्द्धमानमहोदयः वर्द्धतां वर्द्धमानस्य वर्द्धमानमहोदयः ॥६॥ शारदाम् सारदाम् स्तौमि सारदानविशारदाम्। भारतीं भारतीं भक्तभुक्तिमुक्तिविशारदाम् ॥७॥ निःप्रत्यूहमुपास्महे जिनपतीन्तन्त्रानपि स्वामिनः। श्रीनाभेयपुरःसरान्परकृपापीयूषपाथोनिधीन्॥ यज्ज्योतिः परभागभाजनतया मुक्तात्मतामाश्रिताः। श्रीमन्मुक्तिनितम्बिनीस्तनतटे हारश्रियं बिभ्रति ॥८॥ भव्यानां हृदयाभिरामवसतिः सद्धर्मतः संस्थितिः। कर्मोन्मूलनसंगतिः शुभततिनिर्बाधबाधोद्धृतिः॥ जा (जी) वानामुपकारकारणरतिः श्रेयः श्रियां संसृतिर्देयान्मे भवसंभृतिः शिवमतिर्जैने चतुर्विंशतिः ॥९॥ श्रीचाहमानक्षिमीराजवंशपौर्वोप्ययौर्वोपि जडावतंशः। विस्तीतवाननृपरंप्रयुक्तो नो निःफलः सारयुतो नतो नो ॥१०॥ लावण्यनिर्मलमहोज्वलितांगयष्टिश्रीचलच्छुविपरिधानचाली॥ ······ ·········गपर्वतपयोधरभारभुग्ना साकंमराजनि जनीव ततोऽपि विष्णोः ॥११॥ विप्रः श्रीवत्सगोत्रेऽभूदहिच्छत्रपुरे पुरा। सामन्तोऽनन्तसामन्तपूर्णे तल्लनृपस्ततः ॥१२॥ तस्माच्छ्रीजयराजविग्रहनृपौ श्रीचन्द्रगोपेन्द्रकौ। तस्माद्दुर्लभगूवकौशशिनृपो गूवाक सन्नन्दनौ॥ श्रीमद्बप्पयराजविन्ध्यनृपतिः श्रीसिंहराड्विग्रहौ। श्रीमद्दुर्लभगुन्दवाक्पतिनृपाः श्रीवीर्यरामोऽनुजः ॥१३॥ श्रीचन्द्रोऽवनिपेति राणकवरः श्रीसिंहयेदूसलस्तभ्रातास्य ततोऽपि वोसलनृपः श्रीराजदेवीप्रियः॥ पृथ्वीराजनृपोऽथ तत्तनुभवो रासल्यदेवी विभुः॥ तत्पुत्रो जयदेव इत्यविनयः सौमल्लदेवीपतिः ॥१४॥ हत्वा·········गमि चलाधिपयशो राजादिवीरत्रयं क्षिप्रं क्रूरकृतान्तवक्रकुहरे श्रीमार्गदुर्दान्वितम्॥ श्रीमत्सोल्हणदंडनायकवरः संग्राम············जीव······वनियंत्रितः करभके ये नष्ट·········सात् ॥१५॥ अर्णोराजास्थसूनुधृतहृदयहरिः सत्ववासिष्ठसीमो गांभीर्यौदार्यवर्यः समभवदपराल्ब्धमध्यो नदीरसः। तच्चित्रं जन्तजाद्यस्थितिरधृतमहागंकहेतुर्न मथ्यो, न श्रीभुक्तो नदीपाकरश्चितरतिर्न ················सेव्यः ॥१६॥ यद्राज्यं कुशवारणं प्रति कृतं राजांकुशेन स्वयं येनात्मैवनचित्रमैतत्पुनर्मन्यामहे तां प्रति। तच्चित्रं प्रतिभासते सुत्रातेनां निर्वाण नारायणन्यकाराचरणेन भंगकरणं श्रीदेवराजं प्रति ॥१७॥ कुवलय विकाशकर्त्ता विग्रहराजो················चित्रं तत्तनयस्तच्चित्रं यत्र जडक्षीणसकलंकः ॥१८॥ भादानस्वं चक भादानपतेः परस्य भादानः। यस्य दृधत्करवाढः करालः करताल············॥१९॥ कृतान्तपथसज्जोऽभूत्सज्जनोऽसज्जनो भुवः। वैकुन्तं कुन्तपालो गामतो वैकुन्तपालकः ॥२०॥ जाबालिपुरं ज्वालापुरं कृता पल्लिका पिपल्लो। दानल्ल तुभ्यं रोषानड्वलं येन शौर्येण ॥२१॥ प्रतोल्यां चवढभ्यां च येन विश्रामितं यशः। दिल्लिकाग्रहणं शान्तमौलिका लाभलंभतः ॥२२॥ तज्ज्येष्ठभ्रातृपुत्रोऽभूत्पृथ्वीराजः पृथुपमः। तस्मदर्जितहेमांगो हेमकृन्नोऽभवत्ततः ॥२३॥ श्रीविधर्मायतेनापि पार्श्वनाथ-

स्वयंभुवे। दत्तं मोराद्गरीग्रामं मुक्तिभुक्त्योश्च हेतुना ॥२४॥ स्वर्णादिदानविहैर्देशभिर्महद्भि, तोलाचयै नगरदानपरैश्च विप्राः। येनार्चिताश्चतुरभूपतिवस्तुपालचाळम्य चाहमनसिद्धिकरीगृहीतः॥२५॥ सोमेश्वरलब्धराज्यस्ततः सोमेश्वरो नृपः। सोमेश्वरनुतो यस्माद्यतः सोमेश्वरो भवेत् ॥२६॥ प्रतापलंकेश्वरइत्यभिख्यां यः प्राप्तवान्प्रौढप्रभुः प्रतापः। यस्माभिमुख्यैर्वरवैरमुख्याः केचिन्मृताः केचिद्भिद्रुताश्च ॥२७॥ येन श्रीपार्श्वनाथाय रेवातीरे स्वयंभुवे। शासने रेवणाग्रामं दत्तं स्वर्गाभिकांक्षया ॥२८॥ अंधकाराय कवं शानुक्रमः...........तीर्थे श्रीनेमिनाथस्य राज्ये नारायणस्य च। अम्भोधिमथनादेव वलिभिर्बलशालिभिः ॥२९॥ निर्गतः प्रवरो वंशो देववृन्दैः समाश्रितः। श्रीमालपत्तने स्थाने स्थापितः शतमन्युना ॥३०॥ श्रीमालशैलप्रवरावचूलः परोशरः सत्वगुरुः सुवृत्तः। प्राग्वाटवंशोऽस्ति बभूव तस्मिन्मुक्तोपमो वैश्रवणाभिधानः॥३१॥ तदा मनोहरे चेत्रे कारितम् जिनमंदिरम्।.......... क्राग्वायस (कान्त्वायश) तत्वमेकत्र स्थिरतां गतम् ॥३२॥ यो चीकश्चन्द्रशुचिप्रमाणि थांग्रेरकादौ जिनमंदिराणि। कीर्त्तिद्रुमाराम-समृद्धिहेतौ विभान्ति कंदा इव यान्यमेदाः॥३३॥ कल्लोलमांसलितकीर्त्तिसुधासमुद्रः। सद्बुद्धि बंधु खधूद्धरणे ....॥ पारोपकार्यकरणे प्रगुणान्तरात्मा। श्रीबन्धुतमस्य तनय....... पदेऽभूत् ॥३४॥ श्रुभंकरस्तस्य सुतोऽजनिष्ट शिष्यैर्महिष्ठैः परिकीर्त्यकीर्त्तिः। श्रीजासटो सूतवदेकजन्मा यदंगजन्मा खलु पुण्यराशिः ॥३५॥.....................॥३६॥ चत्वारश्चतुराचाराः पुत्राः पात्रं शुभश्रियः। अमुष्यामुष्यधर्माणो बभूवुर्भार्ययोर्द्वयोः ॥३७॥ एकस्यां द्वावजायेतां श्रीमदाम्बटपद्माटौ। अपरस्यां...............लक्ष्मटदेसलौ ॥३८॥ प्राकारंनखेरवीरवेश्मकारणपाटवम्। प्रकटितं खोयवित्तेन वानुलेय महीतलम् ॥३९॥ पुत्रौ पवित्रौ गुणरत्नपात्रौ, विशुद्धमात्रौ समशीलसूत्रौ। बभूवतुर्लक्ष्मटकस्य नेत्रौ मुनीन्द्ररामेन्द्वभिधौ प्रसन्नौ ॥४०॥ षड्वंडागमवद्धसौहृदभराः षड्गीव रक्तेश्वराः षड्भेदेन्द्रियवश्यजाः परिकराः षड्कर्मक्लृप्ता दश॥ षड्वंडावनिकीर्त्तिपालनपराः षाड्गुण्यचिन्ताकराः। षट्दध्यम्बुजभास्कराः समभवन् षड्देशलस्यां गजाः ॥४१॥ श्रेष्ठी दुइलनायकः प्रथमकः श्रीमांसलो कामजिद्देवस्पर्शे इतोऽपि सीयकवरः श्रीसाहको नामतः॥ यतेसंक्रमतो जिनक्रमयुगाम्भोजोकभूयोपमाः। मान्या राजशतैर्वदान्यमतयो राजंति जम्बूत्सवः॥४२॥ हर्म्यं श्रीवर्द्धमानस्याजयमेरोर्विभूषणम्। कारितं यैर्महाभोगैर्विमानमिव नाकिनाम् ॥४२॥ तेषामन्तःश्रियः पात्रं सोयकश्रेष्ठिभूषणम्। मेवाडणकरमहादुर्गं भूषयामास मूर्तिना ॥४४॥ यो न्यायांवरसेचनैकजलदः कीर्तेर्निधानं परं। सौजन्याम्बुजनीविकासनरविः पापाद्रिभेदे पविः॥ कारुण्यामृतवारिधेर्विलसने राकाशशांकोपमो नित्यं साधुजनोपकारकरणव्यापारबद्धादरः ॥४५॥ येनाकारि जितारिनेमिभुवनं देवाद्रि

शृंगोद्धरं । चंचत्कांचनचारुदंडकलशश्रेणीप्रभाभासुरम् ॥ खेलत्खेचरसुन्दरीभ्रमभरं भंज...जोर्वीजनैर्ध त्तेश्वापदशैलशृंगजिनभृत्प्रोद्दामसन्यश्रियः ॥४६॥ श्रीसीयकस्य भार्ये स्तो नागश्रीमामटाभिधे आद्यायास्तु त्रयः पुत्रा द्वितीयायाः सुतद्वयम् ॥४७॥ पंचाचार-परायणात्ममतयः पंचांगमंत्रोज्ज्वलाः पंचज्ञानविचारणासुचतुराः पंचेन्द्रियार्थोजयाः ॥ श्रीमत्पंचगुरुः प्रणाममनसः पंचाणुशुद्धवृत्ताः पंचैतेतन्याग्रहं..............रया श्रीसीयक श्रेष्ठिनः ॥४८॥ आद्यः श्रीनागदेवोऽभूल्लोलाकश्चोज्ज्वलस्तथा । महीधरो देवधरो द्वावेतावन्यमातृजौ ॥४९॥ उज्ज्वलस्यांगजन्मानौ श्रीमद्दुर्लभलक्ष्मणौ अभूतां भुवनो-द्भासियशोदुर्लभलक्ष्मणोः ॥५०॥ गांभीर्यं जलधेः स्थिरत्वमचलात्तेजस्वितां भास्वतः सौम्यं चन्द्रमसः शुचित्वम् स्रोतस्विनीतः परम् । प्रत्येकं परिगृह्य विश्वविदिता यो वेधसा सादरं, मन्ये वीजकृते कृतः सुकृतिना सल्लोलकश्रेष्ठिनः ॥५१॥ अथागमन्मन्दिरमेष कीर्त्तेः श्री-विन्ध्यवल्लीं धनधान्यवल्लीं । तत्रातु........तलस्सुराः कंचिन्नरेशं पुरतः स्थितं सः ॥५२॥ उवाच कस्त्वं किमिहाभ्युपेतः कुतः सतं प्राह फणीश्वरोऽहम् । पातालमूलात्तव दर्शनाय श्रीपार्श्वनाथः स्वयमेष्यतीह ॥५३॥ प्रातस्तेजः समुत्थाय न कंचन विवेचितम् स्वप्नस्यान्तर्मनो भावा यतो वातादिभूषितः ॥५४॥ लोलार्कस्य प्रियास्तिस्रो बभूवुर्मनसः प्रियाः ललिता कमला श्रीश्च लक्ष्मीर्लक्ष्मी सनामयः ॥५५॥ ततः सभक्तां ललितां बभाषे गत्वा प्रियां तस्य निशि प्रसुप्ताम् शृणुष्व भद्रे धरणोहमैहि श्री........दर्शयामि ॥५६॥ तया स चोक्तो...... यत्वमदिशत्—मैतत् श्रीपार्श्वनाथाय समुद्धृतिं स प्रासादमध्यं च करिष्यतीह ॥५७॥ गत्वा पुनर्लोलिकमैवमूचे भो भक्तसुक्तानुमतासिरक्ता । देवे धने धर्मविधौ जिनेशो श्रीरेवतीतीर-मिहापपार्श्वः ॥५८॥ समुद्धरेनं कुरु धर्मकार्यं त्वं कारय श्रीजिनचैत्यगेहं । येनाप्स्यसि श्रीकुलकीर्त्तिपुत्रपौत्रीससंतानसुखादिवर्द्धि ॥५९॥ तदेतन्भीमाख्यं वनमिह निवासो जिनपतेस्तदा ते प्रावाणाः शठकमठमुक्तागगनतः । सुधारमि ....द्रवयतः कुण्डसरितः तदत्रैतत्स्थानं........रगमं पापपरमम् ॥६०॥ अत्रास्त्युत्तममुत्तमाद्रिशिखरं साधुपूर्म-चोच्छ्रितं, तीर्थं श्रीवरतापिकात्रपरमम् देवोतिमुक्ताभिधः सत्यश्चोल घटेश्वरः सुरनुतो देवः कुमारेश्वरः, सौभाग्येश्वरदक्षिणेश्वरसुरौ मार्कण्डरिस्येश्वरौ ॥६१॥ सत्योम्बरेश्वरोदेवो ब्रह्ममहेश्वरादीप । ....॥६२॥ ....॥६३॥ कर्तिनाथं च व...........स्वामिनः । संगमेशः कुटीशश्च मुखेश्वरवटेश्वरौ ॥६४॥ नित्य-प्रमोदितादेवो सिद्धेश्वरगयायुसः । गंगा भेदं च सोमीशं गणनाथ त्रिपुरान्तकः ॥६५॥ संस्था त्रिकोटिलिङ्गानां यत्रास्ति कुटिला नदी । स्वर्णज्योतश्वरो देवः समं कपिलधारया ॥६६॥ नाल्पमृत्युर्न वा रोगा न दुर्भिक्ष इत्येवं..॥६७॥ कृत्यावतारक्रियाम् । कृत्वा पार्श्वजिनेश्वरोऽत्र कृपया सौधाध्यवासः पतिः । शक्तेयं

क्रिथिकश्चिय त्रिभुवनं प्राणी प्रबोधप्रभुः ॥६६॥ इत्याकर्ण्य वचो विशुद्धमनसा तस्योरग-स्वामिनः। संप्रातः प्रतिबुद्धपार्श्वममितः चोणीं विदार्य त्तणात्। तावत्तत्र विभुं ददर्श सहसा निःप्राकृताकारिणम्। कुण्डाभ्यर्णतपश्च ध्यानं दधतं स्वायंभुवः श्रीश्रितम् ॥७०॥ नासीद्यत्र जिनेन्द्रपादनमनं नो धर्मकर्मार्जनं न स्नानं न विलेपनं न च तपो ध्यानं न दानार्चनम्। नो वा सन्मुनिदर्शनम्................बभूव सदनं...॥७१॥ तत्कुण्डमध्यादथ निर्जगाम श्रीसीथकस्यागमनेन पद्भ्याम् ॥७२॥

यत्रावतारमाकार्षीदत्र पार्श्वजिनेश्वरः। तन्ननागह्रदे यत्तं गिरिस्तंवः प्रयातसः ॥७३॥ यत्तोऽपि दत्तवान् स्वप्नं लक्ष्मणब्रह्मचारिणः। तत्राहमपि प्राप्स्यामिश्थल पार्श्वविभुर्मम ॥७४॥ रेवतीतीरकुण्डेन या नारी स्नानमाचरेत्। सा पुत्रभर्तृसौभाग्यं लक्ष्मीं च लभते स्थिराम् ॥७५॥ ब्राह्मणः चत्रियो वापि वैश्यो वा शूद्रजोऽपि वा। ....स्नानकर्ता स प्राप्नोत्युत्तमां गतिम् ॥७६॥ धनं धान्यं धरा......धौरेयतांधियम्। धराधिपनि सन्मानं लक्ष्मीं प्राप्नोति पुष्कलाम् ॥७७॥ तीर्थाश्चर्यमिदम् जनेन विदितं यद् गीयते सांप्रतं। कुष्ठप्रेतपिशाचकुज्वररुजाहीनांगगंडापहम्। सन्यासं च चकार निर्गतभयम् घूकशृगालोदयं। काकीनाकभवापदेव कलया किं किं न संपद्यते ॥७८॥ श्लाघ्यं जन्म कृतं धनं च सफलं नो तीर्थ सिद्धिं मतिः सद्धर्मापि च दर्शित तनुरुहः स्वमोर्पितसत्यतां। ....रद्दष्टिदूषितमनाः संदृष्टिमार्गं कृतो, जैन...............त्रिलोलकश्रेष्ठिनः ॥७९॥ किं मेरोः शृंगमेतत्किमुत हिमगिरेः कूटकोटिः प्रकाण्डं किंवा कैलासकूटं किमुत सुरपतेः स्वर्विमानं स्वविमानं। इत्थं यत्तर्कयंतेस्म प्रतिदिनममरैर्मर्त्यराजोत्करैर्वा। मध्ये श्रीलोलकस्य त्रिभुवनभरणादुच्छ्रितं कीर्तिपुंजं ॥८०॥ पवनोद्धूतपताका पाणिको भव्यमुख्यान्पटुपरहाननादा दाहयत्येश जैनकलि कलुष मथोच्चैर्दूरमुत्साहयेद्वा, त्रिभुवनविभु—भाभृत्यती ॥८१॥

काश्चित्स्थानकमाधरंति दधते काश्चिच्च गीतोत्सवं काश्चित् बिभ्रति तालवंशललितं कुर्वन्ति नृत्यंचका। काश्चिद्वाद्यमुवाद्यन्ति निभृतं वीणास्वरं काश्चन यत्रोश्चैर्ध्वजकिंकिणी युवतयः केषां मुदे नाभवन् ॥८२॥ यः सवृत्तयुतः मुदोपि कलितस्त्रासाद्विदोषोज्झितश्चिन्ताख्यातपदार्थदानचतुरश्चिन्तामणेः सोदरः सोऽभूच्छ्रीजिनचन्द्रसूरिसुगुरुस्त्युत्पादपंकेरुहो यो भ्रव्यापतपोऽथ लोलकवरस्तीर्थं चकारैव सः ॥८३॥ रेवत्याः सरितस्तटे तरुवराः यत्र च्युयन्ते भृशं शाखा बाहुलतोरकरैर्नखराग्रैस्कोकिलानां रुतैः। मत्पुष्पोच्चयपत्रसत्फलचयैरानिर्मलैः भो भोभ्यर्चयत् अभिषेकयत् वा श्रीपार्श्वनाथजिनम् ॥८४॥ यावत्पुष्करतीर्थसैकतकुलं यावच्च गंगाजलं यावत्तारकचन्द्रभास्करकराः यावच्च दिक्कुंजराः। यावच्छ्रीजिनचंद्रशासनमिदं यावन्महेन्द्रं पदं तावत्तीर्थयुतं प्रशास्मसहितं जैनं

स्थिरं मंदिरम् ॥८५॥ पूर्वतो रेवतीसिन्धु..................पिपुरं तथा। दक्षिणस्यां मठस्थानमुदीच्यां कुण्डमुत्तमम् ॥८६॥ दक्षिणोत्तरतो वाटी नाबावृक्षैरलंकृतम्। कारितं लोलिकेनैतत्सप्तायतनसंयुतम् ॥८७॥ श्रीमन्मारसिंहे ऽभूद्गुणभद्रो महामुनिः। कृता प्रशस्तिरेषा कवीनां कण्ठभूषणम् ॥८८॥ नैगमान्वयकायस्थच्छितिपस्य च सूनुना। लिखितं केसवेनेदं मुक्ताफलमिवोज्वलम् ॥८९॥ हरसिंहसूत्रधारस्य तत्पुत्रो पाल्हणो भवितदं गजेनाहडंनापि निर्मापि जिनमंदिरम् ॥९०॥ नालिमः पुत्रगोविन्द पाल्हणसुत देल्हणः। उत्कीर्ण प्रशस्ति............कीर्तिस्तम्भम् प्रतिष्ठितम् ॥९१॥ प्रसिद्धिमगमद्देवः कलिविक्रमभास्वतः। षड्विंशद्वादशशते फाल्गुने कृष्णपक्षके ॥९२॥ तृतीयायां तिथौ वारे गुरोस्तारे च हस्तके धृतिनामनि योगे च करणे तैतिले तथा ॥९३॥ संवत् १२२६ फाल्गुन वदी ३ तोज कां.........खणाग्राम.........गुहितपुत्र रा० दाम्वरा म्हं द (?) णसिंहहाभ्यां दोलडोहसी (?) १। डुगराग्रामवास्तव्य मैाडसोनिगवासुदेवाभ्यां........... तडोहसिका (?) १। ओतरीप्रतिगणे.........रायताग्रामीय मत्र.........बड़ीयोयसीस्यां दत्तदोत्रडोहासिका (?) बडौवाग्रामवास्तव्य पारिग्रही भ्रालहणेन दत्त दोत्रडोहलिका (?) लघुनी.........सी ग्रामसंगुहितपुत्रराठप्रारम्भहस्तम- माद्वयां दत्तदोत्रडोहलिका (?)॥

बहुभिर्वसुधा भुक्ता राजभिर्भरतादिभिः।
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥१॥

नोट—बिजोलिया के इन दोनों शिलालेखों में पद पद पर भद्दी गलतियाँ मिलती हैं। मौलिकता नष्ट होने के खयाल से ही वे नहीं सुधारी गयीं। —के० बी० शास्त्री



संस्कृत में दूतकाव्य साहित्य का निकास और विकास

(ले०—श्रीयुत चिन्ताहरण चक्रवर्ती, एम.ए., काव्यतीर्थ)

संस्कृत साहित्य में 'दूतकाव्यों' अथवा संदेशरूप पद्यों को मुख्य स्थान प्राप्त है। संस्कृत साहित्य में जो गीत-पद्य (Lyric Poetry) का एक अभाव सा है उसकी पूर्ति इन दूतकाव्यों एवं पञ्चकों, अष्टकों, दशकों और शतकों से हो जाती है। किन्तु इन सब में दूतकाव्य ही विशेष मूल्यमयी रचनायें हैं। इनमें कविता भी उच्च आदर्श को लिये हुये हैं और वह प्रेमियों के विरह-व्यथा-वर्णन में सरसता को प्रकट करती है। साथ ही उनका महत्त्व प्राचीन अथवा मध्यकालीन भारत के किसी भाग के भौगोलिक वर्णन परिपूर्ण होने के कारण और भी बढ़ा हुआ है। अतः इन पद्यों के निकास और विकास सम्बन्ध में विचार करना असंगत न होगा।

अनेक विद्वानों ने अपने ज्ञान में आये हुए 'दूतकाव्यों' की सूचियां प्रकट की हैं। हिज हाईनेस महाराज रविवर्म ने मालाबार में विकसित छह दूत काव्यों का उल्लेख किया है[१]। उधर ऑफ्रेट सा० इनसे भिन्न अन्य दश काव्य बतलाते हैं[२]। मनमोहन चक्रवर्ती इन दोनों को मिला कर अपनी लिस्ट में सोलह दूतकाव्यों की गणना करते हैं।[३] किन्तु मैंने अविकल परिश्रम के फलरूप ऐसे पचास काव्यों का पता लगा लिया है; जिनका विवेचन मैं यहां करूंगा। तो भी इनके अतिरिक्त कुछ और दूतकाव्य हैं, जिनका पता अभीतक नहीं लग पाया है।

उपलब्ध दूतकाव्यों का विवेचन।

दूतकाव्य साहित्य के संभव निकास और विकास के प्रश्न पर विचार करने के पहले इस साहित्य का सामान्य अवलोकन कर लेना उचित है। यहां हम उनका उल्लेख अकारादि क्रम से करेंगे। समयापेक्षा उल्लेख करना इस समय अशक्य है; क्योंकि सबही काव्यों का रचनाकाल उपलब्ध नहीं है। छंद भी विशेषतः 'मन्दाक्रान्ता' व्यवहृत हुआ है।

(१) इन्दुदूतम्[४]—की रचना लोक प्रकाश, कल्प सुबोधिका और हैमलघुप्रक्रिया (वि० सं० १७१०)[५] के कर्ता विनयविजयगणि द्वारा हुई है। इसमें कुल १३१ श्लोक हैं; जिनमें यह जैनकवि जोधापुर (जोधपुर) से चन्द्रमा को अपना दूत बनाकर सूरत में अवस्थित अपने गुरु के पास अपने समुचित चारित्रपालन का संदेशा देकर भेजता है। जोधपुर से सूरत तक बीच में आये हुये जैन मंदिरों और तीर्थों का वर्णन भी इसमें खूब आया है।

१। जर्नल रायल एशियाटिक सोसाइटी, १८८४, पृ० ४०१... २। Z.D.M.G. vol. 54, p. 616.

३। जर्नल बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, १९०५, पृ० ४२। ४। काव्यमाला गुच्छ १४ पृ० ४०–६०।

५। बेलवेल्कर—Systems of Sanskrit Grammar, p. 79.

(२) **उद्धवदूतम्**[१]—माधव शर्मा की रचना है। १४१ श्लोक हैं। इसमें कृष्ण की ओर से गये हुये दूत उद्धव का वर्णन है कि कैसे उनने गोपियों को कृष्णजी का संदेशा देकर शान्त किया था, जो हिन्दुओं के भागवतपुराण (१०।४७) के अनुसार है।

(३) **उद्धवसन्देश**[२]—रूपगोस्वामिन् की कृति बतलाया जाता है। इसमें भी १३८ श्लोकों में उद्धव जी द्वारा कृष्ण जी का संदेश मथुरा पहुँचाने का वर्णन है। कवि का अन्य ग्रंथ हंसदूतम् भी है।

(४) **कीरदूतम्**[३]—के कर्ता रामगोपाल को महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री जी नवद्वीप (बंगाल) के राजा कृष्णचन्द्र के दरबार का कवि अनुमान करते हैं।[४] इसमें मथुरा की गोपियों ने एक तोते को दूत बना कर कृष्ण जी के पास अपना संदेश लेकर भेजा है। १०४ काव्य हैं।

(५) **कोकिल-संदेश**[५]—उत्तर अर्काट के निवासी रंगनाथ के पुत्र उद्दण्ड कवि की रचना है जो पन्द्रहवीं शताब्दि के प्रारम्भ में हुये हैं।[६] कहा जाता है कि भृङ्गसंदेश के उत्तर में यह काव्य लिखा गया था, जिसे उसके कर्त्ता वासुदेव ने उद्दण्ड कवि के प्रति भेजा था। उसमें काञ्ची के एक प्रेमी के द्वारा कोयल को अपना दूत बना कर केरल में स्थित अपनी प्रेमिका के पास भेजने का वर्णन है।

(६) **कोकिल-संदेश**—नृसिंहरचित। (अडयार लायब्रेरी लिस्ट, मद्रास पृष्ठ १२८)।

(७) **कोकिल-संदेश**—तात्य के पुत्र वेङ्कटाचार्य-द्वारा संकलित। (बर्नेल—संस्कृत ग्रंथ इन्डेक्स, पैलेस लायब्रेरी, तन्जोर पृष्ठ १५७)।

(८) **चकोर-संदेश**—(उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ १५८)।

(९) **चन्द्रदूत**[७]—कृष्णचंद्र तर्कालङ्कार की कृति है जो गोपीनाथ भट्टाचार्य के पुत्र थे। इसमें लङ्का से हनुमान जी के लौट आने पर रामचन्द्र जी के माल्यवत् पर्वत से चन्द्रमा को दूत बना कर अपना संदेशा सीताजी के पास लङ्का को भेजने का वर्णन (वैदिक रामायण के अनुसार) है।

(१०) **चन्द्रदूत**[८]—जम्बूकवि-रचित। मालिनी छंद के २३ पद्यों में समाप्त है; जिसमें 'अन्त्ययमक' को प्रत्येक पद्य में चित्रित किया गया है।

(११) **चन्द्रदूत**—विनयप्रभ-द्वारा संकलित। (रिपोर्ट खोज संस्कृत ग्रंथ सन् १८८४-८५—भाण्डारकर नं० ३५४)।

१। Haeberlin's Sanskrit Anthology, pp. 384 ff. काव्यकलाप (बम्बई १८६४) पृ० ५६...

२। Ibid pp. 323—347 और काव्यसंग्रह (कलकत्ता) ३।२१५।

३। संस्कृत साहित्य-परिषत् कलकत्ता के पास एक प्रति मौजूद है।

४। Notices of Sanskrit Mss. I. XXXIX.

५। मद्रास सरकारी लायब्रेरी की सूची भाग १० नं० ११८३५।

६। (इन्डियन हिस्टा० क्वार्टर्ली भाग ३ पृ० २२३)।

७। Notices of Sanskrit Mss., Vol. II. p. 153.

८। A Third Report of operations in Search of Sanskrit Mss. Bombay Circle, p. 292.

(१२) **चातक-सन्देश**[1]—१४१ श्लोकों में है। इसमें एक ब्राह्मणद्वारा चातक को दूत बनाकर त्रिवन्द्रुम के महाराज रामवर्मा के पास संदेश भेजने का वर्णन है, जिसमें राजा का अनुग्रह प्राप्त करने का प्रयास है।

(१३) **चेतोदूत**[2]—१२६ पद्यों में पूर्ण हुआ है। इसमें एक शिष्य का अपने ही मन को दूत बनाकर गुरुजी के पास संदेश भेजने का जिक्र है। इसके प्रत्येक श्लोक का अन्तिम चरण मेघदूत के एक पद्य के अन्तिम चरण के समान है।

(१४) **जैन मेघदूत**[3]—यह ई० १५वीं शताब्दी में हुए अञ्चलगच्छ के मेरुतुङ्ग जी की रचना है। यह कवि प्रबन्धचिन्तामणि आदि ग्रंथों के कर्ता से भिन्न है। (JBBRAS., IX. 147) इसमें राजमती जी द्वारा मेघ को दूत नियत करके श्री नेमिनाथ जी के पास अपनी विरह-व्यथा का संदेशा भेजने का वर्णन है। यह चार सन्धियों में समाप्त हुआ है जिनमें प्रत्येक के क्रमशः ५०, ४६, ५५ और ४२ पद्य हैं।

(१५) **तुलसीदूत**[4] की रचना सं० १७०६ में वैद्यनाथ भट्टाचार्य ने की है। कवि ने तुलसी के पत्ते को दूत बना कर गोपियों का संदेशा कृष्ण जी के पास भेजने का चित्र अङ्कित किया है।

(१६) **नेमिदूत**[5]—यह विक्रम कवि की रचना है और इसका भाव जैन मेघदूत के समान है। इसमें १२३ श्लोक हैं; जिनमें से प्रत्येक का अन्तिम चरण कालिदास के मेघदूत का एक चरण है अर्थात् मेघदूत के चरण की समस्यापूर्ति इसमें की गई है।

(१७) **पदाङ्कदूत**[6]—नवद्वीप (बंगाल) के प्रसिद्ध राजा महाराज कृष्णचन्द्र के पिता राजा रघुराम राय के दरबारी कवि कृष्णसार्वभौम ने रचा था। यह गोपी-कृष्ण-वार्ता को बतलानेवाला काव्य सं० १६४५ में पूर्ण हुआ था। बंगाल के पण्डितों में मेघदूत के बाद इस काव्य की ही प्रसिद्धि है।

(१८) **पवनदूत**[7]—धोई कवि की रचना है जो बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन के (१२वीं श०) दरबार के एक कवि थे। उनने इसमें दक्षिणभारत की निवासिनी एक गंधर्व-कन्या का संदेश पवन-द्वारा लक्ष्मणसेन राजा के पास भेजने का वर्णन किया है, जो इस राजा पर आसक्त थी।

(१९) **पवनदूतम्**[8]—श्रीवादिचंद्रजी सूरि की रचना है जो ई० १७वीं शताब्दी में हुए हैं। इसके १०१ श्लोकों में कवि ने बतलाया है कि किस तरह उज्जैन के राजा विद्यानरेश ने पवन को दूत बनाकर अपनी रानी तारा के पास संदेश भेजा था, जिसे एक विद्याधर ले गया था।

१। J. R. A. S., 1884, p. 451.

२। आत्मानन्द-ग्रन्थरत्नमाला नं० २५।

३। श्री जैन आत्मानन्द-ग्रन्थमाला नं० ७६।

४। संस्कृत साहित्य-परिषत् कलकत्ता के पास एक प्रति है।

५। काव्यमाला (द्वितीय गुच्छ)।

६। काव्यकलाप (बंबई १८७४) पृष्ठ ५३।

७। कलकत्ता संस्कृत साहित्य-परिषत् सीरीज़ नं० १३ व J. A. S. B. 1905, pp. 53—68.

८। काव्यमाला गुच्छ १३ पृष्ठ ६—२४ और हिन्दी जैन-साहित्य सीरीज़ नं० ३।

(२०) **पान्थदूत**[१]—भोलानाथ की रचना है, जिसमें १०५ पद्य शार्दूलविक्रीडित छंद में हैं। लेखक तिकुरी का एक वैष्णव ब्राह्मण है।

(२१) **पिकदूतम्** के ३१ शार्दूलविक्रीडित पद्यों में गोपियों-द्वारा कृष्ण के प्रति कोयल को दूत मानकर संदेश भेजने का वर्णन है। (इसकी एक प्रति लेखक के पास है)।

(२२) **भक्तिदूती**[२]—काली प्रसाद्-कृत। इस अलंकृत काव्य में कवि ने भक्ति को दूती निश्चय करके अपनी मानी हुई वल्लभा मुक्ति के पास एक संदेशा भेजा है। कुल २३ पद्य हैं।

(२३) **भृङ्गसंदेश**[३]—कालीकट के राजा रविवर्मा और गोदवर्मा के दरबार के कवि वासुदेव की रचना है। इसमें एक पुरुष ने अपनी स्त्री को जो संदेश भेजा है वह कल्पित किया गया है। ११२ श्लोकों में पूर्ण है।

(२४) **भ्रमरदूत**[४]—वद्यानिवास के पुत्र रुद्रन्यायवाचस्पति-द्वारा लिखित है, जो न्यायसूत्रों के टीकाकार प्रतीत होते हैं! यह भावविलास के कर्ता से भिन्न हैं।[५] इसका भाव चन्द्रदूत (नं० ६) की तरह है। अन्तर सिर्फ इतना है कि यहां दूत का काम भ्रमर कर रहा है।

(२५) **मनोदूत**[६]—विष्णुदास ने रचा है, जो बंगाल के प्रसिद्ध सुधारक 'चैतन्य' के एक निजी संबंधी थे। इसके १०१ वसन्ततिलका पद्यों में 'कवीन्द्र' ने अपने मन को ही दूत बनाकर विष्णु के पास भेजा है।

(२६) **मनोदूत**[७]—तैलङ्ग व्रजनाथ ने सं० १८१४ में रचा था। यहां द्रौपदी ने चीरहरण के समय अपने मन को दूत बनाकर कृष्ण के पास संदेश भेजा, यह भाव चित्रित किया गया है।

(२७) **मनोदूत**[८]—विष्णुदास के परशिष्य रामराम की कृति प्रतीत होती है। यद्यपि इसका भाव भी नं० २५ के अनुसार है, परन्तु यह उससे भिन्न है। इसमें शिखरिणी छंद की प्रधानता है।

(२८) **मनोदूत काव्य**[९]—में आत्मा और जीव का सम्बन्ध दरसाया गया है।

(२९) **मनोदूत**—यह संभवतः जैनकृति है। अतः उपर्युक्त से भिन्न है। (श्वे० जैन ग्रंथावली पृष्ठ ३३२)।

(३०) **मयूर-संदेश**—रङ्गाचार्य-कृत। (अडयार लायब्रेरी की सं० व प्रा० ग्रंथ लिस्ट, मद्रास पृष्ठ १३०)।

१। Catalogue of Skt. Mss in the India office Library, VII, 3890.

२। Notices of Skt. Ms's.—R. L. Mitra, vol. III, p. 27.

३। Descrip. Cat. of Skt. Mss. in the Madras Orient. Library, XX, No. 11865.

४। Notices of Skt. Mss.—H. P. Sastri—vol. II. p. 153 etc.

५। H. P. Sastri—*op. cit.* Preface, p. 4. etc.

६। Catal. of Skt. Mss. in the India Office Library, VII, Nos. 3897—3899.

७। काव्यमाला (१३वां गुच्छ) पृष्ठ ८४—१३०।

८। बङ्गीयसाहित्यपरिषत्, कलकत्ता—सं० प्रति नं० १२८२।

९। Catal. of Skt. Mss. in the Raghunath Temple Library of H. H. The Maharajah of Kashmir—Stein—p. 70, 287. Intro. XXV.

(३१) मेघदूत[१]—कवि-सम्राट् कालिदास-कृत। यह दूत काव्यों में सर्वप्राचीन, सर्वोत्तम और बहुप्रसिद्ध है। इसकी कथा से प्रायः हर कोई परिचित है कि कैसे एक विरही यक्ष ने एक बादल को अपना दूत बनाकर अपनी यक्षी के पास संदेशा भेजा था, जिससे वह एक शाप-द्वारा अलग किया गया था। अन्य बहु प्रचलित ग्रंथों की तरह इसका भी आकार अन्य कवियों की कृपा से बढ़ गया है। वल्लभदेव की टीका के अनुसार हल्जश सा० इसके १११ श्लोक बतलाते हैं, किन्तु दूसरी ओर के० बी० पाठक महोदय 'पार्श्वाभ्युदय' के अनुसार १२१ श्लोक बताते हैं। दक्षिणावर्तनाथ, मल्लिनाथ और पूर्ण सरस्वती (विद्युल्लता) की टीकाओं में क्रमशः ११०, ११८ और ११० श्लोक हैं।

(३२) मेघदूत—मंत्री विक्रम-कृत। (जैनग्रंथमाला—श्वे० कान्फ्रेन्स—पृष्ठ ३३१)

(३३) मेघदूत-समस्यालेख[२]—न्याय, व्याकरण, काव्य और ज्योतिष-विषयक विविध ग्रंथों के कर्ता मेघविजयजी की कृति है। हैमकौमुदी के कर्ता भी यही हैं, जो सिद्धान्त कौमुदी का 'मोडेल' (Model) समझी जाती है और सन् १६६१ में पूर्ण हुई थी। मेघदूतसमस्यालेख में ग्रंथकर्ता मेघ को दूत बनाकर अपना संदेशा अपने गुरु विजयप्रभसूरि के पास भेजते हैं। यह सं० १७२७ को पूर्ण हुआ था। मेघदूत के पद्यों के चतुर्थ चरणों की समस्या-पूर्ति इसमें की गई है।

(३४) रथाङ्गदूत—(भूमिका, जैनमेघदूत, पृ० १०)।

(३५) विप्रसंदेश[३]—लक्ष्मणसूरि-विरचित। इसमें रुक्मिणी ने कैसे एक वृद्ध विप्र को अपना दूत बनाकर कृष्णजी के पास भेजा था, इसका वर्णन हिन्दुओं के भागवतपुराण (१०।५२) के अनुसार है।

(३६) शीलदूत[४]—महीपालचरित्र, कुमारपालमहाकाव्य और आचारादर्श के कर्ता चारित्र सुन्दर-गणि की रचना है। यह सर्वथा दूतकाव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें कोई दूत कहीं नहीं भेजा गया है। इसके १३१ श्लोक हैं, जिनमें से पहले के १२५ श्लोकों के अन्तिम चरण कालिदास जी के मेघदूत के श्लोकों के अन्तिम चरणों के समान हैं। मेघदूत के चरणों का समावेश इसमें होने के कारण ही शायद इसका नामोल्लेख दूतकाव्यरूप में हुआ है। इसमें स्थूलभद्र राजकुमार के गृहत्याग करने और भद्रबाहु स्वामी के निकट दीक्षा लेने का वर्णन है। पुस्तक वि० सं० १४८७ में खम्भात (गुजरात) नामक स्थान में वहां के सरदार के आश्रय में समाप्त हुई थी। (शीलदूत श्लोक १३१)।

(३७) शुकसंदेश—लक्ष्मीदास की रचना है, जिसमें एक प्रेमी ने स्वप्न में अपनी प्राणवल्लभा का विछोह न सह सकने के कारण उसके पास तोते को दूत बनाकर अपना संदेश लेकर भेजा, यह वर्णन है। इसमें पूर्व संदेश और उत्तर संदेशरूप दो भाग हैं, जिनमें क्रमशः ७४ और ८६ श्लोक

१। अनेक आवृत्तियां प्रकट हो चुकीं, जिनमें दो अच्छी हैं; (१) के० बी० पाठक वाली (Oriental Book Supplying Agency, Poona. 1916) और डॉ० हल्जश की (Royal Asiatic Society, London, 1911).

२। आत्मानन्द-ग्रन्थमाला नं० २४।

३। पूर्णचन्द्रोदय प्रेस, तंजोर द्वारा प्रकाशित (१९०६)।

४। श्रीयशोविजय-ग्रन्थमाला, १४ (बनारस सन् १९१५)।

हैं। रामेश्वरम् और गुणपुर के मध्यवर्ती स्थल का भूगोल भी खूब आ गया है। (J.R.A.S., 1884, p. 449)

(३८) शुकसंदेश—करिङ्गपल्लि नम्बूद्रि-रचित। (List of Skt. Mss. Private Libraries of South India Oppert, Nos. 2721, 6241)

(३९) **शुकसंदेश**[1]—रङ्गाचार्य कृत। मालूम नहीं इसके कर्त्ता भी वही हैं जो **मयूरसंदेश** (नं० ३०) के हैं।

(४०) **सिद्धदूत**—अवधूतराम-रचित। (Report of a Search of Skt. Mss., Kathavate, No. 596).

(४१) **सुभगसंदेश**—नारायण-कृत १३० श्लोकों में पूर्ण है। (J.R.A.S., 1884, p. 449)

(४२) **हंसदूत**[2]—रूपगोस्वामिन् की रचना है, यद्यपि किन्हीं प्रतियों में उनके भतीजे जीव-गोस्वामिन् को इसका कर्त्ता लिखा है। रूपगोस्वामिन्[3] १६वीं श० में हुए हैं और यह बंगाल के सुधारक चैतन्य के निकट शिष्यों में से एक थे। गौड़ के बादशाह अल्लाउद्दीन हुसैन शाह के दरबार में यह वैष्णव होने के पहले किसी शाही पदपर नियत थे। उपरांत यह वैष्णवधर्म के उत्कट प्रचारक हुये और तत्सम्बन्धी अनेक ग्रंथ इनने लिखे। हंसदूत में गोपियों के द्वारा हंस को दूत बनाकर कृष्ण जी के पास भेजने का वर्णन शिखरिणी छंदों में है। इनकी संख्या किसी प्रति में १०१ और अन्यों में इससे ज्यादा मिलती है।

(४३) **हंस-संदेश**[4]—श्रीवैष्णवों के प्रसिद्ध आचार्य और प्रख्यात विद्वान् वेङ्कटेश की कृति है, जो वेदांतदेशिक अथवा वेदान्ताचार्य नाम से भी परिचित हैं। इनने अनेक विषयों पर संस्कृत में १२१ ग्रंथ रचे थे। और तामिल में २४ ग्रंथ अलग ही लिखे थे[5]। हंससंदेश में इनने राम-द्वारा हंस को दूत बनाकर लंका में सीताजी के पास भेजने का वर्णन किया है। यह दो आश्वासों में पूर्ण है, जिनमें क्रमशः ६० और ५० श्लोक हैं।

(४४) **हंससंदेश**[6]—भट्टवामनकृत। शाप पाये हुये एक यक्ष ने अपनी पत्नी को हंस-द्वारा जो संदेश भेजा, उसका वर्णन है। भाव कालिदास जी के मेघदूत के ही समान है।

(४५) **हंस-संदेश**—यह सैद्धान्तिक काव्य ११० श्लोकों में पूर्ण है। (J.R.A.S., 1884 p. 450).

(४६) **हंसदूत**—रघुनाथदास-कृत। (वङ्ग-साहित्य-परिचय—डी० सी० सेन, पृ० ८५०)।

(४७) **हृदयदूत**—भट्ट हरिहर की रचना वसंत तिलका छंदों में हैं। (Weber, I, No. 571).

१। Catalogue of Skt. Mss. in Mysore and Coorg, Rice, No. 2250,

२। Haeberlin's Skt. Anthology, pp. 323 ff etc.

३। Cf. Des. Catl. of Skt. Mss. in the Govtt. Skt. College, Ms. No. 162.)

४। गवर्नमेन्ट ओरियन्टल लायब्रेरी, मैसूर (१९१२) द्वारा प्रकाशित।

५। भूमिका, हंससंदेश—मैसूर एडीशन—पृष्ठ ६।

६। A Des. Catl. of Skt. Mss. in the Govt. Orient. Library, Madras, vol. XX, No. 11912.

(४८) **हंसदूत**—कवीन्द्राचार्य सरस्वती-कृत ४० श्लोकों में है।[१]

इनके अतिरिक्त दूतकाव्य ढंग के कुछ ग्रंथ और हैं परन्तु वह हाल की रचनायें हैं, इसलिये उपर्युक्त लिस्ट में उनकी गणना नहीं की गई है। वे भारत के विविध प्रान्तों के कवियों द्वारा ई० १९वीं शताब्दी के अन्तिम भाग और २०वीं शताब्दी के प्रारंभ में रचे गये हैं। इनमें से किन्हीं की रचना तो बहुत ही ऊँचे दर्जे की है। उदाहरणस्वरूप में बंगाल के कृष्णनाथ न्यायपञ्चानन के **वातदूत**[२] का उल्लेख किया जा सकता है; जिसमें रामद्वारा सीता को संदेश भेजने का वर्णन है। इसके बाद द्वितीय श्रेणी के काव्यों में यादवचंद्र विद्यारत्न (सं० १७८६) का **शुकदूतम्**[३] और दधीच ब्रह्मदेव शर्म्मन् का **पिकसंदेश**[४] का नाम लिया जा सकता है। पिकसंदेश में एक कोयल ने मधुमक्खी को दूत बनाकर कवि के पास भेजा है और उसके द्वारा भारत की वर्तमान शोचनीय दशा का वर्णन किया है। कालिदास जीके मेघदूत के समान दो अन्य रचनायें ताजी हुई हैं। मन्दिकल रामशास्त्री के **मेघप्रतिसंदेश** में[५] यक्ष की स्त्री ने उसी मेघ के हाथों अपना संदेशा यक्ष को भेजा है। और वह वर्णन बड़ा ही सरस और मनोहारी है। दूसरे त्रैलोक्यमोहन गुह नियोगी कविकीर्ति के **मेघदौत्य**[६] में यक्षी उसी मेघ के द्वारा कुबेर के पास यक्ष को मुक्त करने का संदेश भेजती है, जिसे वह अन्त में मान लेता है और यक्ष-यक्षी का मिलाप हो जाता है।

दूतकाव्य का विकास—

दूतकाव्यों में सर्व-प्राचीन कविवर कालिदास जी का 'मेघदूत' है। कालिदासजी के काव्य का मुख्य भाव दूतरूप में एक अजीव व्यक्ति-द्वारा एक प्रेमी का अपनी प्रेमिका के प्रति प्रेमसंदेश भेजना है। यहां पर यह ध्यान में रहे कि प्रायः दूतकाव्यों में प्रेमियों द्वारा किसी अजीव पदार्थ के हाथों अपना प्रेम-संदेश भेजने का नियम मुख्यता से मिलता है। कालिदासजी की इस अनोखी और कविकल्पनामय सूझ का आधार, यदि कोई था, तो वह क्या था; यह मालूम नहीं है। तो भी ऐसी सूझ के चिह्न हमें कालिदास जी के समय से पहले अवश्य ही मिलते हैं। उदाहरणतः 'ऋग्वेद' (१०।१०८) में 'सरमा' नामक कुत्ते को पणि लोगों के पास दूत बना कर भेजने का उल्लेख है। रामायण और महाभारत में भी मूक पशुओं द्वारा प्रेम-सन्देश भेजने के उदाहरण मिलते हैं। रामने हनुमान को, (जिनको वैदिकशास्त्रों में पशुजाति का अनुमान किया गया है) अपना दूत बनाकर सीता जी के पास भेजा था, जिनके हाथों सीताजी ने भी अपना संदेशा रामचंद्रजी के पास पहुंचाया। (रामायण ४।४४ व ५।४०) (महाभारत ३।५३३१—२) में दमयन्ती ने जो राजा नल के पास से आये हुये हंस के द्वारा अपना संदेशा उनको भेजा था, उसका उल्लेख है। किन्तु इन दूतों के सम्बन्ध में इतनी बात अवश्य है कि इनको निरा मूक पशु ही नहीं माना गया, किन्तु इनके मनुष्य जैसी वाकशक्ति आदि का होना वैदिक शास्त्रों में लिखा है। इस कारण उनको दूत बनाकर भेजने में कविकल्पना का कुछ भी चामत्कारिक भाव नजर नहीं पड़ता! किन्तु इतने पर भी यह मानना कुछ

१। A classified List of Skt. Mss, in the Palace Library at Tanjore—Burnell, p. 1637.
२। Calcutta, S. E. 1822.
३। Ryot's Friend Press.
४। झालरापाटन राजकीय सरस्वती-भवन-द्वारा प्रकाशित।
५। जयालय प्रेस मैसूर (१९१३)।
६। Sanyal & Co., Calcutta, 1909.

अनुचित प्रतीत नहीं होता कि कालिदास जी इन उपर्युक्त उल्लेखों से प्रभावित नहीं हुए थे। वह स्वयं इस प्रभाव को मेघदूत के १०४वें श्लोक द्वारा ध्वनित करते मालूम होते हैं, यथा :—"इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा।" इससे साफ प्रकट है कि जिस समय कालिदास जी मेघदूत की रचना कर रहे थे, उस समय उनके नेत्रों के सामने सीता जी द्वारा हनुमान को दूत बनाकर संदेश भेजने की घटना मौजूद थी। मल्लिनाथ ने अपनी टीका में भी एक ऐसे कथानक का उल्लेख किया है। (सीतां प्रति रामस्य हनूमत्सन्देशं मनसि निधाय कविः कृतवान् इत्याहुः।) इनसे भी पहले के मेघदूत-टीकाकार दक्षिणावर्तनाथ भी इसका आधार इसी तरह स्वीकार करते हैं।

किन्तु उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त भी भारत एवं भारतेतर देशों में कालिदास जी के पहले के रचे हुए ग्रंथ और थे, जिनमें दूतकाव्यों जैसे विचारों का सद्भाव था। जैसे 'कामविलाप-जातक' (नं० २९७) में आपत्ति में फँसे हुये एक पुरुष-द्वारा कौवा को दूत बना कर अपनी स्त्री के पास भेजने का उल्लेख मिलता है। चीन के ह्सकन (Hskün) (१९६—२२१ ई०) नामक कवि ने भी एक स्थान पर एक भद्र महिला-द्वारा एक मेघ को दूत नियत करके अपने स्वामी के पास भेजने का वर्णन किया है। इनने नागार्जुन की 'प्रज्ञामूल शास्त्रटीका' का अनुवाद चीनी भाषा में किया था।

सचमुच हमें यह विदित नहीं कि कालिदासजी को इस चीनी कवि के उपर्युक्त उल्लेखवाले ग्रंथ का पता था या नहीं, परन्तु यह तो निस्संदेह मानना पड़ता है कि वे रामायण—महाभारत एवं जातक ग्रंथों से अवश्य परिचित हो सके हैं। इस अवस्था में उनने अपने दूतकाव्य के मूलभाव का आधार इन ग्रंथों में पाया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं! सुतरां चीनी कवि की उक्त कल्पना किसी रूप में किसी तरह से भारत में न आई हो और उससे व्यक्त अथवा अव्यक्तरूप में कालिदास जी ने लाभ न उठाया हो, इसके लिये भी प्रामाणिकरूप में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु इन बातों से कवि महोदय की धवलकीर्ति में कुछ भी बट्टा नहीं आ सकता है। क्योंकि अन्य देशों के बड़े बड़े कवियों ने भी जैसे अंग्रेज-कवि शेक्सपीयर ने अपने ग्रंथों के लिये 'प्लाट' (Plots) अपने से प्राचीन स्रोतों से ग्रहण किये थे। स्वयं कालिदास जी को पुराणों और काव्यों से अपने अन्य ग्रंथ जैसे अभिज्ञान शकुन्तलम् रघुवंशम् और कुमारसम्भवम् के रचने में सहायता लेनी पड़ी है। कवि का महत्त्व तो उसके वर्णन-शैली, मनुष्यस्वभाव की भीतरी पैठ और पात्रों के ठीक और प्रभावशाली चुनाव पर ही निर्भर है। और इस अपेक्षा यदि यह मान भी लिया जाय कि मेघदूत के रचने में कवि को अन्य स्रोत का आधार लेना पड़ा था, तो भी इस कारण भारतीय कवियों में उनका दर्जा कविसम्राट् से सर्वथा उपयुक्त ठहरता है, मेघदूत काव्य में चामत्कारिक कविता के कुछ ऐसे नमूने मौजूद हैं, जो पुराणों में नहीं मिलते हैं और संस्कृत दूतकाव्यों के वह पूर्व आधार (Proto-types) अथवा नमूने कहे जा सकते हैं।

किन्हीं किन्हीं का कहना है कि कालिदासजी की उपर्युक्त सूझ कवि घटकर्पर के 'यमककाव्य' को देखकर ही उद्भूत हुई थी। यह कवि कालिदास जी के समकालीन और विक्रमादित्य के नौ-रत्नों में से एक बतलाये जाते हैं। 'यमककाव्य' में एक पत्नी की विरह-गाथा ठीक 'मेघदूत' के ढंग से वर्णित है कि कैसे पतिवियोग को न सह सकने के कारण उसने वर्षाऋतु के आगमन पर मेघों द्वारा अपनी विरहकथा का संदेश अपने पति के पास भेजा था। (यमककाव्य श्लोक ८—१३) किन्तु नवरत्नोंवाली व्याख्या का आधार कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है—इस कारण इस सम्बन्ध को विश्वसनीय सिद्ध करना जरा कठिन है।

कवि कालिदास के मेघदूत की प्रख्याति —

संस्कृत साहित्य के इतिहास में कालिदासजी के 'मेघदूत' की नवीन रचनाशैली से एक नया ही युग खड़ा हो गया ! और जनता के चित्त को भी उसने अपनी ओर आकर्षित कर लिया। सच-मुच मि० फाँचे साहब का यह कहना बिलकुल ठीक है कि यूरोप के मनोव्यथा प्रदर्शित करनेवाले (Elegiac) समूचे साहित्य में मेघदूत की सानी कोई नहीं रखता।[1] अतः स्वभावतः कालिदास के मेघदूत की प्रख्याति विशेषरूप में प्राचीनकाल से हो चली थी। यह इसी विशद प्रख्याति का फल था कि बाद के अनेक कवियों ने उनके इस दूतकाव्य की नकल की थी। किन्तु साथ ही यह भी सच है कि इन उपरान्त के उपलब्ध दूतकाव्यों में कोई भी ईसा की १२वीं शताब्दी से पहले की रचना नहीं है। पर इसका अर्थ यह नहीं होता कि इसके पहले से मेघदूत की प्रख्याति हुई ही नहीं थी। आठवीं शताब्दी में रचे हुये जिनसेनाचार्य के 'पार्श्वाभ्युदय' में समस्यापूर्ति की अपेक्षा समूचा मेघदूत उसमें ओतप्रोत है। अब यदि जिनसेनाचार्य के समय 'मेघदूत' की प्रख्याति विशेष न हुई होती तो कोई कारण नहीं था कि वह उसका समावेश अपने काव्य में करना आवश्यक समझते। उपरान्त के कवियों ने भी अपनी कृतियों में इसी प्रकार 'मेघदूत' का समावेश किया है। अतः इससे मेघदूत की विशद प्रख्याति का होना स्पष्ट है। तिसपर सिंहलीय और तिब्बतीय भाषाओं में जो इसके प्राचीन अनुवाद मिलते हैं, वह भी इसकी बहु प्रख्याति की साक्षी है[2]। फिर एकदम पचास टीकाकारों ने अपनी लेखनी को इसका विकास करने में प्रयुक्त किया, वह भी इसी बात का द्योतक है। आश्चर्य तो यह है कि उस प्राचीनकाल से जो धवलकीर्ति मेघदूत की रही है, वह अब भी भारत एवं भारतेतर निवासियों में कम नहीं हुई है।

संस्कृत में दूतकाव्यों के विकास का इतिहास—

संस्कृत में दूतकाव्यों के विकास-सम्बन्धी इतिहास के लिये हमें कालिदास के काव्य की सर्व-प्राचीन नकल से श्रीगणेश करना चाहिये। ऐसे उपलब्ध काव्यों में धूयी का 'पवनदूत' ही सर्व-प्राचीन विदित होता है; यद्यपि इसका कुछ आभास इससे भी प्राचीन ग्रंथ भवभूति के मालती-माधव में मिलता है (अ०९)। उपलब्ध दूतकाव्यों में इनसे प्राचीन कोई ग्रंथ हो यह हमें मालूम नहीं; क्योंकि उनमें से अधिकांश का समय अनिश्चित है। तो भी यह निस्संदेह माना जा सकता है कि धोयी के पहले भी 'मेघदूत' को आदर्श मानकर उसी के ढंग के काव्य रचे गये थे, जो सर्वथा लुप्त हो गये या किसी ग्रंथभांडार में अन्वेषक की प्रतीक्षा कर रहे हैं। सातवीं शताब्दी के अंत अथवा आठवीं के प्रारंभ में हुए कवि भामह स्पष्ट रीति से ऐसे कवियों का, उल्लेख करते हैं जो मेघ, पवन, चन्द्रमा, चक्रवाक, शुक आदि अजीव अथवा मूक व्यक्तियों से अपने काव्यों में दूत का कार्य कराते थे। (भामहालङ्कार, १।४२—४४) अतः कवि भामह के समय के दूतकाव्य ही शायद कालिदास जी के मेघदूत के प्रथम प्रतिरूपक काव्य थे, यह मानना कुछ अनुचित नहीं दीखता। प्रो० कीथ ने मेघदूत का प्रतिभास वत्सभट्टि के लेखों में[3] और डॉ० हल्श्ज ने वेङ्कटाध्वरिन[4] के विश्व-गुणादर्श में जो बतलाया है, वह ठीक नहीं है।

१। Dr. Bhan Daji's—Essay on Kalidasa, P. 7.
२। Hultzsch, Preface to Meghaduta, p. VIII.
३। क्लासीकल संस्कृत लिट्रेचर, पृष्ठ ३६। ४। मेघदूत, भूमिका, पृष्ठ ६।

उपरांत के दूतकाव्यों मे, जो प्राय: सब ही मेघदूत के आधार से रचे गए हैं, कालिदास से सहायता ग्रहण करने के चिह्न उनमें पद पद पर प्रकट होते हैं। यह ऋण यहां तक है कि मेघदूत में जो छंद उपयुक्त हुआ है उसी को इनमें अपनाया गया है। प्राय: एक दो को छोड़कर शेष सब दूतकाव्य मेघदूत के 'मन्दाक्रान्ता' छंद में रचे गये हैं। विषय भी प्राय: सब में वही है जो मेघदूत में है, अर्थात् एक प्रेमी का अपने प्रेमपात्र को प्रेम संदेश भेजना! इसके अतिरिक्त अनेक शब्द और भाव आदि भी इनमें वैसे और उसी तरह व्यक्त हुए मिलते हैं जैसे मेघदूत में है।[1] इस तरह यद्यपि इन अर्वाचीन दूतकाव्यों में मेघदूत से समानता है, परन्तु उनमें यत्र तत्र विभिन्नता भी मिलती है। उदाहरण के रूप में जहाँ पहले के काव्यों में चलते हुये बादल और पवन जैसे अजीव पदार्थों को दूत बनाया जाता था और जो एक चामत्कारिक ढंग था, उसका स्थान धीरे धीरे पशुओं और फिर मनुष्यों को दिया जाने लगा। (जैसे शुकसंदेश व उद्धव-संदेश आदि में) और हद तो 'भक्ति' और 'मन' आदि को दूत का कार्य सौंपने में हुई है (जैसे मनोदूत और भक्तिदूती में)। ऐसी रचनायें अलंकृतभाषा के उपाख्यान हो गए हैं।

दूतकाव्य साहित्यविकास में सबसे अनोखी बात जो दृष्टिगोचर होती है, वह इसमें शांति रस को समावेशित करने की है, जो संभवत: सर्वप्रथम जैनों के पार्श्वाभ्युदय-द्वारा प्रविष्ट हुआ है। इस ढंग पर कितने ही कवियों ने धार्मिक नियमों और तात्विक सिद्धान्तों का उपदेश भी प्रतिपादित किया है। (यथा शीलदूत) कितने ही जैन कवियों ने दूतकाव्यों की रचना चिट्ठियों का कार्य करने के लिये की है, जो 'विज्ञप्तिपत्र' कहलाते हैं और जिनको उन्हें अपने गुरुओं के प्रति अपने धर्म-प्रभावना के कार्यों का परिचय कराने के लिये लिखने की आवश्यकता पड़ती थी। (जैसे चेतोदूत, इन्द्रदूत आदि)

इनमें जो यह नवीन संस्कार किये गये थे, इनसे साफ प्रकट है कि सर्वसाधारण जनता में इन दूत-काव्य को विशेष आदर का स्थान प्राप्त था। और यदि ऐसा न होता तो यह संभव नहीं था कि विविध धर्मों के आचार्य और नेता अपने नीरस धर्मसिद्धान्तों और नियमों का प्रचार करने के लिये इस साहित्य का आधार ढूंढ़ते! इसके अतिरिक्त एक और बात जो इन दूतकाव्यों के पाठकों का ध्यान आकर्षित करेगी वह यह है कि इन काव्यों में चरित्रनायक व्यक्ति पुराणवर्णित महापुरुष हैं, यथा हिन्दुओं के दूतकाव्यों में राम सीता, कृष्ण राधा आदि हैं और जैनों में पार्श्वनाथ, नेमिकुमार, स्थूल-भद्र आदि हैं। हिन्दू कवियों का मन रामसीता और राधाकृष्ण के कथानकों में बेहद पगा हुआ था कि नलदमयन्ती जैसे उपयुक्त उपाख्यान उनके मन को न मोह सके। बङ्गाली कवियों में से अधिकांश ने कृष्णलीला को ही अपनी प्रिय वस्तु मानी है। रामकृष्ण के कथानकों को प्रधानता देने का कारण संभवत: वैष्णवसम्प्रदाय का उपरान्त बहुजनमुक्त होना ही होगा। किन्तु इनमें काल्पनिक एवं ऐति-हासिक व्यक्तियों को भी प्राय: नहीं अपनाया गया है।

भाषा में दूतकाव्य साहित्य-----

दूतकाव्य ने जनता का मन अन्य संस्कृत रचनाओं की अपेक्षा विशेष मोह लिया था, यह बात केवल उल्लिखित 'अगणित संस्कृत दूतकाव्यों के अस्तित्व से ही प्रमाणित नहीं है, प्रत्युत इस बात से भी है कि निकट भूतकालीन भाषाकवियों ने भी इस प्रकार का साहित्य रचना आवश्यक समझा था।

१। cf. my edition of Pavanduta, Intro. pp. 13—4.

जैसे कि सिंहलीय भाषा में ऐसी रचनायें (मयूरसंदेश,[१] कोकिलसंदेश[२] आदि) बहुत बताई जाती हैं। १७वीं शताब्दी के नरसिंहदास का रचा हुआ पुरातन बंगला भाषा में भी एक 'हंसदूत' मिलता है[३]। इसी नाम के दो और काव्य माधवगुणाकर और कृष्णचंद्र के हैं।[४]

दूतकाव्य के साहित्यविकाश में जैनकवियों का हाथ—

दूतकाव्यों द्वारा धार्मिक एवं सैद्धान्तिक तत्वों और नियमों का प्रचार करने का सर्वप्रथम श्रेय संभवतः जैन कवियों को ही है। क्योंकि आठवीं शताब्दी जैसे प्राचीन समय के रचे हुए श्रीजिनसेनाचार्य के 'पार्श्वाभ्युदय' में, जिसमें कि जैनधर्म के संभवतः सर्वप्रथम ऐतिहासिक संस्थापक श्रीपार्श्वनाथ जी का जीवनचरित्र और उनकी शिक्षा को प्रकट किया गया है, समूचा का समूचा मेघदूत समस्यापूर्तिरूप में समाविष्ट कर लिया गया है। हाँ, ऐसा करने में कवि ने कहीं कहीं कालिदास के अर्थ और भाव से विभिन्न रूप में उनका व्यवहार किया है। जैन कवियों की ऐसी और भी रचनायें, मेघदूत के आधार पर रची गई हैं, और उनमें उनके रचयिताओं ने संस्कृत भाषा पर अपने पूर्ण आधिपत्य को प्रकट किया है और वे दूतकाव्य साहित्य के इतिहास में मुख्य स्थान को ग्रहण किये हुये हैं। शीलदूत चेतोदूत, नेमिदूत और मेघदूत समस्यापूर्ति के ऐसे जैनकाव्य हैं जिनमें मेघदूत के प्रत्येक श्लोक का अन्तिम चरण समावेशित किया गया है। इनमें भी काव्यरचना की श्रेष्ठता का अभाव नहीं है। हां, यह अवश्य है कि अपने भाव को प्रकट करने के लिये, इनकी भाषा सरल और मधुर नहीं रही है। किन्तु उनमें जो मेघदूत के चरण मौजूद हैं उनसे उन ग्रंथकर्ताओं के समय वह जिस रूप में प्राप्त था उसका खासा दिग्दर्शन होता है, जिससे उसका असली रूप प्रकट हो जाता है।

जैनियों ने जिस प्रकार इस साहित्य के द्वारा धार्मिक तत्वों को प्रकाशित करने का प्रारंभिक उद्योग किया, उसी तरह उसका एक नया रूप भी उनके द्वारा हुआ। प्रायः सब ही जैनकाव्य हिन्दूकाव्यों के शृङ्गारादि विषय-पोषक रसों के विपरीत शान्ति और भक्ति रस से परिपूर्ण हैं। इस सम्बन्ध में उनके 'विज्ञप्ति पत्रों को' हमें नहीं भुला देना चाहिये, जो पर्यूषणपर्व के समय जैनसाधुओं द्वारा उनके आचार्यों को लिखी हुई चिट्ठियां हैं और जो दूतकाव्यों के ढंग पर लिखी गई हैं (जैसे चेतोदूत, मेघदूतसमस्यालेख, इन्दुदूत आदि)।

दूतकाव्यों से भौगोलिक परिज्ञान—

किन्हीं दूतकाव्यों में दूत को मार्ग बताने के विवरण में अच्छे रूप का भौगोलिक परिचय दिया हुआ मिलता है; यद्यपि अधिकांश में वह प्रायः नाम मात्र को है। किन्तु जो कुछ भी है वह संतोषप्रद है, क्योंकि भारतीय साहित्य में इस विषय का प्रायः नहीं के बराबर उल्लेख मिलता है। कालिदासजीने रामगिरि से अलका तक का जो भौगोलिक वर्णन अपने काव्य में लिखा है, उसके महत्व से प्रायः सब ही विद्वान् परिचित हैं। धोयी कवि के 'पवनदूत' में मलयपर्वतावली से राजा लक्ष्मणसेन की राजधानी विजयनगर (बंगाल) तक के प्रदेश का अच्छा वर्णन है जिसका विवेचन

१। Prof. Geiger, Litteratur und sprache der Singhalessen pp. 9—17.

२। Ceylon Antiquary, vol. III. pp. 13 ff,

३। बङ्गीय साहित्य-परिचय पृष्ठ ८५०—६०।

४। हिस्ट्री आफ बंगाली लेन्ग्वेज एण्ड लिट्रेचर पृष्ठ २२५।

भी कई बार हो चुका है। (J.A.S.B., 1905, Vol. I, pp. 43—5, & Intro. to my edition of Pavanduta, pp. 19—26). वेदान्तदेशिक के हंससंदेश में माल्यवत पर्वत से लङ्का तक के मार्ग का परिचय खूब कराया गया है। लक्ष्मीदास के शुकसंदेश में रामेश्वरम् और गुणपुर के मध्यवर्ती नगरों, ग्रामों, मंदिरों आदि का मनोरंजक वर्णन है। इसी तरह मेघदूत-समस्यालेख में औरंगाबाद से द्वीपपुरी (दीव-बन्दर; गुजरात) तक के रास्ते का बड़ा ही सूक्ष्म परंतु विशद विवरण मिलता है। विनयविजयगणि के 'इन्दुदूत' में योद्धापुर (जोधपुर) से सूरत तक का मार्ग बताया गया है। इन अन्तिम दो जैनकाव्यों के वर्णन का महत्त्व मार्ग में के अगणित जैन-मंदिरों और तीर्थस्थानों के उल्लेखों के कारण बहुत बढ़ गया है। किन्तु आश्चर्य है कि बङ्गाली कवियों द्वारा लिखे हुए कृष्णसम्बन्धी दूतकाव्यों में इस विषय का कुछ भी वर्णन नहीं है। उनके ग्रंथों में वृन्दावन या मथुरा का कुछ भी भौगोलिक वर्णन नहीं लिखा है।

नोट—यह महत्त्वशाली साहित्यिक लेख मूल में अंग्रेजी के प्रसिद्धपत्र "दी इन्डियन हिस्टॉरीकल क्वार्टर्ली" (भाग ३ अंक २ पृष्ठ २७३—२८७) में प्रकट हुआ है। उसी का यह हिन्दी अनुवाद पाठकों के लाभार्थ सधन्यवाद उपस्थित है। सचमुच कवि कालिदास जी के 'मेघदूत' के आदर्श ने भारत में एक स्वतंत्र दूतकाव्य साहित्य की सृष्टि करा दी है, जिसका महत्व उपर्युक्त लेख से प्रकट है। हिन्दी-भाषा में भी ऐसे काव्यों का अभाव नहीं है। ढूंढ़ने से उसमें इस टाइप की मौलिक रचनायें भी मिल जायँगी—वैसे कालिदासजी के मेघदूत का पद्यमय अनुवाद तो हो ही चुका है। जैन-कवियों ने भी इस साहित्य को उन्नत बनाने में बहुत कुछ कार्य किया है, यह हमारे लिये गौरव की बात है। जयसागर उपाध्याय की 'विज्ञप्तित्रिवेणी.' भी एक विज्ञप्तिपत्ररूप का काव्य है, जिसे सिन्धु-देश के मलकवाहण स्थान से अणहिलपुरपाटन को लिखा गया था। इसमें भी भौगोलिक वर्णन अच्छा है—परन्तु वह शायद 'दूतकाव्य' के ढंग का नहीं है।

—सं०



प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार की समीक्षा

(ले०—पंडित वंशीधर व्याकरणाचार्य, न्यायतीर्थ, साहित्य-शास्त्री)



(क्रमागत)

पाठक देखेंगे कि इसमें उपनय, निगमन का कितना भावपूर्ण समावेश कर के उनकी अनुमानाङ्गता का निराकरण किया गया है। यहां पर इनका उद्देश हो जाने के कारण इनके लक्षण सूत्रों की भी संगति हो जाती है। सूत्र नं० ३७ में "नोदाहरणम्" के स्थान में "नोदाहरणादिकम्" ऐसा पाठ नहीं रखने का भी गंभीर आशय है। एक तो इस सूत्र के पहिले किसी भी सूत्र में उपनय, निगमन का कथन नहीं है। इसलिये आदि शब्द से उनका अनुसंधान ही नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि यहां पर आदि शब्द का पाठ करने से उसके आगे के सूत्र नं० ३८ में "तत्" पद से "उदाहरणादिकम्" इसका अनुसंधान होता, जो कि अनिष्ट था कारण कि उपनय और निगमन का प्रयोजन साध्यप्रतिपत्ति नहीं, किन्तु उदाहरण के प्रयोग से पक्ष में साध्य और साधन के सद्भाव के विषय में उत्पन्न हुए संदेह को दूर करना है। ऐसी हालत में सूत्र नं० ३८ में "तत्" पद के स्थान में "उदाहरणम्" ऐसा पाठ करना पड़ता तथा आगे सूत्रों में किसी प्रकार का परिवर्तन हो नहीं सकता था जिससे सूत्रों में गौरव होता, इसलिये सूत्र नं० ३७ में 'उदाहरणम्' ऐसा पाठ ही परीक्षामुख में किया गया है। वास्तव में सूत्रों में इसी तरह की लघुता, संबद्धता आदि का ध्यान रखना ग्रन्थकर्त्ता का परम कर्त्तव्य होता है। पाठक देखेंगे कि इनका ध्यान प्रामाणनयतत्त्वालोकालंकार में कहां तक रक्खा गया है।

यों तो इस ग्रन्थ में निरर्थक पदों का बहुत स्थानों पर प्रयोग किया गया है, लेकिन कहीं कहीं पर तो पदों की निरर्थकता का स्पष्ट अनुभव होता हैं।

साध्येनाविरुद्धानां व्याप्यकार्यकारणपूर्वचरोत्तरचरसहचराणामुपलब्धिः ॥६६—३॥

प्र० न० तत्त्वा०।

इसमें अविरुद्धोपलब्धि हेतु के व्याप्य, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर इन छः भेदों का नाम निर्देश किया है। सूत्र नं० ७० में कारण हेतु का समर्थन किया गया है। सूत्र नं० ७१ इस प्रकार है।

पूर्वचरोत्तरचरयोर्न स्वभावकार्यकारणभावौ तयोः कालव्यहितावनुपलम्भात् ॥७१—३

प्र० न० तत्त्वा०।



श्रीऋषभदेव

(उत्कलीय कला)

यह चित्र १म किरण में प्रकाशित "जैन-मूर्त्तियाँ" लेख से सम्बद्ध है

THE S. P. W., ARRAH.

इसमें पूर्वचर उत्तरचर हेतुओं का स्वभाव, कार्य, कारण हेतुओं में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है इसलिये इनको स्वतंत्र स्वीकार करना चाहिये, इस बात का समर्थन किया गया है। सूत्र नं० ७२, ७३, ७४, ७५ में इसी की पुष्टि की गयी है। सूत्र नं० ७६ इस प्रकार है—

सहचारिणोः परस्परस्वरूपत्यागेन तादात्म्यानुपपत्तेः, सहोत्पादेन तदुत्पत्तिविपत्तेश्च, सहचरहेतोरपि प्रोक्तेषु नानुप्रवेशः ॥७६—३॥

इस सूत्र में "सहचरहेतोरपि प्रोक्तेषु नानुप्रवेशः" इतना अंश बिल्कुल निरर्थक ही है, कारण कि जिस प्रकार सूत्र नं० ७१ में "पूर्वचरोत्तरचरयोः स्वभावकार्यकारणेषु नानुप्रवेशः" इसका अनुसंधान ग्रन्थकर्त्ता को बाहिर से करना पड़ता है, उसी प्रकार यहां पर भी किया जा सकता है। यह बात नहीं है, कि सूत्र नं० ७१ में इस पद का अनुसंधान ही न करेंगे, कारण कि इस पद का अनुसंधान नहीं करने से सूत्र नं० ७१ का इतना ही अर्थ होता है कि "पूर्वचर और उत्तरचर में स्वभाव अथवा कार्यकारण भाव नहीं है क्योंकि स्वभाव और कार्यकारणभाव काल का व्यवधान होने पर नहीं देखे जाते हैं।" लेकिन इतने मात्र अर्थ से आकांक्षा की निवृत्ति नहीं होती, किन्तु "इसलिये पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओं का स्वभाव, कार्य, कारण हेतुओं में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है" इतना अंश उस अर्थ के साथ संबद्ध करने से ही वाक्यार्थ पूरा होता है। इतना अवश्य है कि यह अर्थ तात्पर्य से निकल ही आता है इसलिये इसके बोधक वाक्य का सूत्र में पाठ करने की ज़रूरत नहीं है। इसी प्रकार सूत्र नं० ७६ में भी पूर्वोक्त अंशके पाठ करने की आवश्यकता नहीं है।

यहां पर "प्रोक्तेषु" पद असंबद्ध भी है। यह पद पहिले कहे हुए का अनुसंधापक होता है। यहां पर इस पद से "स्वभावकार्यकारणेषु" इस पद का अनुसंधान अभीष्ट है। टीकाकार ने रत्नाकरावतारिका में यही अर्थ "प्रोक्तेषु" पद का किया भी है, लेकिन इस सूत्र के पहिले किसी भी सूत्र में "स्वभावकार्यकारणेषु" यह पद नहीं पढ़ा गया है जिससे कि "प्रोक्तेषु" पद से उसका अनुसंधान किया जा सके। इसलिये "सहचरहेतोरपि प्रोक्तेषु नानुप्रवेशः" इस अंश को पृथक् करने से ही सूत्र संगत हो सकता है। यह आवश्यक है कि इस अंश के निकल जाने से सूत्र में "सहचारिणोः" पद के आगे अपि शब्द अपेक्षित हो जाता है जो कि सूत्र नं० ७१ में कहे हुए "न स्वभावकार्यकारणभावौ" इस पद का दोनों सूत्रों में अन्वित होने का बोध कराता है, इस तरह से सूत्र का स्वरूप निम्न प्रकार हो जाता हैं।

सहचारिणोरपि परस्परस्वरूपपरित्यागेन तादात्म्यानुपपत्तेः सहोत्पादेन तदुत्पत्तिविपत्तेश्च ॥७६—३॥

इसमें सूत्र नं० ७१ से "न स्वभावकार्यकारणभावौ" पद की अनुवृत्ति लाकर अन्त में उसका संबन्ध करने से सूत्र से संगत अर्थ की प्रतीति होने लगती है। इस सूत्र में "तदुत्पत्तिविपत्तेश्च" इस अंश में विपत्ति शब्द का पाठ कर के भी ग्रन्थकार ने अर्थ को कठिन बना दिया है। यहां पर विपत्ति शब्द का अर्थ अभाव ही अभीष्ट है जिससे पूर्ण पद का अर्थ होता है—तदुत्पत्तिरूप संबन्ध का अभाव ! लेकिन इस अर्थ के समझने में अवश्य ही कठनाई का अनुभव होता है। परीक्षामुख में इसके स्थान में यह सूत्र पाया जाता है।

सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च ॥६४—३॥

षष्ठ परिच्छेद में प्रमाण और उसके फल की भेदाभेद-व्यवस्था सिद्ध करते हुए प्रमाण और फल की व्यवस्था कल्पनामात्र नहीं, किन्तु वास्तविक है इस आशय को ग्रन्थकार ने इस प्रकार प्रकट किया है।

संवृत्त्या प्रमाणफलव्यवहार इत्यप्रामाणिकप्रलापः परमार्थतः स्वाभिमतसिद्धिविरोधात् ॥२१—६॥

ततः पारमार्थिक एव प्रमाणफलव्यवहारः सकलपुरुषार्थ-सिद्धिहेतुः स्वीकर्त्तव्यः ॥२२—६॥

इनमें नं० २२ का सूत्र बिलकुल निरर्थक है कारण कि उसका अर्थ तो नं० २१ के सूत्र का तात्पर्य ही है। इन सब बातों के देखने से यह धारणा होती है कि यह ग्रन्थ सूत्र का समुदाय नहीं किन्तु वाक्यों का ही समुदाय है।

सप्तभंगों के उल्लेखों में भूल।

सप्तभंगी-प्रकरण में सप्तभङ्गों का उल्लेख ग्रन्थकार ने इस प्रकार किया है—

(१) स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः ॥१५—४॥

(२) स्यान्नास्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयः ॥१६—४॥

(३) स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया तृतीयः ॥१७—४॥

(४) स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद्विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः ॥१८—४॥

(५) स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधि-निषेधकल्पनया च पञ्चमः ॥१९—४॥

(६) स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेध-कल्पनया च षष्ठः ॥२०—४॥

(७) स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तमः ॥२१—४॥ प्र० न० तत्त्वा ॥

इन भंगों में तृतीय, पञ्चम, षष्ठ और सप्तम विचारने योग्य हैं। इसके पहिले यह जान लेना आवश्यक है कि ये सात भंग क्यों होते हैं ?

(१) वक्ता की सात प्रकार से वस्तु के कहने की इच्छा होती है इसलिये वह इन सात वाक्यों का प्रयोग करता है।

(२) उसकी सात प्रकार से वस्तु के कहने की इच्छा इसलिये होती है कि जिज्ञासु उससे सात प्रकार के प्रश्न करता है।

(३) जिज्ञासु सात प्रकार के प्रश्न इसलिये करता है कि उसे सात प्रकार से वस्तु के जाने की इच्छा होती है।

(४) उसको सात प्रकार से वस्तु को जानने की इच्छा इसलिये होती है कि वस्तु में उसे सात प्रकार का संदेह पैदा होता है।

(५) सात प्रकार का संदेह इसलिये होता है कि वस्तु में प्रत्येक पर्याय की अपेक्षा विधि-निषेध रूप सात प्रकार के धर्म पाये जाते हैं। इस प्रकार परम्परा से सात भंगों में वस्तु के सात प्रकार के धर्म ही कारण हैं। एक एक धर्म की विवक्षा में एक एक वाक्य का प्रयोग होता है।

जब स्वरूप से सत्त्व धर्म की प्रधानता से वस्तु के कहने की इच्छा होती है तब "स्यादस्त्येव सर्वम्" यह प्रथम भंग होता है। जब पररूप से असत्व धर्म की प्रधानता से वस्तु के कहने की इच्छा होती है तब "स्यान्नास्त्येव सर्वम्" यह दूसरा भंग होता है। जब क्रमार्पित स्वरूप पररूप से अस्तित्व नास्तित्व रूप तीसरे धर्म की प्रधानता से वस्तु के कहने की इच्छा होती है तब "स्यादस्ति नास्त्येव सर्वम्" यह तीसरा भंग होता है। इस भंग में अस्तित्व नास्तित्व दोनों धर्म वाच्य रहते हैं इसलिये पहिले, दूसरे भंगों से इसमें भेद होता है। कारण कि पहिले भंग में केवल अस्तित्व वाच्य रहता है, दूसरे भंग में केवल नास्तित्व वाच्य रहता है; इतना अवश्य है कि तीसरे में ये दोनों धर्म स्वतंत्र अनुभूयमान नहीं होते हैं किन्तु समूहरूप से ही इनका अनुभव होता है। जिस प्रकार बादाम, लायची, मिर्च, शक्कर आदि द्रव्यों से तैयार किये हुए पानक में इन सब का समूह-रूप से अनुभव होता है इसलिये बादाम, लायची, मिर्च, शक्कर आदि की अपेक्षा सब का मिश्रणरूप पानक स्वतंत्र एक वस्तु लोक-प्रसिद्ध है, उसी प्रकार प्रत्येक अस्तित्व, नास्तित्व की अपेक्षा दोनों का समूह भी एक स्वतंत्र धर्म सिद्ध होता है। इसको अस्तित्वविशिष्ट नास्तित्व या नास्तित्वविशिष्ट

अस्तित्व कह सकते हैं। इसकी प्रधानता से जब वस्तु के कहने की इच्छा होती है तब "स्यादस्ति नास्त्येव सर्वम्" या "स्यान्नास्त्यस्त्येव सर्वम्" इस प्रकार तीसरा भंग होना चाहिये। ग्रन्थकार ने जो इसके स्थान में "स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव सर्वम्" इस प्रकार उल्लेख किया है इसमें उनका अभिप्राय क्या था सो नहीं कहा जा सकता। कारण कि इस भंग में दो जगह स्यात् और एव शब्दों का कथन करने से "स्यादस्त्येव" तथा "स्यान्नास्त्येव" इनसे अस्तित्व, नास्तित्व दोनों धर्म भिन्न भिन्न प्रतीत होने लगे हैं, लेकिन इस तरह की यह प्रतीति पहिले और दूसरे भंग से होती है इसलिये तीसरे भंग की इस अवस्था में कोई सार्थकता नहीं रह जाती है। दूसरी बात यह है कि जब तृतीय भंग में क्रमार्पितोभय-रूप धर्म ही वाच्य रहता है तब दोनों की भिन्न भिन्न प्रतीति कराने वाला ऐसा उल्लेख हो भी नहीं सकता है इसलिये तीसरे भंग का स्वरूप "स्यादस्ति नास्त्येव सर्वम्" या 'स्यान्नास्त्यस्त्येव सर्वम्' ऐसा ही होना चाहिये। इसी प्रकार पञ्चम, षष्ठ और सप्तम धर्म भी अपने अपने रूप में एक हैं इसलिये उनमें भी एक एक ही स्यात् और एव पद होना चाहिये, अन्यथा उन भंगों का प्रयोग भी निरर्थक सिद्ध होगा, कारण इस तरह से पूर्वोक्तानुसार वे भी पुनरुक्त सिद्ध हो जाते हैं।

इसी प्रकार इस ग्रन्थ में स्थान स्थान पर बहुत विषय समालोच्य हैं, लेख बढ़ जाने के भय से इस समालोचना को यहीं समाप्त करता हूँ। फिर कभी दूसरे लेख-द्वारा विशेष प्रकाश डालने की चेष्टा की जायगी।

ग्रन्थकार।

इस ग्रन्थ के रचयिता श्वेताम्बराचार्य श्रीवादिदेव सूरि हैं। ये विक्रम की बारहवीं सदी के विद्वान् माने गये हैं इसलिये इसमें कोई संदेह नहीं कि ये परीक्षामुख के कर्त्ता श्रीमाणिक्यनन्दी से बहुत पीछे के विद्वान् हैं। कारण कि श्रीमाणिक्यनन्दी का समय विक्रम की आठवीं सदी माना गया है। इनके विषय में श्वेताम्बर ग्रन्थों की मान्यता यह है कि इन्होंने दिगम्बराचार्य उन कुमुदचन्द्र को शास्त्रार्थ में विजित किया था जिन्होंने ८४ शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त की थी जैसा कि निम्न पद्य से प्रकट होता है।

> येनार्दितश्चतुरशीतिसुवादिलीलालब्धोल्लसज्जयरमामदकेलिशाली ॥
> वादावहे कुमुदचन्द्रदिगम्बरेन्द्रः श्रीसिद्धभूमिपतिसंसदि पत्तनेऽस्मिन् ॥७४॥
>
> (गुर्वावल्यां श्रीमुनिसुन्दरसूरयः)

अर्थात्—जिन श्रीवादिदेव सूरि ने चौरासी शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त करने वाले दिगम्बराचार्य श्रीकुमुदचन्द्र को शास्त्रार्थ में परास्त किया। श्रीवादिदेव सूरि के विषय में

श्वेताम्बर ग्रन्थों में इसी तरह के अनेक उल्लेख प्रशंसापूरक पाये जाते हैं, उन सब के लिखने का यह स्थान नहीं है इतना अवश्य है कि ये दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र कौन थे ? इनकी गुरुपरंपरा वा शिष्यपरंपरा क्या थी ? इसका उल्लेख दिगम्बर ग्रन्थों में अभी तक की खोज से नहीं मिला है। यदि वास्तव में ये आचार्य चौरासी शास्त्रार्थों के विजेता थे तो अवश्य ही इनकी कीर्ति महत्वशाली ग्रन्थों के रूप में विद्यमान रहना चाहिये थी। लेकिन प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार को देखते हुए श्वेताम्बर ग्रन्थों के उपर्युक्त कथन पर सहसा विश्वास नहीं होता है । जो हो, इस विषय पर अवश्य ही विद्वानों को प्रकाश डालना चाहिये।

श्रीवादिदेव सूरि का ग्रन्थ स्याद्वाद-रत्नाकर भी है जो कि प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार की टीका है। इसके विषय में भी यह प्रसिद्धि है कि यह ग्रन्थ चौरासी हजार श्लोक प्रमाण है, लेकिन प्रकाशित ग्रन्थ को देखने से इसकी चौथाई होने में भी संदेह है। यह ग्रन्थ पांच भागों में प्रकाशित हुआ है। हो सकता है कि आचार्य का महत्त्व दिखलाने के लिये उनसे पीछे के विद्वानों की यह कल्पना मात्र हो। इसकी भी खोज बहुत आवश्यक है।



कविवर श्रीजिनसेनाचार्य्य और पार्श्वाभ्युदय

(ले०—त्रिपाठी भैरव दयालु शास्त्री, बी० ए०, साहित्योपाध्याय)



समय और समाज किसी भी व्यक्तिविशेष की कृतियों के साधन का असाधारण अङ्ग हैं। आग की चिनगारी चाहे असीम भस्मचय के अन्तर्गर्भ में ही क्यों न छिपी हो, सामयिक वायु अपनी अप्रतिहत प्रगति से भस्मचय को उड़ाकर उसे बाहर निकाल लाती है, और समाज उसमें उद्दीपक साधनों की आहुति देकर उसे प्रज्वलित कर देता है। यही कारण है कि वैयक्तिक विकास में समय और समाज का विशेष हाथ रहता है। फिर, राजसत्ता के अनुराग और प्रोत्साहन तो उसके जीवन के मूल स्रोत हैं ही। इसीलिये आलोचकों की तीक्ष्ण दृष्टि पुरुष-विशेष पर गड़ने के पहले समय, समाज और शासन की तत्कालीन प्रवृत्तियों पर पड़ती है। अस्तु, सहृदय पाठकवृन्द ! अभीष्ट विषय पर पहुंचने के पूर्व अपने महाकवि के समय और समाज का यत् किञ्चित् उल्लेख कर देना मुझे परमावश्यक प्रतीत पड़ता है, क्योंकि कार्य्य जिस वातावरण में किये जाते हैं उससे वे पूर्ण प्रभावित होते हैं।

आइये पाठक ! अब हम अपने दुर्धर्ष महाकवि और उनकी आसुरभित कृति पार्श्वाभ्युदय की चर्चा करें। जिन दिनों राष्ट्रकूट-वंशीय महाराज प्रथम अमोघवर्ष कर्णाटक और महाराष्ट्र के संयुक्त राष्ट्र पर शासन कर रहे थे, उन्हीं दिनों महाकवि श्रीजिनसेनाचार्य्य ने अपने अमर काव्य श्रीपार्श्वाभ्युदय की रचना की। आचार्य्य वीरसेन हमारे महाकवि और उनके सहपाठी विनयसेन के गुरु थे। 'सत्संगतिः कथय किन्न करोति पुंसाम्' के अनुसार इन्हीं महापुरुष श्रीविनयसेनाचार्य्य की अभ्यर्थना एवं अनुनय-विनय से समुत्साहित हो श्रीजिनसेन ने पार्श्वाभ्युदय को सङ्कलित किया। यह घटना जैन समाज के इतिहास में कोई नयी बात नहीं है। संस्कृत-साहित्य की प्रायः सारी शाखायें जैनाचार्य्यों की उपकृतियों के ऋणभार से लदी हैं। हेमचन्द्रादि कोष, वाग्भट्टादि अलङ्कारग्रन्थ, स्याद्वादमंजरी आदि दर्शन, अगणित काव्यग्रन्थ, शाकटायन एवं हेमचन्द्रानुशासन आदि व्याकरण ग्रन्थ, अनेक नीति एवं अगणित-शतक ग्रन्थ इत्यादि इस बात की सत्यता के ज्वलन्त उदाहरण हैं। महाराज श्रीअमोघवर्ष ने भी अपनी रचनाओं के द्वारा साहित्य की अनल्प सेवा की है। ऐसा सुषमामय वातावरण, ऐसे साहित्यसेवी कवि और काव्य के प्राण नरपति, ऐसे विद्याविनोदी बन्धु क्या कभी निष्फल जा सकते हैं? पार्श्वाभ्युदय की रचना कवि ने ७३६ शकाब्द में की थी। इसमें उन्होंने महाकवि कालिदास-कृत खण्ड काव्य मेघदूत के श्लोकों के एक एक या दो दो चरणों को लेकर समस्यापूर्ति की है। इस सम्बन्ध में टीकाकार श्री योगिराट् पण्डिताचार्य्य का कथन है कि महाराज अमोघवर्ष की सभा में कालिदास ने अपने मेघदूत को उपस्थित किया। जिनसेनाचार्य्य राजपण्डित थे। उन्होंने श्लोकों को प्राचीन और पूर्व-रचित उद्घोषित किया, और अपनी बात को प्रमाणित करने के लिये ही जिनसेनाचार्य्य ने पार्श्वाभ्युदय को रच डाला। जान पड़ता है टीकाकार ने भोजप्रबन्ध में वर्णित कथाओं की छाया लेकर ही, अथवा ग्रन्थ के महत्त्व को सूचित करने के लिये ही ऐसी कोरी कल्पना कर डाली है। योगिराट् ने शकाब्द १३२१ के उपरान्त ही पार्श्वाभ्युदय की टीका बनायी है, क्योंकि टीका में समुद्धृत नानार्थ-रत्नमाला का निर्माण १३२१ शकाब्द में हुआ था। जैनकवि श्रीरविकीर्त्ति के ५५६ शकाब्द के लेख में कालिदास का वर्णन है। अतः कालिदास और जिनसेनाचार्य्य की समकालीनता की टीकाकार की कल्पना सर्वथा निर्मूल है। जो हो, कवि ने कालिदास के मेघदूत को अपने समस्या-जाल में उद्ग्रथित कर अपनी अप्रतिम प्रतिभा का परिचय दिया है। मेघदूत का नायक यक्ष अपनी प्रोषितपतिका पत्नी के पास मेघ के द्वारा अपना सन्देश भिजवाता है, अतः उस काव्य में विप्रलम्भ शृङ्गार की सरिता एकाकिनी प्रवाहित होती है। शृङ्गार रस से ओतप्रोत श्लोकों के चरणों को तेइसवें तीर्थङ्कर श्रीपार्श्वनाथ

जी की पौराणिकी वार्त्ता के सांचे में ढालने का प्रयास कवि के अद्भुत उत्कर्ष को उद्योतित करता है। यक्ष ने अपने स्वामी कुबेर की आज्ञा के पालन में अनवधानता की थी इसी कारण उसे अलकापुरी से वर्षभर के लिये निर्वासित किया गया था। आठ महीने का समय काट चुकने पर उसे आषाढ़ के प्रारम्भ में मेघ का दर्शन होता है और उसके चिरसञ्चित पत्नीप्रेम के सागर में तूफान उठ आता है। इसीलिये विवश हो प्रेम में उन्मत्त होकर वह अचेतन मेघ को चेतन समझ उसे दूत बनाकर पत्नी के पास भेजता है। मेघ को वह दीन यक्ष रामगिरि से अलकापुरी जाने का रास्ता दिखाता है और मार्ग में पड़ने वाले नगरों, वनों, पर्वतों एवं नदियों का वर्णन करने के पश्चात् उसे अपना सन्देश सुनाता है। अपने वर्णनों में महाकवि कालिदास ने अपनी स्वभावसिद्ध वैदर्भी रीति का आश्रय लिया है, एवं अपने इष्ट शृङ्गार रस का स्थान-स्थान पर इन्होंने अद्भुत प्रस्फुटित रूप दिखाया है।

अब हमें यह देखना है कि कविवर जिनसेनाचार्य्य ने किस प्रकार श्रीपार्श्वनाथ की पौराणिक कथा में शृङ्गार का समावेश किया, और किन किन स्थलों पर अपने इष्ट साधन के लिये उन्होंने उक्त कथा में घटाव, बढ़ाव या परिवर्त्तन किये हैं, तथा अपने महाकाव्य की रचना में साहित्यिक दृष्टि से उन्होंने कहाँ तक सफलता पायी है। परन्तु इतने बड़े कार्य्य को एक छोटे से लेख में समाविष्ट करना उतना ही असम्भव है जितना गागर में सागर का भरना। तथापि हम 'स्थालीपुलाक-न्याय' का आश्रय लेकर कुछ न कुछ अपने प्रिय पाठकों की उत्सुकता का समाधान करना आवश्यक समझते हैं। महाराज अरविन्द के शासन-काल में कमठ और मरुभूति नामक दो सहोदर भाई राज-दरबार को अलङ्कृत करते थे। एक समय मरुभूति महाराज के साथ युद्धस्थल को गया था। इस अवसर पर बड़े भाई कमठ ने भ्रातृ-पत्नी वसुन्धरा के रूप पर आसक्त हो अपनी पत्नी के द्वारा उसे वश में कर लिया। युद्ध से लौटते ही महाराज ने इस अत्याचार का पता पा कमठ को चिरनिर्वासन का दण्ड दे नगर से निकाल दिया। कमठ इसे अपने छोटे भाई की चाल समझ वन में जाकर वैरशोध के लिये तपस्या करने लगा। शीलवान् मरुभूति का हृदय बड़े भाई की इस दुरवस्था पर पसीज गया, और वह उस से क्षमा मांगने को वन में जा उसके चरणों पर गिर पड़ा। क्रोधान्ध कमठ ने एक भारी चट्टान से उसे दे मारा। वही मरुभूति किसी दूसरे जन्म में तीर्थङ्कर श्रीपार्श्वनाथ का अवतार धारण कर काशी में तपस्या कर रहा था। कमठ भी देह त्याग कर शम्बर के रूप में अवतीर्ण हुआ; इसी स्थल से पार्श्वाभ्युदय के कथानक का आरम्भ होता है। जिनसेनाचार्य्य ने शम्बर को मेघदूत का यक्ष बनाया है और उसके आजीवन निर्वासन को केवल वर्ष भर का दण्ड बताकर उन्होंने समस्या-पूर्ति की कठिनाइयों को सरल किया है।

कालिदास ने मन्दाक्रान्ता छन्द में अपने काव्य को लिखा है। अतः हमारे कवि को भी वही छन्द लेना पड़ा। इनकी रीति भी प्रायः कालिदास की ही रीति है, और दोनों ही काव्यों में प्रसाद गुण भी हैं। परन्तु काव्य की आत्मा रस है, इस के सम्बन्ध में दोनों ही दो विरुद्ध दिशाओं में चलने वाले हैं। कालिदास रसरज्जु की एक छोर शृङ्गार को ताने बैठे हैं, और जिनसेनाचार्य्य उसकी दूसरी छोर की रौद्र, वीर एवं शान्त की तीन प्रधान गांठों को लिये अकड़े हैं। इसी उलझन के सुलझाने में जिनसेन जी ने अपनी अद्भुत भाव-प्रवणता का परिचय दिया है।

"तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतोः" इस चरण में कालिदास ने वियोगी यक्ष की विरह-वेदना का सजीव चित्र खींचा है। वह यक्ष अचेतन मेघ को चेतन मान उसके आगे हाथ जोड़े खड़ा होकर अपनी मोहावस्था को प्रकटित करता है। उसकी विरह-वेदना इतनी बढ़ी है कि वह खड़ा होने में असमर्थ प्रतीत होता है। अब देखिये हमारा कवि इस चरण को लेकर कैसी रचना करता है—

सोऽसौ जाल्मः कपटहृदयो दैत्यपाशः हताशः
स्मृत्वा वैरं मुनिमपघृणो हन्तुकामो निकामम्।
क्रोधात्स्फुर्जन् नवजलमुचः कालिमानं दधान-
"स्तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतोः॥"

कितना महान् अन्तर है। सिनेमा के चित्रपट पर जिस प्रकार एक सौम्यमूर्त्ति सहसा विलीन हो जाती है और उसके स्थान पर तत्काल ही दूसरी भयानक रुद्रमूर्त्ति खड़ी हो जाती है, ठीक उसी प्रकार कालिदास का वियोग का मारा यक्ष गायब हो जाता है और क्रोध से कांपता, कुटिल, कपट की मूर्त्ति शम्बर रुद्ररूप में प्रकट हो जाता है। धन्यवाद! इस अनूप परिवर्त्तन की कला को। जिनसेनजी का यक्ष—

"धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः।"

ऐसे निर्जीव मेघ के आगे नहीं, वरन् ध्यानस्थ "अन्तर्निरुन्धन्" भिक्षु पार्श्वनाथ के आगे वैरभाव से जलता खड़ा है। जरा आंकड़े लगा कर देखिये तो पता चलेगा कि जिनसेनाचार्य्य ने कितनी गहरी डुब्बी लगायी है। कालिदास के मेघ की अचेतनता यहां भी लायी गयी है, और उसे लाकर योगी का महान् उपकार किया गया है। मुनि को दैत्य की गालियां नहीं सुननी पड़ीं, एवं उसकी तर्जना उन्हें विचलित करने में असमर्थ हो जाती है। जिनसेन जी के विचित्र परिवर्त्तन के आश्चर्य्यकारी आयास का एक और नमूना लीजिये—

"कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु।"

(सशेष)

प्रशस्ति-संग्रह

(सम्पादक—के० भुजबली शास्त्री)

(गतांक से आगे)

स्याद्वादाकाशपूर्णेन्दुर्भव्याम्भोरुहभानुमान् ।
दयागुणसुधाम्भोधिर्धर्मः पायाद्विहार्हताम् ॥५॥
अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः ।
सर्वपापप्रशमनं वर्द्धतां जिनशासनम् ॥६॥
पञ्चकल्याणसम्पूर्णाः पञ्चमज्ञानभासुराः ।
नः पञ्च गुरवः पान्तु पञ्चमीगतिसाधकाः ॥७॥
वृषभादीनहं वर्द्धमानान्तान् जिनपुङ्गवान् ।
चतुर्विंशतितीर्थेशान् स्तुवे त्रैलोक्यपूजितान् ॥८॥
वन्दे वृषभसेनादिगणिनो गौतमान्तिमान् ।
श्रुतकेवलिनः सूरीन् मूलोत्तरगुणान्वितान् ॥६॥
अनुयोगचतुष्कादिजिनागमविशारदान् ।
जातरूपधरांस्तोष्ये कविवृन्दारकान् गुरून् ॥१०॥
अर्हदादीनभीष्टार्थसिद्ध्यै शुद्धित्रयान्वितः ।
इत्यनन्तगुणोपेतान् ध्यात्वा स्तुत्वा प्रणम्य च ॥११॥
श्रीमत्समन्तभद्रादिगुरुपर्वक्रमागतः ।
शास्त्रावतारसम्बन्धः प्रथमं प्रतिपाद्यते ॥१२॥
पुरा वृषभसेनेन गणिना वृषभार्हतः ।
अनगार्योऽभ्यधाय्येतत् भरतेश्वरचक्रिणे ॥१३॥
ततोऽजितजिनेन्द्रादितीर्थकृद्भ्योऽवधार्यताम् ।
तत्तद्गणधरास्तत्र धार्मिकाणामिहाब्रुवन् ॥१४॥
ततः श्रीवर्द्धमानार्हद्गिरमाकर्ण्य गौतमः ।
राज्ञे लोकोपकारार्थं श्रेणिकायाब्रवीद् गणी ॥१५॥
तस्माद्गुणभृदाचार्यादनुक्रमसमागतः ।
नाम्ना जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदयोऽयमिहोच्यते ॥१६॥

सेनवीरसुवीर्यभद्रसमाख्यया मुनिपुङ्गवाः
नन्दिचन्द्रसुकीर्त्तिभूषणसंज्ञया ऋषिसत्तमाः ।
सिंहसागरकुंभ(?)आस्रवनामभिर्यतिनायकाः ।
देवनागसुदत्ततुंगसमाह्वयैर्मुनयोऽभवन् ॥१७॥
तेभ्यो नमस्कृत्य मया मुनिभ्यः
शास्त्रोदधेः सूक्तिमणींश्च लब्ध्वा ।
हारं विरच्यार्यजनोपयोग्यं
जिनेन्द्रकल्याणविधिर्व्यधायि ॥१८॥
वीराचार्यसुपूज्यपादजिनसेनाचार्यसंभाषितो
यः पूर्वं गुणभद्रसूरिवसुनन्दीन्द्रादिनन्द्यूर्जितः ।
यश्चाशाधरहस्तिमल्लकथितो यश्चैकसंधीरितः
तेभ्यस्स्वाहृतसारमा (?) र्यरचितः स्याज्जैनपूजाक्रमः ॥१९॥
तर्कव्याकरणागमाद्विलहरीपूर्णश्रुताम्भोनिधेः ।
स्याद्वादाम्बरभास्करस्य धरसेनाचार्यवर्यस्य च
शिष्येणार्यपकोविदेन रचितः कौमारसेनेर्मुनेः (?) ।
ग्रन्थोऽयं जयताज्जगत्त्रयगुरोर्बिम्बप्रतिष्ठाविधिः ॥२०॥
पूर्वस्मात् परमागमात्समुचितान्यादाय पद्यान्यहम् ।
तत्र प्रस्तुतसिद्धयेऽत्र विलिखाम्येतन्नरोपायतत् (?)
कल्याणेषु विभूषणानि धनिकादानीय निष्किञ्चनः ।
शोभार्थं स्वतनुं न भूषयति किं सा राजते नास्य तैः ॥२१॥
जिनेन्द्रधारणीमुनिसंघभक्त्या जिनेन्द्रकल्याणनुतिं प्रणीय
जिनेन्द्रपूजां रचयन्ति येऽमी जिनेन्द्रसिद्धश्रियमाश्रयन्ति ॥२२॥

मध्यभाग (४६ पृष्ठ ७ पंक्ति)

अतिनुतजलगन्धैरक्षतैरक्षतांगैर्वरकुसुमनिवेद्यैर्दीपधूपैः फलैश्च ।
जिनपतिपदपद्मं योऽर्चयेदर्चनीयम् स भवति भुवनेशो मोक्षलक्ष्मीनिवासः ॥

ॐ ह्रीं नमो ध्यातृभिरभीप्सितेभ्यः स्वाहा
नमः पुरुजिनेन्द्राय नमोऽजितजिनेशिने ।
नमः संभवनाथाय नमोऽभिनन्दनार्हते ॥
नमः सुमतये तुभ्यं नमः पद्मप्रभाय च ।
नमः सुपार्श्वदेवाय नमश्चन्द्रप्रभाय ते ॥

अन्तिम पद्य :—

> तिथिरेकगुणा प्रोक्ता नक्षत्रं द्विगुणं भवेत् ।
> लग्नन्तु त्रिगुणं तेषां शुभाशुभफलं भवेत् ।
> × × ×

ग्रन्थकर्त्ता के मंगलाचरणगत १९वें श्लोक से यह ज्ञात होता है कि वीराचार्य, पूज्यपाद, जिनसेन, गुणभद्र, वसुनन्दी, इन्द्रनन्दी, आशाधर और हस्तिमल्ल इन आठ साहित्यिकरत्नों ने प्रतिष्ठा-ग्रन्थ लिखे हैं। और इन्हीं के आधार पर आर्यप या अप्पयार्य ने इस विद्यानुवादाङ्ग प्रतिष्ठा-ग्रन्थ की रचना की है। किन्तु इस समय उल्लिखित इन प्रतिष्ठाग्रन्थ प्रणेताओं के सभी ग्रन्थ प्रायः उपलब्ध नहीं होते। इसके २०वें श्लोक से यह भी विदित होता है कि इस ग्रन्थ के रचयिता धरसेनाचार्य और कुमारसेन मुनि को अपना गुरु मानते थे। इन्होंने इन्हें तर्क व्याकरण एवं सभी आगमों का मर्मज्ञ भी लिखा है। इसी श्लोक में "कौमारसेनेर्मुनेः" यह पद जो मिलता है, वह व्याकरण की दृष्टि से चिन्तनीय है। क्योंकि नियमानुसार "कौमारसेनस्य" होना चाहिये था। किन्तु इस शुद्धरूप की प्रयुक्ति से छन्दोभंग हो जाता है। यह प्रति बहुत अशुद्ध है, अतः जिन महाशयों के पास इसकी दूसरी कोई प्रति हो वे उससे इसका मिलान कर इस सन्दिग्ध बात पर प्रकाश डालें। संभव है कि दूसरी प्रति शुद्ध हो।

भवन की इस प्रति में तो प्रशस्ति नहीं है। किन्तु "Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts in the Central Provinces & Berar" में—जिसका सम्पादन राय बहादुर हीरालालजी ने किया है उसमें आर्यप या अप्पयार्य का संक्षिप्त परिचय-प्रदर्शन-पूर्वक कारंजा शास्त्रभाण्डार से प्राप्त प्रति से निम्न लिखित प्रशस्ति उद्धृत की है:—

> शाकाब्दे विधुवेदनेत्रहिमगे (?) सिद्धार्थसंवत्सरे
> माघे मासि विशुद्धपक्षदशमीपुष्यार्कवारेऽहनि ।
> ग्रन्थो रुद्रकुमारराज्यविषये जैनेन्द्रकल्याणभाक्
> सम्पूर्णोऽभवदेकशैलनगरे श्रीपालबन्धूर्जितः ॥

इति श्रीसकलतार्किकचक्रवर्त्तिश्रीसमन्तभद्रमुनीश्वरप्रभृतिकविवृन्दारकवन्द्यमानसरोवरराजहंसायमानभगवदर्हत्प्रतिमाभिषेकविशेषविशिष्टगन्धोदकपवित्रीकृतोत्तमाङ्गेनाप्पयार्येण श्रीपुष्पसेनाचार्योपदेशक्रमेण सम्यग्विचार्य पूर्वशास्त्रेभ्यः सारमुद्धृत्य विरचितः श्रीजिनेन्द्रकल्याणाभ्युदयापरनामधेयस्त्रिदशाभ्युदयोऽर्हत्प्रतिष्ठाग्रन्थः समाप्तः ॥

इस प्रशस्ति से यही बात ज्ञात होती है कि अप्पयार्य ने सिद्धार्थ नामक संवत्सर १२४१ माघ शुक्ल दशमी रविवार एवं पुष्य नक्षत्र में पुष्पसेनाचार्य के आदेश से रुद्रकुमार के राज्य में एकशैलनामक नगर में यह ग्रन्थ लिखकर समाप्त किया है। उल्लिखित समय खृष्ट शक २०वीं जनवरी १३२० A. D. होता है। न मालूम किस आधार पर हीरालालजी ने अपने सम्पादित कैटलग में अप्पयार्य को पुष्पसेन का शिष्य लिखा है। ज्ञात होता है कि मंगलाचरण का १६वाँ श्लोक आपकी नजरों से नहीं गुजरा है। क्योंकि पुष्पसेन तो प्रेरक ही मालूम होते हैं।

उक्त यह एकशैल वर्त्तमान वरंगल का प्राचीन नाम है[१]। वरंगल के और भी कई नाम हैं[२]। यह प्राचीन तैलंग की राजधानी थी[३]। काकतेयों ने इस पर ईस्वी सन् १११० से १३२३ ईस्वी तक राज्य किया है[४]। इसी वंश में राजा रुद्रदेव हुए हैं[५]। इनकी यहीं राजधानी थी। मालूम होता है राजा रुद्रदेव इस वंश के अन्तिम राजा थे, क्योंकि इस प्रशस्ति से पता चलता है कि इस ग्रन्थ की रचना ईस्वी सन् १३२० में हुई है और उस समय रुद्रदेव ही शासन कर रहे थे।

प्रशस्तिगत धरसेन, कुमारसेन, पुष्पसेन, श्रीपाल इन विद्वानों के सम्बन्ध में मेरा इस समय कुछ भी विशेष वक्तव्य नहीं है। क्योंकि श्रवणबेलगोल के कतिपय शिलालेखों में धरसेन जी को छोड़कर शेष तीन नाम उपलब्ध होते हैं अवश्य, परन्तु इनमें से कुछ शिलालेखों में तो इनका समय ही नहीं दिया गया है। जिन लेखों में समय दिया गया है, वह भी "अप्पयार्य" के समय से मेल नहीं खाता। "दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ" में आये हुए इन उल्लिखित नामवाले ग्रन्थकर्त्ताओं की कृतियों को देखने से संभवतः इनका विशेष परिचय मिल सकता है।

---

१ हिन्दी-विश्वकोष भाग ३ पृष्ठ ४६१ और List of the Antiquarian Remains in the Nizam's Territories By cousens. "Another name of Warrangal × ×, is Akshalingar, which in the opinion of Mr. consens is the same yekshilangara."
—The Geographical Dictionary of Ancient & Medieaval India By Nandoo Lal Dey P. 8.

२ अनुमकुन्दपुर, अनुमकुन्दपट्टन, कोहकोल (of Ptolemy), वेणाकटक, एकशैलिनगर आदि।
(The Geographical Dictionary P. 262.)

३ रुद्रदेव का शिलालेख JASB, 1838 P. 903 साथ ही Prof. Wilson's Mackenzie collection P. 76.

४ The Geographical Dictionary, P. 8.

५ 'वरंगल के काकतीय वंशी एक राजा × × ×।' हिन्दी-विश्वकोष भाग १२, पृष्ठ ६२७

नोट—विश्वकोषकार ने संख्या ३ देकर इनके सिवा एक और का भी उल्लेख किया है। "एक हिन्दू राजा ये तैलंगाधिपति थे" सम्भवतः यह विश्वकोष-कार के तैलंग और वरंगल इन दोनों को दो भिन्न स्थान समझने की भूल है।

(५) ग्रन्थ नं० २०५/ख

निदान-मुक्तावली

कर्त्ता—पूज्यपाद (?)

विषय—वैद्यक

भाषा—संस्कृत

लम्बाई—१३। इञ्च चौड़ाई—८। इञ्च पत्रसंख्या—६

मङ्गलाचरण

(अभाव)

प्रथम श्लोक—

रिष्टं दोषं प्रवक्ष्यामि सर्वशास्त्रेषु सम्मतम्।
सर्वप्राणिहितं दृष्टं कालारिष्टश्च निर्णयम् ॥१॥

मध्य भाग (पृष्ठ ४ पंक्ति ११)

पीत्वा जलं यस्य न याति तृष्णा भुक्त्वा भृशं न क्षुदपैति यस्य।
शक्तिक्षये वाथ सुवर्णनासा मासेऽष्टमे तस्य हि कालमृत्युः॥
खण्डं भवेद्यस्य पदं कदाचित् पङ्काङ्किते वा भुवि पांसुलेपात्।
ते सप्तकं (?) मासि विहाय सर्वं प्रयाति याम्यं सदनं मनुष्यः॥

अन्तिम भाग—

गुरौ मैत्रे देवेऽप्यगदनिकरैर्नास्ति भजनम् तथाप्येवं विद्या अतिनिगदिता शास्त्रनिपुणैः।
अरिष्टं प्रत्यक्षं सुभवमनुमोरूढसुभगम् विचार्य्यन्तच्छश्वन्निपुणमतिभिः कर्मणि सदा ॥
विज्ञाय यो नरः काललक्षणैरेवमादिभिः। न भूयो मृत्यवे यस्माद्विद्वान्कर्म समाचरेत् ॥

इति पूज्यपादविरचितायां स्वस्थारिष्टनिदानं समाप्तम्।

× × ×

इसमें दो ही निदान हैं—(१) कालारिष्ट और (२) स्वस्थारिष्ट।

इस ग्रन्थ की प्रति मद्रास राजकीय पुस्तकालय में संगृहीत ग्रन्थ की प्रति से करायी गयी है।

इस ग्रन्थ के पद्यों में पूज्यपादजी का नाम कहीं नहीं मिलता। किन्तु मूल प्रति में प्रकरणसमाप्ति-सूचक वाक्य 'पूज्यपादकृत' लिखा रहने के कारण प्रतिलिपि-कर्त्ता लेखक को भी 'पूज्यपादकृत' ज्यों का त्यों लिख देना अनिवार्य था। अस्तु, इस ग्रन्थ के विषय और संस्कृत-रचना की ओर ध्यान देने से सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थों के निर्माता प्रातः-स्मरणीय हमारे प्रख्यात पूज्यपादजी को इस ग्रन्थ के रचयिता मानने में मन हिच-किचाता है। सम्भव है कि यह कृति किसी दूसरे पूज्यपाद जी की हो। इस सन्देहास्पद विषय को हल करने के लिये और और प्रतियों की जरूरत है। आशा है कि अन्यान्य पण्डित-मण्डली भी इसकी ओर ध्यान देगी।

---

(६) ग्रन्थ नं० २०६/ख

मदनकामरत्नम्

कर्त्ता—पूज्यपाद (?)

विषय—वैद्यक

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १३॥ इञ्च चौड़ाई ८। इञ्च पत्रसंख्या ६४

मङ्गलाचरण

(अभाव)

प्रारम्भिक भाग—

महापूर्णचन्द्रोदयः

मृतं सूतलोहाभ्ररौप्यं समांशम्

.........मृतस्वर्णगन्धं (?)

ससर्वं (?) विनिक्षिप्य खल्वे विमर्द्येत्ततः स्वर्णतैलोद्भवेन त्रिवारम् ॥१॥

ततः शाल्मलीसारनिर्यासगुञ्जां प्रयुञ्जीत तज्ज्ञः सुहृद्धातुपानैः।

त्रिदोषक्षयं चापि हन्यात्परेषाम् (?) वयस्तम्भकारी गदोन्मादहारी ॥२॥

वधूगर्वहारी रतौ वृद्धिकारी कृशत्वापहारी कलापूर्णधारी

समस्तेषु योगेषु भूमौ विशेषात् प्रसिद्धो महापूर्णचन्द्रोदयोऽयम् ॥३॥

मध्यभाग—(पृष्ठ ३० पुष्पबाणरसः)—

रसभस्म त्रिभागंस्याद्दष्टभागं च गन्धकम् । चतुर्थं मौक्तिकं वादं द्विभागा मौक्तिकी शिला ॥

तारमन्त्रकलोहानां वङ्गमाक्षिकनागयोः । अयस्कामं प्रवालाष्टौ तुल्यभागं प्रकल्पयेत् ॥

अन्तिम भाग—(पञ्चबाणरसः)

सुवर्णं रजतं कान्तं वैक्रान्तं तीक्ष्णमन्त्रकम् । प्रवालं मुक्तभसितं नागवङ्गञ्च भास्करम् ॥

एकैकसमभागं च सर्वतुल्यं रसेन्द्रियम् । तत्समं शुद्धगन्धञ्च हंसपादीरसेन च ॥

कौमारीरससंप्रोक्तं मर्दितञ्च दिनत्रयम् । काचकुप्यन्तरे क्षिप्त्वा विलेप्य वस्त्रमृत्तिकाम् ॥

वालुकायन्त्रके पक्त्वा षड्यामान्ते समुद्धरेत् । चूर्णीकृतं ततः खल्वे शतपत्ररसेन च ॥

दिनत्रयञ्च यत्नेन चाधिकं सहभावनात् । कस्तूरिकां च कर्पूरं भावयेत यथाविधि ॥

शाल्मलीकानि लाक्षाथ गान्धारी सममर्दयेत् । वराचन्दनसंयुक्तं कणाक्षौद्रं सिताज्यकम् ।

विंशतिञ्च प्रमेहाणां राजयक्ष्माननेकशः । शुक्रवृद्धिकरञ्चैव वन्ध्या च लभते सुतम् ॥

वन्ध्यनष्टं पुष्पनष्टं·····मसृग्दरम् । रक्तपित्तं चाम्लपित्तं अस्थिस्रावहलीमकम् ॥

अहन्येव रजः स्त्रीणां भवन्ति प्रियदर्शनात् । वीर्यवृद्धिकरश्चैव नारीणां रमते शतम् ॥

पञ्चबाणरसो नाम पूज्यपादेन निर्मितः ॥

× × ×

पूर्वोद्धृत 'निदानमुक्तावली' और यह वर्तमान 'मदनकामरत्नम्' दोनों ग्रन्थ प्रशस्ति नहीं रहने एवं विषयविच्छेद नहीं होने से ज्ञात होता है कि अपूर्ण हैं। साथ ही साथ इन दोनों के रचयिता भी एक ही पूज्यपाद मालूम होते हैं।

इस प्रस्तुत ग्रन्थ मदनकामरत्न को कामशास्त्र कहना अनुचित नहीं होगा। क्योंकि ६४ पृष्ठों में से केवल १२ पृष्ठ तक तो महापूर्ण चन्द्रोदय, लोह, अग्निकुमार, ज्वरबलफणिगरुड, कालकूट, रत्नाकर, उदयमार्त्तण्ड, सुवर्णमाल्य, प्रतापलंकेश्वर राजेश्वर, बालसूर्योदय (दो प्रकार का) इन अन्यान्य ज्वरादि रोगों के विनाशक रसों का विवरण और कर्पूरगुण, मृगहार भेद, कस्तूरी भेद, कस्तूरी गुण, कस्तूर्यनुपान और कस्तूरीपरीक्षा आदि है। बाकी जो ५२ पृष्ठ हैं वे कामदेव के जो पर्यायवाची शब्द हैं उन्हीं भिन्न भिन्न नामों से अङ्कित ३४ प्रकार के कामेश्वररसमय हैं। साथ ही वाजीकरण औषध, तैल, लिङ्ग-वर्द्धनलेप, पुरुषवश्यकारी औषध, स्त्रीवश्यभैषज, मधुरस्वरकारी औषध और गुटिका-निर्माण-विधि भी है। कामसिद्धि के लिये छः मन्त्र भी आये हैं। उक्त दिग्दर्शन से स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ के सभी पृष्ठ कामविषयक विधिविधानों से ही भरे पड़े हैं।

यों तो यह सारा ग्रन्थ पद्यबद्ध है किन्तु एक जगह पञ्चबाण रस के पद्याङ्कित पद्य की संस्कृत गद्य में व्याख्या कर दी गयी है।

(७) ग्रन्थ नं० $\frac{२०७}{ख}$

जिनयज्ञफलोदयः

कर्त्ता—मुनि कल्याणकीर्त्ति

विषय—पूजाफलविवरण

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १२। इञ्च *चौडाई ७॥ इञ्च* *पत्रसंख्या ८६*

मङ्गलाचरण

सर्वज्ञं सर्वविद्यानां विधातारं जिनाधिपम् ।
हिरण्यगर्भं नाभेयं वन्देऽहं विबुधार्चितम् ॥१॥
अन्यानपि जिनान्नत्वा तथागणधरादिकान् ।
कथ्यते मुक्तिसम्प्राप्त्यै जिनयज्ञफलोदयः ॥२॥
जीयाल्ललितकीर्त्तीशो मद्गुरुर्मुनिपुङ्गवः ।
देवचन्द्रमुनीन्द्रार्च्यो दयापालः प्रसन्नधीः ॥३॥
मादृशोऽपि च यच्छक्तिजिनयज्ञफलोदयः ।(?)
न तच्चित्रं क्रमायातगुरुपर्वावलम्बनात् ॥४॥
कल्याणकीर्त्तिदेवस्य भारतीकविवेधसः ।
सतां चेतसि पीयूषधारां धत्ते निरन्तरम् ॥५॥
वृद्धिं व्रजति विज्ञानं कीर्त्तिश्चरति निर्मला ।
प्रयाति दुरितं दूरं जिनयज्ञफलस्तुतेः ॥६॥

मध्यभाग—(पृष्ठ ४१ श्लोक १९)

जिनशासनमासाद्य ये सम्यक्त्वसमन्वितम् ।
सद्व्रतं नहि कुर्वन्ति म्लेच्छास्ते पशुभिः समाः ॥१९॥
दुर्गन्धिविग्रहाः क्रूराः सर्वलोकतिरस्कृताः ।
काणपङ्गुविवर्णाङ्गाः मलिनच्छिद्रवाससः ॥२०॥
विरूपा विगतच्छाया धनबन्धुविवर्जिताः ।
लभन्ते यन्नरा दुःखं तत्फलं पापकर्मणः ॥२१॥

प्रतिमा-लेख-संग्रह

(संग्राहक—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन)



(३) श्री दि० जैन लोहिया अग्रवाल मन्दिर मैनपुरी (गंज)

१ **नेमिनाथ**—श्वेतपाषाण—१८ अं०—"शुभ सं० १९२० फाल्गुण वदि ३ गुरुवासरे श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये श्रीमद्भट्टारक जिनेन्द्रभूषणजिदेवस्तत्पट्टे श्रीमद्भट्टारक महेन्द्रभूषणजिदेवस्तत्पदे श्रीमद्भट्टारक राजेन्द्रभूषणजिदेवस्तदुपदेशात् श्रीमदग्रवंशोद्भवः वाशिलगोत्रोत्पन्नः॥ काष्ठासंघ बाबू ब्रजमोहनदासस्तद्भार्या सुंदरि कुंवरिस्तत्पुत्रौ बाबू जगमोहनदास बाबू मुनिसोब्रतदासौ तद्भार्या कांताकुंवरि टुकुटुकु कुंवरि संज्ञके चतभिः प्रतिष्ठाकर्त्ता आरानगर्य्यां केलिरामस्तत्पुत्र डालचंद अग्रवार गरगगोत्रोत्पन्नस्य मस्तके कृता।"

२ **चंद्रप्रभ**—कृष्ण पा०—१८ अं०—"सं० १९३४ वर्षे वैशाष सुदी ७ श्रीमूलसंघे......... राज्यप्रवर्तमाने...........।" (पढ़ने में नहीं आता)।

३ **अर्हत्**—माणिक्यरत्न—२॥ अं०—लेखरहित।

४ **शांतिनाथ**—स्फटिक पा०—१४ अं०—"श्री मूलसंघ बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये गरगगोत्र अगरवारवंसे झम्मनलाल प्रतिष्ठितं सं० १९४५ माघवदी २।"

५ **पार्श्वनाथ**—हरित पा०—११ अं०—लेख नं० ४ के अनुरूप।

६ **सुपार्श्वनाथ**—हरित पा०—१० अं०—लेख नं० ४ के अनुरूप।

७ **पार्श्वनाथ**—हरित पा०—११ अं०—लेख नं० ४ के अनुरूप।

८ **महावीर**—श्वे० पा०—३० अं०—"श्री सं० १९५५ माघ शुक्ल १२ प्रतिष्ठितं।"

९ **पार्श्वनाथ**—श्वे० पा०—२८ अं०—"श्री सं० १९५५ माघ शुक्ल १२ दिगंबराम्नाय प्रतिष्ठितं हाथरसे।"

नोट—जो प्रतिमायें खड्गासन हैं उनके साथ "खड्गासन" लिख दिया है वरन् सब पद्मासन समझना चाहिये।

मौलिकता लुप्त हो जाने के खयाल से "प्रतिमा-लेख-संग्रह" के लेखों की भयंकर अशुद्धियां ज्यों की त्यों छोड़ दी गयी हैं। सम्पादक

१० **आदिनाथ**—श्वे० पा०—३२ अं—"सं० १४७० श्रीयुत राजजकोवती लो सुनाम राजपट्टि जी जोधपुरमांही प्रतिष्ठा करापिता कल्याणदास मैनपुरीगंज।"

११ **चंद्रप्रभ**—स्फटिक पा०—१३ अं०—लेख नं० ४ की भांति।

१२ **शांतिनाथ**—धातु—१८ अं—"सं० १६११ फाल्गुन मासे शुक्लपक्षे ६ गुरुवासरे को प्रतिष्ठितं मैनपुरी मद्धे श्रीमूलसंघ बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुंदकुंदाचार्य० कौसल गोत्रे लाला मलैरामततसंग भ्रात कल्याण नित्यं प्रणमंत श्रीस्व०॥

१३ **आदिनाथ**—धातु—६ अं०—"सं० १६२७......।'

१४ **पार्श्वनाथ**—धातु—७ अं०—"सं० १६११ फाल्गुण सुदी ७ भृगौ भाई मलैराम सुराणी प्रणमंत नित्यं।"

१५ **सुपार्श्वनाथ**—धातु—६ अं०—"सं० १६५२ प्यारेलाल मैनपुरी।"

१६ **चंद्रप्रभ**—श्वेत पाषाण—१६ अं०—"सं० १६४५......।" इत्यादि

१७ **चंद्रप्रभ**—स्फटिक—"सं० १६४५ माघ सुदी २ प्रतिष्ठितं।"

१८ **पार्श्वनाथ**—धातु—१४ अं०—"सं० १६११ फाल्गुन मासे शुक्ल पक्षे ७ भृगौ प्रतिष्ठितं ......मध्ये भाई मलराम नित्यं प्रणमंति।"

१९ **अजितनाथ**—श्वेत पाषाण—७ अं०—"सं० १६४५ माघकृष्ण २ प्रतिष्ठितं।"

२० **पार्श्वनाथ**—पाषाण—८०—"सं० १६२७ प्रतिष्ठितं।"

२१ **सुपार्श्वनाथ**—धातु—४ अं०—"सं० १६२७ चैतवदी २ मलैराम मैनपुरी।"

२२ **अरहंत**—धातु—४ अं०—"सं० १५४५ प्रतिष्ठितं।"

२३ **चंद्रप्रभ**—धातु—४ अं०—"सं० १६२७।"

२४ **महावीर**—धातु—४ अं०—"सं० १६२७।"

२५ **महावीर**—धातु—४ अं०—"सं० १६२७।"

२६ **नेमिनाथ**—धातु—४ अं०—"सं० १६२७ श्री भौगाँव प्रतिष्ठितं।"

२७ **श्रेयांसनाथ**—धातु—४ अं०—"सं० १६२७ बकरेमल प्र० भौगाँव मध्ये।"

२८ **चंद्रप्रभ**—धातु—४ अं०—"सं० १६२७ बकरेमल दिगंबर आम्नाय।"

२९ **महावीर**—धातु—४ अं०—उपर्युक्त लेख।

३० **सुपार्श्वनाथ**—धातु—४ अं०—उपर्युक्त लेख।

(४) निम्नांकित प्रतिमायें श्री दि० जैन–मन्दिर (भगतजी का) मैनपुरी (गंज) में विराजमान हैं और इनके लिंग–चिह्न प्रकट नहीं हैं।

१ **आदिनाथ चतुर्मुख मंदिर-सहित**—श्वेत पाषाण—मंदिर-सहित ऊंचाई २८ अं०—मूर्ति की ऊँचाई ८ अं०—"सं० १६४५ माघ कृष्ण २ श्री मूलसंघ बलात्कारगण सरस्वती गच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये अगरवारगोत्रे झम्मनलालेन प्रतिष्ठापितं कल्यानं ददातु।"

२ **सुपार्श्वनाथ** —श्वेत पाषाण—११ अं०—"सं० १६४५ इत्यादि उपर्युक्त की भाँति।

३ **सुपार्श्वनाथ**—मूंगावर्ण पा०—८ अं०—लेख उपर्युक्त की भांति।

४ **अनंतनाथ**—श्वेत पाषाण—८ अं० – "श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्याम्नाये अगरवार झम्मनलालेन प्रतिष्ठितं सं० १६४५।"

५ **विमलनाथ**—श्वेत पाषाण—७ अं०—"सं० १६४५ माघ० कृ० २ प्रतिष्ठितं मूल संघ झम्मनलालेन प्रतिष्ठितं।"

६ **अर्हत् चतुर्मुख मंदिर-सहित**—श्वेत—५ अं०—१॥ अं०—लेखरहित।

७ **महावीर**—कृ० पा०—२२ अं—"श्री सं० १६५५ शुक्ल १२ बुधे सिद्ध आम्नाय प्रतिष्ठितं जानकीदास मैनपुरी।"

८ **शांतिनाथ**—श्वेत पा०—८ अं०—"सं० १६४५ माघ कृष्ण २......झम्मनलाल प्रतिष्ठतं।

९ **नमि**—श्वेत—८ अं०—"सं० १६४५ माघ कृष्ण २ श्रीमूलसंघे ब० ग० स० ग० कुं० झम्मनलालेन।"

१० **चंद्रप्रभ**—श्वेत—७ अं०—उपर्युक्त के समान लेख।

११ **अर्हत्**—मूंगावर्ण—८ अं० ,,

१२ **अर्हत्**—हरित पा०—८ अं० ,,

१३ **श्रेयांसनाथ**—श्वेत—७ अं० ,,

१४ **महावीर**—हरित कृ०—७ अं० ,,

१५ **नेमिनाथ**—श्वे०—७ अं० ,,

१६ **चंद्रप्रभ**—श्वे०—१८—"शुभ संवत् १६२० फाल्गुण वदि ३ गुरुवासरे श्रीमूलसंघ बलात्कार-गण सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्याम्नाये श्रीमद्भट्टारक जिनेन्द्रभूषणजिदेवस्तत्पट्टान्वये श्रीमद्भट्टारक महेंद्रभूषण" इत्यादि।

१७ **चंद्रप्रभ**—श्वेत—१८ अं०—लेख पढ़ने में नहीं आता।

१८ ऋषभनाथ—श्वेत—११ अं०—"श्री मूलसंघ बलात्कारगणे श्रीसरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये सं० १६४५ माघकृष्णा २ मम्मनलालेन प्रतिष्ठितं ।"

१९ अर्हत्—हरितकृष्ण—७ अं०—लेख पूर्ववत् ।

२० कुंथुनाथ—श्वेत—८ अं०—लेख पूर्ववत् ।

---

(५) मैनपुरी (कटरा) के दिगम्बर जैन मंदिर में स्थित ताम्रपत्रों की प्रशस्तियां ।

१ षोडशकारणयंत्र—"सं० १५२५ वर्षे चैत्र सुदि ७ श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे श्रीसुभचंद्र देवा तत्पट्टे भट्टारक श्रीनेमिचंद्र देवा तत्पट्टे भ० जिनचंद्रदेव तत्पट्टे श्रीसिंहकीर्तिदेव तदाम्नाये साहु लोणा षोडसकारण यंत्र करापितं । कर्मक्षयनिमित्तं ।"

२ दशलक्षणधर्मयंत्र—"सं० १६४२ वर्षे फाल्गुण सुदि ६ दिने श्रीमत्काष्ठासंघे हेमचंद्र आम्नाये । ब्रह्मदीप तस्य शिष्य—तस्य आम्नाये वासलगोत्रे सा० गुणदास तस्य भार्या जाही इत्यादि ।"

३ सिद्धयंत्र—"सं० १७५२ का वर्ष जेष्ठ वदि ६ शुक्र वासरे श्रीमूलसंघे भं० श्री जसकीर्ति जी देवा भ० श्रीरत्नकीर्ति जी तदाम्नाये खंडेलवालान्वये जोबनपुर वास्तव्ये श्रीविजैसंघ राजेः ।"

४ षोडशकारणयंत्र—"सं० १७८३ वर्षे वैशाख वदि ८ बुधवार श्रीमूलसंघ भट्टारक श्रीदेवेन्द्रकीर्तिस्तदाम्नाये वासपाहकवंट्टे लुहाड्यागोत्रे संघ ही श्री हृदयराम विवि प्रतिष्ठा पं० भामनि ।"

५ षोडशकारणयंत्र—"सं० १६०१ फाल्गुण वदि १० मूलसंघ सरस्वतीगच्छे भ० श्रीपद्मकीर्ति उपदेशात् ज्ञातौ गहतू राजमल सेठ भार्या सावाई पुत्र जगड़ सेठ भार्या शिवबाई सुराव सेठे प्रणमन्ति ।"

नोट—इनके अतिरिक्त इस मंदिर में करीब १००-१२५ यंत्र और हैं जो अभी पढ़े नहीं गये हैं ।

---

(६) मैनपुरी (कटरा) के दिगम्बर जैन मंदिर में विराजमान लिंगचिह्न-सहित प्रतिमाओं का लेखसंग्रह ।

१ पार्श्वनाथ—धातु—६ अं०—"संवत् ११२० ।"

२ चंद्रप्रभ—श्वेतपाषाण—२१ अं०—"सं० १२३४ वर्षे मास कातिक सुदी १ गुरुवासरे भट्टारक आम्नाय सा० बुधमल अग्रवाल गर्गगोत्री प्रतिष्ठाणाम् मंगलाल विमलं अष्टसिद्धि नवनिधिदायक बिंबस्थापनं । गुरु आचार्जकाल ।"

३ **अर्हत् तीन**—(खड्गासन)—धातु—२४ अं०—"सं० १४३७ वैसाख सुदी १० बुधे काष्ठासंघे भ० गुणभद्र जैसवाल सा० सूर्यचन्द्र भार्या नैमा पुत्र श्रवण नैमा कारितम् ।"

४ **अर्हत् तीन**—धातु—४ अं०—"सं० १५०२ ।"

५ **पार्श्वनाथ**—धातु—७ अं०—"सं० १५०२ वर्षे वैसाख सुदी ३ श्रीमूलसंघे भट्टारक श्रीजिनचन्द्र बाकुलिया गोत्रे साहु प्रमसी तत्पुत्र राजदेव नित्यं प्रणमंति ।"

६ **महावीर समवशरण**—धातु—११ अं०—"सं० १५०३ मागसिर सुदी ४ श्रीमूलसंघे भ० श्री पद्मनंदि देवा........।"

७ **चंद्रप्रभ**—श्वेत पाषाण बजनेवाला—३२ अं०—"संवत् १५०६ वर्षे ज्येष्ठ सुदी १५ शुक्रे काष्ठासंघे श्रीकमलकीर्ति देव तदाम्नाये सा० थिरू स्त्री भानदे पुत्र सा० जयमाल जारूहयाले प्रणमन्ति महाराज पुत्र गोशल ।"

८ **शांतिनाथ**—श्वेत पा०—३६ अं०—"सं० १५०९ वर्षे चैत्र सुदी १३ रविवासरे श्री मूलसंघे भट्टारक श्रीपद्मनंदि देवतत्पट्टे श्रीशुभचंद्रदेव तत्पट्टे श्रीजिनचंद्रदेव श्रीद्वीपेग्रामस्थाने महाराजाधिराज श्रीप्रतापचंद्रदेव राज्ये प्रवर्तमाने यदुवंशोलंबकञ्चुकान्वये साधु श्री उद्धर्णस्तत्पुत्र असौ तस्य भार्या मूंगा तत्पुत्र संघाधिपति अघे भार्या मूला पुत्र भोजराज तिन जिनबिंब प्रतिष्ठापए ते नित्यं प्रणमंति ।"

९ **अर्हत् तीन** (खड्गासन)—धातु—१० अं०—"सं० १५१० माघसुदि १३ सौमे श्रीकाष्ठासंघे आ० मलयकीर्तिदेवा तयो प्रतिष्ठितम् ।"

१० **महावीर** समवशरण यक्षयक्षिणी भामंडल आदि-सहित—धातु—१९ अं०—"सं० १५२० वर्षे आषाढ सुदी ७ गुरौ श्रीमूलसंघे भ० श्रीजिनचंद्र तत्पट्टे भ० श्रीसिंहकीर्ति लंबकंचुकान्वये अउली वास्तव्ये साहु श्री दिपौ भार्या इंद्रा सुपुत्र सा० सूर भार्या खेमा द्वि पुत्र सालव भार्या गेमा सुपुत्र......प्रणमंति दृष्टिकापथ प्रतिष्ठितं ।"

११ **चोबीसी पट**—तीन खड्गासन, शेष पद्मासन—धातु—११ अं०—"सं० १५२५ वर्षे चैत्रसुदि ५ सोमवासरे काष्ठासंघे माथुरान्वये भ० समीरसिंहदेव तत्पट्टे हेमकीर्तिदेव...।"

१२ **श्रेयांसनाथ**—धातु—४ अं०—"सं० १५२५ चैत्र शुक्ले ३ बुधे श्रीमूलसंघे श्रीसिंहकीर्ति प० हे० पु० लम्बकञ्चुकाम्नाये सा० मिण्डे भार्या सोना पुत्र सा० जल्लू भार्या मना प्रणमन्ति ।"

१३ **पार्श्व**—"सं० १६८८ वर्षे फाल्गुण सुदि ८ श्रीभट्टारक विजयसतित साछीतरतमव ?"

१४ **अर्हत तीन** (खड्गासन)—धातु—५ अं०—"सं० १५६७......"

१५ **आदिनाथ**—धातु—खड्गासन—१० अं०—"सं० १६२८ वर्षे फाल्गुण सुदी २ श्रीकाष्ठासंघे

भ० श्री भानुकीर्ति तदाम्नाये जैसवाल साह प्रिथी भा० भानी तथा पुत्र विसाद भा० तूरा तयोपुत्र रिषभदास भा० मणिकदेवि साहा नित्यं प्रणमंति ।"

१६ अर्हत्—खड्गासन—धातु—१० अं०—लेखरहित ।

१७ अनंतनाथ—धातु—६ अं०—"सं० १५४५ ज्येष्ठ सुदि ५ श्रीमूलसंघे भ० जिनचंद्राम्नाये मं० ...."

१८ पार्श्व—चत्रादिसहित—धातु—७ अं०—'सं० १६४६..........।"

१९ पद्मप्रभ—श्वेत पा०—२१ अं०—"सं० १५४८ वर्षे वैसाख सुदी २ श्रीमूलसंघे भट्टारक श्रीजिनचन्द्रदेवः स जीवराज पापड़ीवाल नित्यं प्रणमंति शरणं श्रीराजाय ।

२० पार्श्व—धातु—६ अं०—'सं० १५६३ ज्येष्ठ सुदी ३ श्री मूलसंघे ...."

२१ पार्श्व—धातु - ४॥ अं०—"सं० १५३१ मूलसंघे सा०..........."

२२ महावीर—श्वेत पा०—२३ अं०—"सं० १६६२ वर्षे वैसाख वदी २ शुभ दिने श्रीमूलसंघे सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे श्रीकुंदकुंदाचार्यान्वये भट्टारक श्रीअभयचन्द्र देवे तत्पट्टे भ० श्री अभयनन्दुदेव तत्पट्टे आचार्य श्रीरत्नकीर्ति तस्य शिष्याणी बाई वीरमती नित्तं प्रणमति श्री महावीरम् ।"

२३ अर्हत् खड्गासन—धातु—२७ अं०—लेखरहित ।

२४ पार्श्व—कृष्ण पा०—२४ अं०—"सं०......माघ सुदी ३ सोमवार अखंरो महाराजधिराज महाराजा श्री........मानसियो यसकीर्ति तत्सद्मवो दमकीर्ति तस्य प्रधाने (?) सरस्वती देवी......मण्डलाचार्य......गीथा गोत्रे संघई मामसेन—"

२५ नेमिनाथ—श्वेत पा०—३० अं—"सं० १५३७ वैसाख सुदी १० बुधे काष्ठासंघे भ० मलयकीर्ति भ० गुणभद्राम्नाये अग्रोत्कान्वये गोयलगोत्रे सा० राजू भार्या जाल्ही पुत्र छाजू ढूंढा स्त्री घीकी पुत्र कामराज भार्या उदी पुत्र ३ रामचन्द्र चन्द्रपाल जिनदास रामचन्द्र स्त्री चार्मुदे पुत्र ताराचन्द्र वन्द्यम् महाराज श्री कल्याणमल्ल राज्ये ।"

२६ चन्द्रप्रभ—श्वेत पा०—१२ अं०—"सं० १५४६ वर्षे वैसाख सुदी १४ श्री जिनचंद्रदेव सा० जीवराज पापड़ीवाल मूलसंघे सरस्वतीगच्छे......"

२७ चन्द्रप्रभ—श्वेत पा०—१४ अं०—"सं० १५७८ वरष वैसाख सुदी ३ श्रीमूलसंघे श्रीजीवराज पापड़ीवाल......"

२८ आदिनाथ—श्वेत—२८ अं०—लेख पढ़ने में नहीं आता ।

२९ नेमिनाथ—श्वेत—२० अं०—"सं० १५४८ वरषे वैसाष सुदि ३ श्री मूलसंघे भ०——सा० जीवराज पापड़ीवाल नित्यं प्रणमंति ।"

३० **चौमुखी अर्हत्**—खड्गासन—धातु—१० अं०—"सं० १५४६ वैसाष सुदि १२ सोमदिने भिमा माता गदा तसु पुत्र वीधा ......।"

३१ **चन्द्रप्रभ**—श्वेत पा०—१०॥ अं०—"सं० १५४८ वर्षे वैसाष सुदि ३ श्रीभानुचन्द्र भट्टारकजी श्रीजिवराज पापड़ीवाल........"

३२ **आदिनाथ**—श्वेत—२८ अं०—"सं० १५४८ वरषे वैसाष सुदी ३ श्री मुलसंध भट्टारक जी श्रीभानुचन्द्रदेव साह जीवराज पापड़ीवाल नित्यं प्रणमति सहर मुड़ासा श्रीराजा सम्रसंध।"

३३ **अर्हत्**—श्वेत—१० अं०—"सं० १५७७ इत्यादि—"

३४ **अर्हत्**—कृष्ण पा०—४ अं०—"सं० १६६५"

३५ **पार्श्व**—खड्गा० ४ अं—लेखरहित।

३६ **श्रेयांसनाथ** (गैंडा)—श्वेत पा०—३२ अं०—"सं० १६८८ वर्षे फाल्गुण सुदी ८ शनौ श्री मूलसंघे भ० श्रीज्ञानभूषणदेव तत्पट्टे भ० श्री जगद्भूषणदेव तदाम्नाये पुले ज्ञातिये खेमिज गोत्रे साधु तारन तद्भार्या मैना..... भार्या जमुना तत्पुत्र साधु भान तस्य भार्या नरायनदे तत्पुत्र साधु राजाराम खेमकरण एतेषां मध्ये साधु मानो बिम्बं प्रणमन्ति।"

३७ **अर्हत्**—धातु—२३ अं०—यक्षादि चमरछत्रादि-सहित—लेख-रहित।

३८ **अर्हत्**—(खड्गासन)—धातु—३ अं०—लेख-रहित।

(कुल १४० प्रतिमायें हैं, जिनमें ३३ लिङ्गचिह्न-सहित और शेष लिङ्गचिह्न-रहित हैं)

---

(७) मैनपुरी (मुहकमगंज) के दि० जैन पंचायती (बड़ा) मंदिर में विराजमान लिंगचिह्न-सहित प्रतिमाओं पर का लेख-संग्रह।

१ **नेमिनाथ**—कृष्ण पा०—५० अं० ऊंचाई—"श्री सं० १६५२ का मिती माघसुदी ५ काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे लोहाचार्याम्नाये भ० मुनीन्द्रकीर्ति देवस्तदाम्नाये अगरवाल वैश्यवंशे बाबू रामदासजी तत्पुत्रा बाबू छेदीलाल विष्णुचंद्र जी नरोत्तमदासजी श्री जिनमन्दिर पूर्वक श्री जिनबिम्ब प्रतिष्ठा करापिता अंगरेज बहादुर श्रीमती राणी वित्रटूरिया शहंशाह राज्य प्रवर्तमाने शुभम्।"

२ **तीन भगवान** खड्गासन—छत्रसहित—मध्य में शीतलनाथ—इधर उधर नेमिनाथ और अभिनंदननाथ—१३ अं०—"सं० १२१६ माघ सुदी ५ साधु उदयदे पुत्र जयचन्द्र।"

३ आदिनाथ--खड्गासन—धातु—१५ अं०—"सं० १६५५ प्रतिष्ठितम् मैनपुरी।

४ चन्द्रप्रभ—श्वेत पा०—११ अं०—"सं० १५४८ वैसाख सुदी ३ गुरौ मूलसंघे भाटारक श्री श्रीजिनचंद्रदेव सा० जीवराज पापड़ीवाल ....।"

५ पार्श्व—श्वेत पा०—१८ अं०—"सं० १५४८ वैसाख सुदी ३ गुरौ मूलसंघे भट्टारक श्री श्री जिनचंद्र देव सा० जीवराज पापड़ीवाल ....।"

६ पार्श्व—धातु—११ अं०—यत्रादिसहित—'सं० १३४६ चैत्र सुदी १३......चैत्र सुदी १३............मूलसंघे श्रीमालवंशे साधु विहु ॐ राज्ये प्रतापचन्द्र दहउपसंघा।"

७ पार्श्व—धातु—१० अं० —"सं० १५२८ वर्षे वैसाख सुदी ७ श्रीमूलसंघे भ० श्री जिनचंद्र तत्पट्टे श्री सिंहकीर्त्तिदेव महिमवंश साधु होसार्णदेवास्तत्पुत्र.........."

८ अजितनाथ समूह यत्रादि-सहित—धातु—११ अं० - "सं० १५५५ जेष्ट सुदि ५ गुरौ श्रीकाष्टासंघे भ० मलयकीर्तिदेवास्तदाम्नाये अग्रोतक मीतल गोत्रे साहु भरेल.......... प्रणमन्ति।"

९ अर्हत्—खाकी पाषाण—१४ अं०—"सं० १३१४ ...."

१० अर्हत्—चौमुखी—धातु—७ अं०—"सं० १५२१ वर्षे मूलसंघे.........."

११ अर्हत्—चौमुखी—धातु—७ अं०—"सं० १५४१ वर्षे असौजसुदो १२ साधु पं० इन्द्रलाल।"

१२ पार्श्वनाथ—श्वेत—२० अं०—"सं० १५४८ वर्षे वैसाख सुदो ३ श्री मूलसंघे भट्टारकजी श्रीजिनचंद्रदेवा साह जीवराज पापड़ीवाल नित्यं प्रणमंती सा० धरमदास श्री राजा सो संघ।"

१३ पार्श्व—मंदिर सहित—धातु—२ अं०—"सं० १७१० वर्ष माघ सुदी ५ श्रीमूलसंघे भट्टारक श्री नन्ददेव।

१४ पार्श्व—स्फटिक—१॥ अं०—लेखरहित।

१५ पार्श्व—श्वेत—२० अं०—"सं० १५४८ वर्षे वैसाष सुदी ३ श्री मूलसंघे श्रीभट्टारक श्री मूलसंजे श्री भट्टारक श्री जिनचंद्रदेवा साहु जीवराज पापड़ीवाल नित्यं प्रणमंति।

१६ पार्श्व—धातु—४॥ अं०—"सं० १५५२ मावसुदो—श्रीपार्श्वनाथ।"

१७ चन्द्रप्रभ—धातु—१० अं० —"सं० १५४२ वर्षे वैसाष सुदो ३ वासरे चलचन्द्र राजा सौसिंह राजा सिवसिंह के राज्य में जीवराज पापड़ीवाल साधे"

१८ अर्हत्—खड्गासन—धातु—लेखरहित।

१९ अर्हत् चतुर्मुख समंदिर—खड्गासन—धातु—११ अं०—"सं० १६३६ माघ सुदी १० भ० राजेन्द्रकीर्ति तदाम्नाये मुनीश्वरदासेन प्रतिष्ठितं छपरानगरे।"

(कुल २१ प्रतिमाओं में से २६ में लिङ्गचिह्न व्यक्त है)



THE JAINA ANTIQURY

An Anglo-Hindi quarterly Journal,

Vol. I.] September, 1935. [No. 2.

Editors:

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B., P.E.S.,
Professor of Sanskrit,
King Edward College, **Amraoti**, C. P.

Prof. A. N. UPADHYE, M.A.,
Professor of Prakrata,
Rajaram College, **Kolhapur**, S.M.C.

B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.,
Aliganj, Distt. Etah, U.P.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI,
Librarian,
The Central Jaina Oriental Library, **Arrah.**

Published at

THE CENTRAL JAIN ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription:

Inland Rs. 4. **Foreign Rs. 4-8.** **Single Copy Rs 1-4,**

Om.

THE

JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्या द्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयातते त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. I. No. II | ARRAH, (INDIA) | September, 1935.

WHO WAS THE FOUNDER OF JAINISM?

(By Kamta Prasad Jain, M.R.A.S.)

A right answer of the question, given above as title, is yet to be searched and worked out; since the theory given as an established fact in the Text Books of Indian History of our schools and colleges, besides the general books on the subject, is that most probably the founder of Jainism was *Parsvanatha*, whom the Jainas regard as their 23rd *Tirthankara*[1]. This proposition is far from the truth. There was a time when European scholars regarded Jainism to be a religion of medieval advent, and then others came forward to call it an off-shoot of Buddhism[2]. But

1. " Most probably *Parsva*, the 23rd *Tirthankara* was the founder of Jainism."
—Encyclo : of Religion and Ethics, vol. VII p. 465.

" *Parsva*.........was indeed the Royal founder of Jainism."
—Harmsworth's History of the world, II, p. 1198.

Oxford Students History of India, p. 43; Early History of India, p. 31; Cambridge History of India, vol. I pp. 153 154, etc., etc.

2. Elphinstone,| History of India, p. 27 and 122. Barth, Wilson, etc., quoted in the " Jaina *Itihasa* Series, No. I."—p. 6.

their opinions, though honest, were not based on sound knowledge and so could not stay long. Soon after came Prof. Jacobi in the field and studied Jaina Canonical books along with the Buddhist Suttas and he proclaimed for the first time the authenticity of Jainism as an independent and pre-Buddhistic religion[1]. He however, regarded *Parsva* as an historical person and founder of Jainsim quite wonderfully ; but at the very time he had to remark also that :—

> " But there is nothing to prove that *Parsva* was the founder of Jainism. Jaina tradition is unanimous in making Rishabbha, the first *Tirthankara* (as its founder)...... ..There may be something historical in the tradition which make him the First *Tirthankara*[2]. "

Unfortunately, inspite of this clear statement that no evidence is available to displace Jaina tradition of the first *Tirthankara* as its founder in this cycle of time, the queer view has come to be held that *Parsva* is the founder of Jainism. The main reason for the prevalance of this view is perhaps the hoary antiquity of Rishabhadeva, the first *Tirthankara*, which makes it not an easy task to believe the tradition at all. His life time goes most anterior to that of *Rama* and *Lakshamana* and the history of India has been also assumed to begin with the 8th. or 10th. century B.C. But how this assumption can be relied upon now, when the literary and moreover epigraphical evidence is available to push back the beginning period of the ancient history of India not only by decades but by centuries ? The Jaina and Buddhistic literatures of the Mauryan period and the antiquities of Mohenjo-Daro and Harappa cannot be overlooked in this respect. Recently it has been pointed out by Prof. Pran Nath of the Hindu University, Benares, that a copper-plate grant belonging to the period of Babylonian ascension mentions the name of Nemi, the 22nd. *Tirthankara* of the Jainas*. It means that the real history of India and the beginning of Jainism go back anterior to the 10th. century B.C.

Under the circumstances, sound scholarship demands a review of the ancient traditions of our *Puranas* with more reliability, and, as such, we cannot be justified in passing the great personality of Rishabha as a myth only, and proclaiming *Parsva* as the founder of Jainism ! Rather

1. Jaina Sutras, S. B. E. XLV, Intro : p. XXI. f f.
2. Indian Antiquary, vol. IX p. 163.

* " Dr. Pran Nath, Professor of the Hindu University, Benares, has been able to decipher the copper-plate grant of Emperor Nebuchandneyyar I (Circa 1140 B. C.) or II (Circa 600 B.C.) of Babylon, found recently in Kathiawad. The inscription is of great historical value.........It may go a long way in proving the antiquity of the Jaina religion, since the name of Nemi appears in the inscription."—Times of India, 19th March 1935, p. 9.

the Jaina and non-Jaina literary and epigraphical evidences establish it beyond doubt that there had been a real person of the name of Rishabha in ancient India, who was in fact the founder of Jainism in this cycle of time, as we shall see below :

In the Jaina literature, the *Agama* (Canonical) texts of the *Swetambara* sect are regarded by a certain scholar of the type of Jacobi as belonging to the Mauryan period * & they clearly narrate† the life of Rishabha & name him as the first *Tirthankara* of the Jainas. Similarly the available *Agama* (canonical) portion and the other texts of the first century B.C. of the Digambara sect mention this great Hero in the same way[1].

In the non-Jain literature our eyes naturally turn to the Vedic literature, and we find mentioned in a work of no less importance than the Rigveda itself the name of Rishabha[2] ; but scholars doubt and say that there is nothing to show that he was a Jaina Tirthankara[3]. Of course *Sayana* and other commentators of the said Veda undoubtedly establish it to be a personal name, but they are also not clear as to the identity of the person named[4], and it seems that either they had no knowledge of him, or they did not want to disclose it owing to religious animosity, which indeed made many alterations and additions in the Vedas[5]. But to remove our gloom of ignorance at this place the Hindu Puranas come to our rescue and they give, one and all, the same story of Rishabhadeo as is found in the Jaina Literature[6]. Then, why not should we regard

---

* Jaina *Sutras*, S. B. E., Introduction

† *Acharanga* Sutra ; Kalpasutra, S. B. E pp. 252-53, *Samavayanga* – Sutra.
—(Hyderabad ed) pp. 97—194.

1. जयधवला — महाधवला — प्रवचनसार आदि ।

2. ऋषभं मासमानानां सपत्नानां विषा सहिं । हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपितं गवाम् ॥

ऋग्वेद १०।१२।१६६

3. Historical Gleanings p. 76.
4. *Sarvanu kramanika*, (London) p. 164.
5. Pargiter, A. I. H. T., p. 11 & Asur India, Intr. iv.
6. *cf*. Jain account of Rishabha (*Harivamsa* 8. 55—154) with the following quotations from the Hindu *Puranas* :—

"अष्टमे मरुदेव्यांतु नाभेर्जात उरुक्रमः । दर्शयन्वर्त्मधीराणां सर्वाश्रम नमस्कृतः ॥१३॥ इत्यादि"

—भागवत प्रथम स्कन्ध ३० अ०

मार्कण्डेयपुराण अ० ५० पृष्ठ १५०; कूर्मपुराण अ० ४१ पृष्ठ ६१; अग्निपुराण अ० १० पृष्ठ ६२; गरुडपुराण अ० १ पृ० १

"नाभे निसर्गं वक्ष्यामि हिमोह्रऽस्मिन्निबोधत । नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युति ॥५६॥
ऋषभपार्थिव श्रेष्ठ सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् । ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ॥६०॥
सोभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्रव्रज्या स्थितः । हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरतायन्यवेदयत् ॥६॥

ब्रह्माण्डपुराण १४ अ०

Rishabha of the Vedic text to be that of the Jaina literature? Moreover when the Vedic commentator insists on the elucidation of Vedic tradition with the help of traditional history in the Epics and the *Puranas*[1], it is but natural for us to regard the Vedic Rishabha to be the son of Patriarch *Nabhi* and his wife *Marudevi* and the founder of Jainism in this cycle of time. This agreement of the Jaina and the Brahmanical texts is so striking and singular that we cannot deny its validity[2], and, moreover, there are Vedic scholars like Prof. Virupaksh Wadiyar, M.A., Veda-Tirtha and others who clearly express that Rishabha of the Rigveda hymn is the same as the first Tirthankara of the Jainas[3].

Likewise the epigraphical evidence also bears testimony to the real personality of Rishabhadeva. Most ancient Mohanjo Daro seals may be pointed out in this respect; the nudity and the pose of eyes of the figures engraved on them [4] are the characterising elements and marks of the Jain images. Rai Bahadur Ramprasada Chanda, M.A., remarks rightly about them :—

> "Yoga or religious meditation is the common element of all historic Indian religions with the exception of Vedic ritualism.........The *Kayotsarga* (dedication of the body) posture is peculiarly Jaina. It is a posture not of sitting, but of standing. In the *Adipurana* (XVIII) *Kayotsarga* posture is described in connection with the penances of Rishabha or Vrishabh, the first Jina of the Jainas.........Not only the seated deities engraved on some of the Indus seals are in Yoga posture and bear witness to the prevalence of Yoga in the Indus valley in that remote age, the standing deities on the seals also show *Kayotsarga* posture of Yoga described above.........A standing image of Jina Rishabha is in *Kayotsarga* posture on a stelle.........in the Curzon Museum, Mathura......It will be seen that the pose of this image closely resembles the pose of the standing deities on the Indus seals. The name Rishabha means bull and the bull is the emblem of Jina Rishabha. The standing deity figured on seals 3 to 5 may be the proto-type of Rishabha."[5]

---

1. Asur India, Int. IV.

2. Prof. Stevenson remarked : "It is so seldom that Jainas and Brahmanas agree, that I do not see how we can refuse them credit in this instance, where they do so."—*Kalpasutra*, Intro. XVI.

3. जैनपथप्रदर्शक भाग ३ अंक ३ पृष्ठ १०६ ।

4. Mohenjo Daro, I, 52—78.

5. Modern Review, Aug. 1932 pp. 156—159.

There is not only the resemblance of Jaina image of Rishabha, the first Jina, with the figures on the Indus seals, but certain seals bear an inscription, which Prof. Pran Nath reads as Jineshwara.[1] It is enough to prove the authentic antiquity of the Jaina tradition of Rishabhadeva.

Besides it, the ancient Hathi *Gumfa* inscription of king *Kharvela* mentions clearly an image of Agra Jina (*i.e.*, the first Jina : Rishabha) which was a national asset of the Kalinga people and was taken away to Magadha by a Nanda King[2].

It means that the tradition of Rishabhadeva is more ancient than that of Nanda period. The religious votaries of the times of Buddha and *Mahavira* no doubt regarded Rishabha as a real person and worshipped his images.

The images of Rishabhadeva and other Jaina deities bearing inscriptions dedicated to Rishabha in the Curzon Museum, Muttra, and excavated from Kanka li Tila also prove this very thing. There were images of Jinas engraved on the plane of that Stupa which was regarded in the Indo-Scythian period, as the work of Devas and which Profs. Bulher and Smith assigned to the time of *Parsvanatha i.e*, 8th. century B.C. This evidence pushes back the Jaina tradition of 24 *Tirthankaras* including Rishabhadeva far anterior to Nanda and *Mahavira's* time.

Now, if Rishabha was not a real personage, there is no reason why some people of ancient India should make and worship his images and dedicate inscriptions to him.

Hence, we should regard Rishabha as a real personage, and as the founder of Jainism in this cycle of time.

---

1. IHQ. Vol. VIII No. 2 Suppl.
2. JBORS. III 465–67.
3. Jain Stupa and other Anti: of Muttra.

MATHEMATICS OF NEMICANDRA

(By Bibhūtibhūṣaṇa Datta)

Nemicandra's Time and Place

Acārya Nemicandra Siddhānta-cakravartī was a contemporary of celebrated Cāmuṇḍarāya (or Cāmuṇḍarāja), a profound scholar, a brave general and a great statesman. Cāmuṇḍarāya was minister of King Mārasiṁha II (died 975 A. C.) and also of his descendent King Rācamalla (or Rājamalla) II (died 984 A. C.) of the Gaṅga Dynasty of the West. During the reign of the former he won several great battles. With the advance of age, Cāmuṇḍarāya devoted himself more and more to religion and became one of the greatest promoters of Jainism. Though a disciple of the venerable Saint Ajitasena, he was much devoted also to Nemicandra. In the *Gommaṭa-sāra* of Nemicandra, we find appreciative mentions of Cāmuṇḍarāya. In fact, as has been attested by its commentator, Abhayacandra Traividya-cakravartī, Nemicandra composed that work by way of discourses on scriptures to Cāmuṇḍarāya and in answer to questions put by him. In the same way Nemicandra wrote another work, *Triloka-sāra* by name, so we are informed by his chief disciple, Mādhavacandra Traividyadeva, in his commentary on the work. According to the *Bāhubali-carita* (1614), Nemicandra accompanied Cāmuṇḍarāya on a pilgrimage to the image of Gommaṭeśvara at Podanapura and in obedience to his command the latter erected on the Vindhyagiri at Śravaṇa Belgola (Mysore) a colossal image of Bāhubali (more commonly known as Gommaṭasvāmī or Gommaṭeśvara), the biggest and most ancient of the three Jain statues (of about $56\frac{1}{2}$, $42\frac{1}{2}$ and 35 feet in height) which "are amongst the wonders of the world" and "undoubtedly the most remarkable of the Jain statues and the largest free-standing statues in Asia." This image was completed in 980 A.C.[1]

1 See the Introduction (pp. xxvff) of Sarat Chandra Ghoshal to his edition of the *Dravya-saṁgraha*, with the commentary of Brahmadeva, English translation, notes and an original commentary (in English) by himself, Arrah, 1917.

Cāmuṇḍarāya wrote three books, *Cāmuṇḍarāya Purāṇa*, *Cāritra-sāra* and a commentary (in Kanarese language) of the *Gommaṭasāra* of Nemicandra. From the colophon of the first work we learn that it was completed in the Śaka year 900 (= 978 A.C.). Thus it is found that Ācārya Nemicandra lived about 980 A.C.

Ācārya Nemicandra was a disciple of Ācārya Abhayanandi and belonged to the *Deśīya Gaṇa* of the Jainas. This' sect flourished mainly in the Karṇāṭaka. So it is very likely that Nemicandra came from that part of Hindusthan. That was indeed the field of his activity.

Nemicandra's Works

Scholars have differred about the works of Ācārya Nemicandra Siddhānta-cakravartī. The author of the *Bāhubali-carita* has attributed to him only three works namely the *Gommaṭasāra*, *Labdhisāra* and *Trilokasāra*. There are internal as well as external evidences to prove that these three works were truly composed by our author. So there cannot and, indeed, has not been, any difference of opinion about them. Unfortunately, we cannot be as sure about others. According to Sarat Chandra Ghoshal,[1] followed by J. L. Jaini,[2] he wrote two other works, *Dravyasaṁgraha* and *Kṣapaṇasāra*, probably also *Pratiṣṭhāpāṭha*. Babu Jugalkisore [3] doubts if Muni Nemicandra, the author of the *Dravyasaṁgraha*, can really be identified with Nemicandra Siddhānta-cakravartī, the author of the *Gommaṭasāra*, on the ground of certain difference, pointed out by him, between the philosophical ideas profounded in these two works. In his commentary on the *Dravyasaṁgraha*, Brahmadeva states that Muni Nemicandra stayed for some times in the temple of Tīrthaṅkara Muni Subrata in the town of Āśrama, the capital of Śrīpala, a

1 Loc cit., pp. xxixff.

2 *Gommaṭasāra, Jīvakāṇḍa*, edited with English translation and notes by J. L. Jaini, Lucknow, 1927; Introduction, p. 9.

3 *Trilokasāra* with the commentary of Mādhavacandra Traividyadeva, edited by Pandit Manoharalal Sastri; Introduction, p. 10.

chieftain of the famous King Bhoja of Dhārā (in Malwa). He then composed a short treatise of twenty-six verses, entitled *Laghu Dravyasaṁgraha*, for a merchant named Soma and subsequently enlarged it into *Bṛhad-Dravyasaṁgraha*. Our author lived long before the time of King Bhoja. The present article on the mathematics of Nemicandra Siddhānta-cakravartī is based wholly on materials furnished by his *Gommaṭasāra* and *Trilokasāra*. So the difference of opinions about his other works just noted does not affect us in the least. It may be mentioned by the way that there is nothing of mathematical interest in the *Dravyasaṁgraha*.

Nemicandra as mathematician

Except the *Trilokasāra* which treats of the cosmography of the Jainas, other works of Nemicandra are devoted to the Jaina philosophy. As is shown by his title, *Siddhānta-cakravartī* ("Paramount Lord in the *Siddhāntas* or Jaina Scriptures"), Nemicandra was highly learned in Jaina Scriptures and is still recognised by all as a great authority on them. It appears that he had a fair knowledge also of mathematics. He is found to have employed the law of indices, summation of series, mensuration formulœ for a circle and its segment, and permutations and combinations. It is true that most of those results were not new but were known to the anterior Hindu mathematicians. But if we remember that Nemicandra was essentially a philosopher and a saint, the so much knowledge of an abstruse secular science, as displayed by him, will appear very commendable. Some of his results in combinations we have not so far found in any Hindu work before the fourteenth century of the Christian era.

Arithmetical Notations

From early times there were devised in India various methods for expressing numbers, such as by means of (1) names of things,[1]

1 For a comprehensive account of the nominal notation or word numerals see the following articles of the author: "Śabda-saṁkhyā Praṇālī" in the *Baṅgiya Sāhitya Pariṣad Patrikā*, 1335 B. S. (=1928-29 A.C.), pp. 8-30 "Nāma-saṁkhyā," *Ibid*, 1337 B.S., pp. 7-27.

(2) letters of the alphabet,[1] (3) tychæographic abbreviations of number names or expressions, and (4) special symbols. Again in writing in decimal notation a number chronogram in nominal notation (*Nāma saṁkhyā*) or in alphabetic notation (*Akṣara-saṁkhyā* or *Varṇa-saṁkhayā*), having the place-value, the leftward move (*vāmā-gati*) was followed.[2] Occasionally, however, we meet with instances, especially in the writings of the early Jaina scholars, in which the rightward move (*dakṣinā-gati*) has to be adopted.[3] Nemicandra has employed most of these notations. For instance, the number 197,912,092,999,680,000,000,000,000,000, 000,000,000,000,000, is stated as

> "विधुणिधिणगणवरविणभणिधिणयणवलद्धिणिधि खरद्दत्थी ।
> इगितीसद्दुयण सहिया..."[4]

Here the rightward move is followed. But in "पयणसमेकद्दालं णवद्धण्प-यणसहुयणणवसद्दरी"[5] = 7905694150, the leftward move has to be adopted.

For the alphabetic notation, he has applied the *Kaṭapayādi* system in its second variant. For example, we find

> "तललीनमधुगविमलं धूमसिलगाविचोरभयमेरू ।
> तटहरिखझसा "[6]

= 79,228,162,514,264,337,593,543,950,356 with the leftward move, and

---

1 For a compresensive account of the alphabetic notation see the writer's articl "Akṣara-saṁkhyā Praṇālī," in the *Baṅgīya Sāhitya Pariṣad Patrikā*, 1336 B.S., pp. 22—50.

2 Bibhutibhusan Datta, "Aṅkānāṁ vāmato gatiḥ," *Baṅgīya Sāhityā Pariṣad Patrikā*, 1337 B.S., pp. 70—80.

3 Bibhutibhusan Datta, "Jaina-sāhitye nāma-saṁkhyā," *Baṅgīya Sāhitya Pariṣad Patrikā*, 1337 B.S., pp. 28—39.

4 *Trilokasāra*, Gāthā 21.

5 *Ibid*, Gāthā 313.

6 *Gommaṭa-sāra, Jīvakāṇḍa*, Gāthā 158.

" वटलवणरोचगोनगनजरनगंकाससमघमपरकधरं ।
विगणणवसुगणसहिदं ..."[1]

$=413,452,630,308,203,177,749,512,192,000,000,000,000,000,000$ with the rightward move. This way of expressing numbers by contrary moves without clearly indicating which move should be adopted in a particular instance introduces a good deal of uncertainty in the arithmetical notation.

The number 65,536 is denoted by the abbreviation पगणड्डी of its full expression " पण्णट्ठीपंचसयाछत्तीसा ;" 4,294,967,296 by बादालं from "बादालं चउणउदी छगएउदि विहत्तरीयछगणउदी"; and 18,446,744,073,709,551,616 by the abbraviation एकट्ठ of

" एकट्ठचचउछस्सत्तयं च च य सुगणसत्ततियसत्ता ।
सुगणं णव पण पंच य एक्कं छक्केकगो य छक्कं च ॥"[2]

Law of Indices

Before stating Nemicandra's definition of the Law of Indices, we should explain the technical terms employed therein. If $N=2^n$, then n is called the *ardhaccheda* of N. The term *ardhaccheda* is derived from *ardha* = "half," *cheda* = "divisor" and it means "the number of times that a particular number can be halved." Sometimes the word *ardha* is deleted, and we have simply the term *cheda*.[3] In general, if $N=x^n$ then n will be the *cheda* of N with regard to the base x. If $N=2^{2^{n'}}$ then n' is called the *ardhaccheda* of the *ardhaccheda* of N.

Nemicandra gives the following rules :

"The *ardhaccheda* of the multiplier plus the *ardhaccheda* of the multiplicand is the *ardhaccheda* of the product: it has no more *cheda*."[4]

$$2^m \times 2^n = 2^{m+n}.$$

1 *Trilokasāra*, Gāthā 98. 2 *Ibid*, Gāthā 66. 3 *Trilokasāra*, Gāthā 8.
4 *Ibid*, Gāthā 105.

"The *ardhaccheda* of the dividend minus the *ardhaccheda* of the divisor is always the *ardhaccheda* of the quotient."[1]

$$2^m \div 2^n = 2^{m-n}.$$

"The distributed number multiplied by the *ardhaccheda* of the substituted number will always give the *ardhaccheda* of the resulting number."[2]

If the number M be distributed into its units and each unit be then substituted by the number N the resulting number R will be

$$R = N^M$$

Now if $N = 2^n$, then

$$R = 2^{nM}$$

as stated in the rule.

"The *ardhaccheda* of the distributed number added with the *ardhaccheda* of the substituted number is the *varga-salākā* of the resulting number."[3]

$$\left(2^{2^n}\right)^{2^m} = 2^{2^{n+m}}$$

Thus Nemicandra knew fully the Law of Indices.

$$x^m \times x^n = x^{m+n}, \; x^m \div x^n = x^{m-n},$$
$$(x^m)^n = x^{mn}$$

Series

Nemicandra distinguishes fourteen kinds of series (*dhārā*) :[4]

(1) *Sarva-dhārā* ("general series" of natural numbers),
1, 2, 3, 4, ..., n, ...

(2) *Sama-dhārā* ("even series"),
2, 4, 6, 8, ..., $2n$, ...

(3) *Viṣama-dhārā* ("odd series"),
1, 3, 5, 7, ..., $(2n-1)$, ...

1 *Ibid*, Gāthā 106. 2 *Ibid*, Gāthā 107. 3 *Ibid*, Gāthā 108.
4 *Trilokā sāra*, Gāthās 53-66, 77-88.

(4) *Kṛti-dhārā* ("square series"),

$1, 4, 9, 16, \ldots$

or

$1, 2^2, 3^2, 4^2, \ldots, n^2, \cdots$

(5) *Akṛti-dhārā* ("non-square series"),

$2, 3, 5, 6, 7, 8, 10, \ldots$

(6) *Ghana-dāhrā* ("cubic series"),

$1, 27, 64, \ldots$

or

$1, 2^3, 3^3, 4^3, \ldots, n^3, \ldots$

(7) *Aghana-dhārā* ("non-cubic series"): If from a series of natural number, the cubic numbers be omitted, we get a series of this kind.

(8) *Vargamātṛkā-dhārā*,

$1, 2, 3, 4, \ldots, \sqrt{N}.$

(9) *Avargamātṛkā-dhārā*,

$\sqrt{N}+1, \sqrt{N}+2, \sqrt{N}+3, \ldots, N$

(10) *Ghanamātṛkā-dhārā*,

$1, 2, 3, 4, \ldots \sqrt[3]{N}$

(11) *Aghanamātṛkā-dhārā*,

$\sqrt[3]{N}+1, \sqrt[3]{N}+2, \ldots N.$

(12) *Dvirūpāvarga-dhārā*

$4, 16, 256, 65536, \ldots$

or

$2^2, 2^4, 2^8, 2^{16}, \ldots 2^{2^n}, \cdots$

(13) *Dvirūpaghana-dhārā*,

$8, 64, 4096, \ldots$

or

$$2^3, 2^6, 2^{12}, \ldots, 2^{3 \cdot 2^{n-1}}, \ldots$$

(14) *Dvirūpaghanāghana-dhārā*,

$$8^3, 8^6, 8^{12}, \ldots$$

or

$$2^9, 2^{18}, 2^{36}, \ldots, 2^{3^2 \cdot 2^{n-1}}, \ldots$$

The subject of series is stated to have been treated comprehensively in a special treatise entitled *Vṛhaddhārāparikarma* ("Great Treatise on the Operations of Series"). Nemicandra has referred his more enthusiastic readers to that treatise for fuller informations on the subject, he having noted only a small portion of it suitable for his practical purpose.[1] No such treatise is available now. It is lost.

Arithmetical Progression. Nemicandra says:

"Multiply the number of terms as diminished by unity by the common difference. The product added with the first term gives the last term, and when subtracted from the last term yeilds the first. Half the sum of the first and last terms multiplied by the number of terms becomes the sum of the series."[2]

Let a=the first term, l=the last term, b=the common difference, n=the number of terms and S_n=the sum of a series in arithmetical progression; then the rule says,

$$l=a+(n-1)b,\ a=l-(n-1)b$$
$$S_n=\tfrac{n}{2}(a+l).$$

"The number of terms is diminished by unity and then divided by two and multiplied by the common difference. Add the result to the first term and multiply the sum by the number of terms. Know the product to be the sum of the series."[3]

$$S_n=n\left\{a+\left(\tfrac{n-1}{2}\right)b\right\}.$$

1 *Trilokasāra*, Gāthā 91. 2 *Ibid*, Gāthā 163. 3 *Ibid*, Gāthā 164.

To find the number of terms of a series in A.P. whose first and last terms are known as well as the common difference, Nemicandra gives the formula,[1]

$$n = \frac{l-a}{b} + 1$$

Geomteric Progression. To find sum of a series in geometric progression (*guṇa-dhārā*), Nemicandra describes the following rule :

"Multiply mutually as many common ratios as there are number of terms in the series; the product is diminished by unity and then divided by the common ratio minus one and multiplied by the first term: the result is the sum of the series in geometric progression." [2]

Algebraically

$$S = a\left(\frac{r^n - 1}{r - 1}\right),$$

where a = the first term of a series in G.P., r = the common ratio and S = the sum.

Examples from Nemicandra :[3]

$$(1+2^2+2^3+\ldots+2^n)a = (2^{n+1}-3)\,a\,;$$

$$A = \frac{p}{10} + \frac{p}{10^2} + \frac{p}{10^3} + \ldots + \frac{p}{10^n}$$

$$= \frac{p}{9}\left(1 - \frac{1}{10^n}\right),$$

$$= \frac{p}{9} \text{ (a little less than)};$$

$$A' = \frac{p}{80} + \frac{p}{800} + \ldots,$$

$$= \frac{p}{8.10} + \frac{p}{8.10^2} + \ldots + \frac{p}{8.10^n},$$

$$= \frac{p}{72}\left(- \frac{1}{10^n}\right),$$

$$= \frac{p}{72} \text{ (a little less than)}.$$

1 *Ibid*, Gāthā 57. 2 *Trilokasāra*, Gāthā 231. 3 *Ibid*, Gāthās, 796—7.

Mensuration Formulae

Circle. Nemicandra says :

"The circumference of a circle is grossly equal to three times its diameter ; and neatly it is the square-root of ten times the square of the diameter. The quarter of the diameter multiplied by the circumference gives the accurate area."[1]

If C denote the circumference of a circle, d its diameter and A the area then

$$C \text{ (gross)} = 3d, \quad C \text{ (neat)} = \sqrt{10d^2}, \quad A = \tfrac{1}{4}Cd.$$

For calculating the neat value (*sūkṣmaphala*) of the circumference and of the area of the Jambudvīpa the second formula has been employed.[2] It has been stated that if r be the radius of a circle equivalent to a square of side a, then[3]

$$r = \frac{9}{16}a$$

Whence we shall have

$$\pi = \left(\frac{16}{9}\right)^2.$$

Circular Annulus. In the Jaina cosmography, the earth is supposed to be a flat plane divided into successive regions of land and water by a system of concentric circles. The innermost region is one of land, called Jambudvīpa. Its diameter is 100000 *yojana*. Breadths of the successive annular regions are stated to be increasing by multiples of 2. Now if $b_1, b_2, b_3, \dots$ denote the breadths and $d_1, d_2, d_3, \dots$ the corresponding diameters of outer edges, then we shall have

$$b_1 = 100000 \text{ } yojana = a, \text{ say}$$
$$b_2 = 2a, \quad b_3 = 2^2a, \dots, b_n = 2^{n-1}a \text{ ;}$$

and

$$d_1 = a,$$
$$d_2 = (1 + 2^2)a,$$

1. *Trilokasāra*, Gāthā, 311. See also Gāthās 17, 96.

2. *Ibid*, Gāthās 312-13.

3. *Ibid*, Gāthā 18.

$d_3 = (1 + 2^2 + 2^3)a,$

....

$d_n = (1 + 2^2 + 2^3 + \ldots + 2^n)a = (2^{n+1} - 3)a.$

So Nemicandra writes :

" Multiply as many twos as equal to the number (of regions) decreased and also increased by unity; then multiply the results by 100000. Subtract from the products zero and 300000 (respectively). The results will be the breadth and diameter (respectively) of the outer region." [1]

He has further stated that the diameter of the outer edge of the nth region $= 4b_n - 3a$, that of its inner edge $= 2b_n - 3a$ and mean diameter $= 3b_n - 3a$.[2]

" The two values of the circumference of the Jambudvīpa being multiplied by the diameter of any desired land or sea and divided by the diameter of the Jambudvīpa, will give the two values of the circumference of that land or sea."[3]

" Multiply the sum of the outer and inner edges of an annulus by half its breath and set down the results at two places. Multiply it (at one place) by 3 and (at another place) by $\sqrt{10}$. The products will be (respectively) the gross and neat values of the area of the annulus."[4]

That is to say, if C_1, C_2 be the inner and outer circumferences of a circular annulus of breadth b and d_1, d_2 be the corresponding diameters, we shall have

$$C_1 : C_2 = d_1 : d_2$$

Gross area of the annulus $= \frac{3}{2}(d_1 + d_2)b$,

Neat area of the annulus $= \frac{\sqrt{10}}{2}(d_1 + d_2)b$.

Segment of a Circle. For the mensuration of a segment of a circle, Nemicandra gives the following rules :[5]

---

1. *Ibid*, Gāthā 309. It should perhaps be noted that the breadth of an annulus (b) is called *valaya-vyāsa* and the diameter of its edge (d) the *sūcī-vyāsa*.

2 *Ibid*, Gāthā 310. 3 *Ibid*, Gāthā 314. 4 *Ibid*, Gāthā 315.

5 *Trilokasāra*, Gāthās 760—766.

"The diameter as diminished by the arrow being multiplied by four times the arrow becomes the square of the chord. Six times the square of the arrow being added by that becomes the square of the arc.

"The square of the chord being added by four times the square of the arrow and then divided by four times the arrow gives as a rule the diameter of the circle.

"A quarter of the product of the chord and arrow, and half the sum of the chord and arrow being multiplied respectively by $\sqrt{10}$ and the arrow give the gross and neat values of the area of the segment.

"The square of the chord being increased by the square of twice the arrow and divided by four times the arrow becomes the diameter. The difference of the squares of the chord and arrow is divided by six; the square-root of the result is the arrow.

"Subtract the square-root of the difference of the squares of the diameter and chord from the diameter. Know that half the remainder is the arrow.

"The square of the arc as divided by the twice the arrow is diminished by the arrow: half the remainder is the diameter. Diminish by the diameter the square-root of the square of the diameter as added by half the square of the arc: the remainder will be the arrow.

"The sum of the diameter and half the arrow being multiplied by four times the arrow gives the square of the arc. On subtracting six times the square of the arrow from that is obtained the square of the chord."

If c=chord, h=arrow, a=arc and A'=area of a segment of a circle of diameter d, we shall have the formulae.

$$(i) \quad c^2 = 4h(d-h),$$

$$(ii) \quad a^2 = 6h^2 + c^2,$$

$$(iii) \quad d = \frac{c^2 + 4h^2}{4h},$$

$(iv)\quad A' = \frac{\sqrt{10}}{4} ch$ grossly,

$(v)\quad A' = \frac{1}{2}(c+h)h,$ neatly.

$(vi)\quad d = \frac{c^2 + (2h)^2}{4h},$

$(vii)\quad h = \sqrt{\frac{a^2 - c^2}{6}},$

$(viii)\quad h = \frac{1}{2}\left(d - \sqrt{d^2 - c^2}\right),$

$(ix)\quad d = \frac{1}{2}\left(\frac{a^2}{2h} - h\right).$

$(x)\quad h = \sqrt{d^2 + \frac{1}{2}a^2} - d,$

$(xi)\quad a^2 = 4h(d + \frac{1}{2}h),$

$(xii)\quad c^2 = a^2 - 6h^2,$

Most of these formulæ were known before Nemicandra. (*i*), (*ii*)=(*xii*), (*iii*)=(*vi*), (*vii*), (*viii*) are as old as the early Jaina canonical works (500—300 B.C.).[1] So far as known the formula (*iv*) was first given by Jinabhadra Gaṇi (529—589 A.C.)[2] and (*v*) by Śrīdhara (=750 A.C.)[3] Though the formula (*ix*)—(*xi*) are not found stated elsewhere, they can be easily deduced from the others.

Prism, Cone and Sphere. According to Nemicandra,

Volume of a prism[4] = (base) × (height),

Volume of a cone or pyramid[5] = $\frac{1}{3}$ (base) × (hight),

Volume of a sphere[6] = $\frac{9}{2}$ (radius)^3.

For measuring the volume of a heap of certain seeds such as mastard, etc., which resembles a cone in shape, he gives an approximate formula,[7]

$$\text{Volume} = \left(\frac{\text{circumference}}{6}\right)^2 \times (\text{height}).$$

1 See the article of the writer on "Geometry in the Jaina Cosmography" in the *Quellen and Studien zur geschichte der mathematik.*—Abteilving B, Bd. I, 1930, pp. 245—254 ; "The Jaina School of Mathematics" in the *Bulletin of the Calcutta Mathematical Society*, vol. 21, 1929, pp. 115—145.

2 *Bṛhat Kṣetra-samāsa*, i, 122. 3 *Triśatikā*, Rule 47. 4 *Trilokasāra*, Gāthā 17. 5 *Ibid*, Gāthā 19. 6 *Ibid*, Gāthā 19. 7 *Ibid*, Gāthas 22—23

And it is supposed in such a case that

$$\text{Height} = \tfrac{1}{11} \text{ (circumference)}.$$

This approximate formula is derived as follows:

$$\text{Base} = \pi \text{ (radius)}^2 = \tfrac{1}{12} \text{ (circumference)}^2$$

putting $\pi = 3$. Hence.

$$\text{Volume} = \tfrac{1}{3} \text{ (base)} \times \text{(height)}$$
$$= \left(\frac{\text{circumference}}{6}\right)^2 \times \text{(height)}.$$

Isosceles trapezium. Nemicandra writes:

" The difference of the face and base divided by the altitude is the rate of decrease of the base in proceeding towards the face and also the rate of increase of the face in going otherwards. Half the sum of the face and base multiplied by the altitude is the area. The area multiplied by the height is the volume."[1]

That is to say, if a denote the face, b the base and h the altitude of an isosceles trapezium, we shall have

$$\text{Rate of decrease of } b \text{ or increase of } a = \frac{b-a}{h},$$

$$\text{Area} = \tfrac{1}{2}(b+a)h.$$

Hence at an altitude h' above the base the breadth of the figure will be

$$b - \left(\frac{b-a}{h}\right)h'$$

and at a depth h'' below the face the breadth will be

$$a + \left(\frac{b-a}{h}\right)h''$$

Permutations and Combinations

According to the Jaina philosophy there are fifteen kinds of *pramāda* (" carelessness ") of which four form the category of *vikathā* (" wrong talk "), four that of *kaṣāya* (" passion "), five that of *indriya* (" sense ") and one belongs to each of the categories

1 *Ibid,* Gāthā 114.

of *nidrā* ("sleep") and *praṇaya* ("attachment"). Combinations are made of five elements of carelessness selecting only one element from each of the five categories. They are usually done by setting down the elements according to a systematic scheme and are finally marked serially according as they are obtained. Hence the problems that will arise in this respect are, as enumerated by Nemicandra,[1] to find :

(*i*) the total number of combinations that can be made (*saṁkhyā*),

(*ii*) a systematic scheme of laying out the elements (*prastāra*),

(*iii*) the elements in a combination from its serial number (*naṣṭa*),

(*iv*) the serial number of a particular combination (*samuddiṣṭa* or *uddiṣṭa*).

The serial number (*udditṣa*) of a combination consisting of the same varieties of the elements will be different, it should be noted, according to the different order in which the different categories are taken successively for the selection of elements. In the above instance, the selection has to be made out of three categories, other two having only one element each. So there will be 6 $(=3\times2\times1)$ different orders. In other words, a selection of three elements can have six serial numbers. Nemicandra has taken the categories in the order *vikathā, kaṣāya* and *indriya*. Again in this order, the representation may be begun by laying out *one* or *all* the elements of the first category, *vikathā* (vide infra). Nemicandra calls the former process of representation as the *prastāra* and the reverse process as the *parivartana*. Hence according to his calculation, a selection consisting of the same three elements, can have two serial numbers. But, in fact, it can have 12 different serial numbers.

Saṁkhyā. Nemicandra writes :

"All the combinations previously obtained combine with each element of the next category. Hence the total number will

be given by the multiplication (of the numbers of elements in the different categories)."[1]

Thus the total number of combinations that can be made out of the fifteen elements of carelessness in the way described above is $4 \times 4 \times 5 \times 1 \times 1 = 80$.

Prastāra. Nemicandra says:

"The distribution is made thus: Write down severally the first element (of the first category) of carelessness and put over it, each of the elements of the succeeding classes. When the elements in the third category are exhausted, begin afresh with the second element of the second category; (and so on). When all the elements of these two categories have been thus distributed out, operations should be begun with (the second element of) the first category. (And so on)." [2]

Let us denote the four kinds of ***vikathā*** by v_1, v_2, v_3, v_4; the four kinds of *kaṣāya* by k_1, k_2, k_3, k_4; and the five kinds of ***indriya*** by i_1, i_2, i_3, i_4, i_5. Then the representation described here will be as follows:

$$\underbrace{i_1\ i_2\ i_3\ i_4\ i_5}_{\substack{k_1 \\ v_1}} \quad \underbrace{i_1\ i_2\ i_3\ i_4\ i_5}_{\substack{k_2 \\ v_1}} \quad \underbrace{i_1\ i_2\ i_3\ i_4\ i_5}_{\substack{k_3 \\ v_1}} \quad \underbrace{i_1\ i_2\ i_3\ i_4\ i_5}_{\substack{k_4 \\ v_1}}$$

$$\underbrace{i_1\ i_2\ i_3\ i_4\ i_5}_{\substack{k_1 \\ v_2}} \quad \underbrace{i_1\ i_2\ i_3\ i_4\ i_5}_{\substack{k_2 \\ v_2}} \quad \underbrace{i_1\ i_2\ i_3\ i_4\ i_5}_{\substack{k_3 \\ v_2}} \quad \underbrace{i_1\ i_2\ i_3\ i_4\ i_5}_{\substack{k_4 \\ v_2}}$$

and so on with v_3 and v_4 in the lowest row.

Parivartana. As already stated there can be several alternative processes. Nemicandra has, however, described only one in which the procedure followed is contrary to that just mentioned. He says:

"Write down the elements of the first category as many times as the number of elements in the second category; then put over each group severally each of the elements of the

1 *Gommaṭasāra, Jīvakāṇḍa*, Gāthā 36. 2. *Ibid*, Gāthās 37, 39.

second category; and proceed thus all throughout. When all the elements of the first category are exhausted, begin afresh with the second category; (and so on). When all the elements of these two categories are thus distributed out, the operation with the elements in the third category begins."[1]

That is to say, the representation is

$$\overbrace{v_1\ v_2\ v_3\ v_4}^{\substack{i_1\\ k_1}}\quad \overbrace{v_1\ v_2\ v_3\ v_4}^{\substack{i_1\\ k_2}}\quad \overbrace{v_1\ v_2\ v_3\ v_4}^{\substack{i_1\\ k_3}}\quad \overbrace{v_1\ v_2\ v_3\ v_4}^{\substack{i_1\\ k_4}}$$

$$\overbrace{v_1\ v_2\ v_3\ v_4}^{\substack{i_2\\ k_1}}\quad \overbrace{v_1\ v_2\ v_3\ v_4}^{\substack{i_2\\ k_2}}\quad \overbrace{v_1\ v_2\ v_3\ v_4}^{\substack{i_2\\ k_3}}\quad \overbrace{v_1\ v_2\ v_3\ v_4}^{\substack{i_2\\ k_4}}$$

similarly with i_3, i_4, and i_5 in the upper row.

Naṣṭa. To find out the elements occurring in a combination whose serial number is known, Nemicandra gives the following rule:

"Divide (the given serial number) successively by the numbers of elements in the different categories, adding each time unity to the quotient, except when the remainder is zero. The remainder determines the place of an element in its category; the zero remainder indicates the last element."[2]

This rule is quite general and is equally available in case of all representations. We shall apply it to find, for example, the 13th combination in the *Prastāra*.

Dividing 13 by 5, we get the quotient 2 and the remainder 3. So the combination contains the element i_3. Adding 1 to the quotient 2, we have 3. On dividing 3 by 4, the quotient is 0 and the remainder 3. Hence there is the element k_3. Now $0+1=1$ and dividing 1 by 4, we get the quotient 0 and the remainder 1. So there is v_1. Hence the 13th combination of the *Prastāra* is $i_3k_3v_1$.

Now in the *Parivartana*: On dividing 13 by 4, the quotient is 3 and the remainder 1. So the combination contains v_1. Adding unity to the quotient, we have $3+1=4$. Dividing 4 by 4 we get 1

1 *Ibid*, Gāthās 38, 40 2 *Ibid*, Gāthā 41

for the quotient and 0 for the remainder. Hence there is k_4. Since the remainder is 0 this time, we shall not have to add unity to the quotient. On dividing 1 by 5, we have the remainder 1. So there is i_1. Hence the 13th combination of the *Parivartana* is $v_1 k_4 i_1$.

Uddiṣṭa. To determine the serial number of a combination, Nemicandra gives the following rule :

" Take unity. Multiply it by the total number of elements in a category beginning from the last one (in the given combination) and subtract from the product the number of elements lying therein after the given element. Proceed (successively) in the same way througout."[1]

For example, let us find the serial number of the combination $i_4 k_3 v_1$. The last element in this combination belongs to the category of v. So the calculation must be begun with that. As directed in the rule, we take 1. As there are 4 elements in the category of v, we multify it by 4 and get $1 \times 4 = 4$. Since there are 3 elements, namely v_2, v_3, v_4, in that category after v_1, we subtract 3 from the product and get $4 - 3 = 1$. Now we shall have to multiply the remainder 1 by 4, since there are 4 elements in the category of k and then subtract from the result 1, since there lies only one element, namely k_4. after k_3. Thus we get $1 \times 4 - 1 = 3$. Next we multiply 3 by 5, there being 5 elements in the category of i and then subtract 1, as there is only one element, *viz.*, i_5, after i_4. So we have $3 \times 5 - 1 = 14$. Hence the serial number of the combination $i_4 k_3 v_1$ is 14.

To determine the *naṣṭa* (*i.e.*, the elements of a combination from its serial number) and the *uddiṣṭa* (*i.e.*, the serial number of a combination for its elements), more readily without going through the lengthy processes of calculations described above, Nemicandra gives two short tables. He says :

" Place 1, 2, 3, 4, 5 ; 0, 5, 10, 15 ; 0, 20, 40 and 60 in three rows (of cells) of the three categories of carelessness and find the elements and the serial numbers of combinations (in the *Prastāra*)."[2]

1 *Ibid*, Gāthā 42.

2 *Ibid*, Gāthā 43

TABLE I

i_1 1	i_2 2	i_3 3	i_4 4	i_5 5
k_1 0	k_2 5	k_3 10	k_4 15	
v_1 0	v_2 20	v_3 40	v_4 60	

"Set down 1, 2, 3, 4; 0, 4, 8, 12; 0, 16, 32, 48 and 64 in three rows (of cells) of the three categories of carelessness and find the elements and the serial numbers of combinations (in the *Parivartana*)."[1]

TABLE II

v_1 1	v_2 2	v_3 3	v_4 4	
k_1 0	k_2 4	k_3 8	k_4 12	
i_1 0	i_2 16	i_3 32	i_4 48	i_5 64

To find the serial number of a given combination we have simply to add together the figures present in the cells of its elements in the Tables. And to determine, on the contrary, the elements

1 *Gommaṭasāra, Jīvakāṇḍa* Gatha 44

occurring in a combination whose serial number is given, we shall have to break up that number into three parts picked up from three rows of cells in the Tables and write down in order the elements from those cells.

For example, since 13=3+10+0, the 13th combination in the *Prastāra* is $i_3 k_3 v_1$; and that in the *Parivartana* is $v_1 k_4 i_1$, since 13=1+12+0.

Nemicandra's methods for finding the serial number of a combination of elements and *vice versa* from the tables are quite general as will be easily recognised: Suppose the first group consists of p elements $i_1, i_2, i_3, \ldots, i_p$; the second group has q elements $k_1, k_2, k_3, \ldots, k_q$; and the third group has r elements $v_1, v_2, v_3, \ldots, v_r$. Let $N(i_l\, k_m\, v_n)$ denote the serial number of the combination $i_l\, k_m\, v_n$ in the first scheme, that is, the *Prastāra*. Now form the table

i_1 1	i_2 2	i_3 3	....	i_l l	i_{l+1} $l+1$	... to p cells
k_1 0	k_2 p	k_3 $2p$	....	k_l $(l-1)p$	k_{l+1} lp	... to q cells
v_1 0	v_2 pq	v_3 $2pq$	....	v_l $(l-1)pq$	v_{l+1} lpq	... to r cells

Then

$$N(i_l\, k_m\, v_n) = l + (m-1)\, p + (n-1))\, pq.$$

In particular, putting $p = 5$, $q = 4$, $r = 4$, we get

$$N(i_3\, k_3\, v_1) = 3 + (3-1)\, 5 + (1-1)\, 5 \times 4 = 13,$$
$$N(i_5\, k_2\, v_4) = 5 + (2-1)\, 5 + (4-1)\, 5 \times 4 = 70,$$

as are found from the Table I of Nemicandra.

Opinions.

Jaina Dārshana Divakara, Champat Rai Jain, Barrister-at-Law, Vidyāvāridhi writes from London :—

"The first issue of the Jain Siddhanta Bhaskara has arrived this week. I have much pleasure in welcoming it as an old friend. I hope it will do really useful work.........I like the coloured portrait of Mahāvira in the Kumaravastha very much."

Prof. Dr. B. Seshagiri Rao, M.A., Ph. D., M.S.A., etc. writes from Vijianagram :—

"Many thanks for your sending me the first Number of 'Jain Siddhanta Bhaskara. I have gone thro' it and find it very interesting & valuable reading. You are doing real service to culture by publishing notes on Literary works in Jainism and whole works also hitherto unpublished. Years back when I was at school there used to be a magazine called **अमुद्रित ग्रन्थ चिंतामणि** which did similar service to our Andhra literature. I congratulate you on the present venture."

Herbert Warren Esqr. writes from London :—

"I am in receipt of No. 1 of Vol. No. 1 of the "Jain Antiquary," June 1935 issue, for which I am obliged. It is nicely got up, and no doubt will be useful to students of history and other matters connected with the Jains. I wish it every success.

Select Contributions to Oriental Journals.

1. *The Journal of the U. P. Historical Society, Vol. VII Nov. 1934* :—

pp. 52-58.—*The significance of the term "Nirgrantha"*—by K. P. Jain.
The word "nirgrantha" denotes a naked ascetic of Jaina faith and Jainas were known by this name in ancient India.

pp 70-72.—*Important Sculptures, Prov. Museum, Lucknow...*—by R. B. Prayag Dayal.
A jain statue of some divinity in abhaymudra, with a canopy of a five-hooded cobra is described. The image compares favourably with that of Nāgārjuna excavated at Nalanda in 1919-20. The other image described is that of Mahāmānashi—the Yoksini of Shāntināthа.

2. *Indian Culture*, Vol. I, Jany. 1935 :—

pp. 381-391.—*Some ancient Indian Tribes* by Dr. B. C. Law.

3. *Journal of Indian History*, Vol. XIII, pt. 2, Aug, 1934 :—

The genealogy and the chronology of the Early Kadambas of Vanavasi, by Mr. M. Govind Rai. He combats the theory that the early kadambas were all of Jaina persuasion.

4. *Silver Jubilee Number of the Quarterly journal of the Mythic Society*, Vol. XXV., Jan. 1935 :—

pp. 87-94.—*Jainism in kongu Nadu.*—by C. M. R. Chettiar, B.A., B.L.

pp. 161-181.—*Architecture in the Ganga Period*—by M. V. Krishna Rao.

5. *Indian Historical Quarterly*, Vol. X, No 2, June 1934 :—

p. 332.—*The Jaina Calendar* by Dr. S. R. Das.

6. *Annals of the Bhandarkara Oriental Research* Instt., XV. Jany. 1934 :—

Samantabhadra's Date and Dr. Pathak by Jugalkishor Mukhtar.

RULES.

The "Jaina Antiquary" (जैन-सिद्धान्त भास्कर) is an Anglo-Hindi quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e.*, in June, September, December, and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including postage) and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,

The "Jaina Antiquary"

Chowk, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, reviews, etc., type-written, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,

EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"

Aliganj, Dist. Etah (India).

(*N.B.*—Journals in exchange should also be sent to this address.)

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting, or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders, if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology:—

PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A.
B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI.

आरा जैन-सिद्धान्त-भवन की प्रकाशित पुस्तकें

—— :*: ——

(१)	मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र), संस्कृत और भाषा-टीका-सहित	...	२।)
(२)	ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक शास्त्र भाषा-टीका-सहित	...	१)
(३)	जैन सिद्धान्तभास्कर १म भाग की १म किरण	...	१)
	,, २य तथा ३य सम्मिलित किरणें	...	१।)
(४)	भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी शास्त्रों की पुरानी सूची		॥) (यह अर्द्ध मूल्य है)
(५)	भवन की संगृहीत अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची	...	॥।)

प्राप्ति-स्थान—

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)।

प्रकाशक तथा मुद्रक—बाबू देवेन्द्रकिशोर जैन,
श्रीसरस्वती प्रिंटिङ्ग वर्क्स, आरा।

श्री जैन सिद्धान्त भास्कर



The Jain Antiquary

An Anglo-Hindi Quarterly Journal.

D. N. Varma

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।



१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर अङ्गरेजी हिन्दी मिश्रित त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ इसका वार्षिक चन्दा देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबंधी तथा अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, जैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं। मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर फेर की सूचना भी तुरंत उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि "भास्कर" नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्तिविज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखनेवाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, श्रीजैन सिद्धान्त-भास्कर, आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे हुए नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ "भास्कर" आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल मात्र जैन-तत्त्व के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं:—



(श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा का मुख-पत्र)

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

अर्थात्

प्राचीन जैन-इतिहास, साहित्य एवं शोध-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग २] [किरण ३

सम्पादक-मण्डल

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए.

बाबू कामता प्रसाद एम. आर. ए. एस.

पण्डित के० भुजबली शास्त्री



जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १)

विक्रम-सम्वत् १९९२

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

ग्रन्थमाला-विभाग—

अंग्रेजी-विभाग—



मूडबिद्री का होसबसदि (चन्द्रनाथ-चैत्यालय)

ॐ

॥ श्रीजिनाय नमः ॥



THE JAINA ANTIQUARY.

जैनपुरातत्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग २	दिसम्बर १९३५। मार्गशीर्ष वीर नि० २४६२	किरण ३

जय स्याद्-वाद !

(रच०—श्रीयुत कल्याण कुमार जैन 'शशि')

तू ऊर्द्धोन्नत मस्तक विशाल
जैनत्व तत्व का स्फटिक भाल
अपहृत मिथ्या भ्रमतिमिर-जाल
तू जैनधर्म का शंखनाद !

नव युक्तायुक्त-विचार-सार !
नित अनेकान्त का सिंह-द्वार !
करते आये तेरा प्रसार !
अतुलित तीर्थंकर-पूज्यपाद !

तीर्थंकर पद्की निधि ललाम;
सिद्धान्तवाद का सद्-विराम,
प्राकृत संस्कृति का अमरधाम
तू संसृति का निरुपम प्रसाद !

तू पक्षापक्ष-विरूप-तूप
नय-विनिमय का सर्वांग रूप
जूझे तुमसे पण्डित-अनूप
गौतम-गणधर जैमिनि कणाद !

जय स्याद्वाद जय स्याद्वाद

× × ×

अमरकीर्तिगणि और उनका षट्कर्मोपदेश

(ले०—श्रीयुत प्रोफेसर हीरालाल एम.ए., एल.एल.बी.)

१ पोथी-परिचय

'जैनमित्र' की पुरानी फाइलों के पन्ने पलटते समय एक जगह मुझे मोती कटरा आगरा, के दिगम्बर जैन मन्दिर के कुछ हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची देख पड़ी। इनमें अमरकीर्तिकृत षट्कर्मोपदेश का भी उल्लेख था। सूचीकार ने इसे केवल प्राकृत ग्रन्थ कहा है, पर जो थोड़ा सा अवतरण वहां उद्धृत किया गया था उससे मुझे निश्चय होगया कि वह ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा में है। यह भाषा बड़ी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह प्राचीन संस्कृत, प्राकृत और आधुनिक हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि देशी भाषाओं के बीच की एक कड़ी है। इस भाषा के ग्रन्थ अभीतक बहुत कम मिलते थे। जो मिले हैं उनको संशोधन-पूर्वक प्रकाशित कराने का मैं कई वर्षों से प्रयत्न कर रहा हूँ। अतएव उक्त प्रति के देखने की मुझे इच्छा हुई। निदान, महावीर प्रेस, आगरा, के मालिक श्रीयुक्त महेन्द्र जी की कृपा से वह प्रति मुझे अवलोकनार्थ प्राप्त हो गई।

यह प्रति ११"×५" इंच लम्बे चौड़े देशी कागज के १०२ पत्रों पर है। पत्रों में दाँये बाँये १॥ इंच, तथा ऊपर नीचे १ इंच हाँसिया छूटा हुआ है। प्रत्येक पृष्ठ पर ११ पंक्तियां, व प्रतिपंक्ति में लगभग ३५ अक्षर हैं। पुरानी प्रतियों के प्रथानुसार पत्रों के बीच में स्थान छूटा हुआ है। ७० पत्र पुराने और शेष उससे पीछे के दूसरे हाथ से लिखे हुए प्रतीत होते हैं। पुराने पत्रों में भी नं० २ का पत्र गायब हो जाने से किसी तीसरे हाथ का लिखा हुआ पत्र उसके स्थान पर जोड़ दिया गया है। कई पत्र आधे, चौथाई, फट गये थे, उनको जोड़कर और त्रुटित अंश पुनः लिख कर मरम्मत की गई है। इस तरह इस प्रति ने बहुत जमाना देखा है और कागज ने शत्रुओं से काफी युद्ध किया है। अन्त में जो लिपि का समय दिया गया है वह उस शेष अंश के लिखे जाने का है। लेख इस प्रकार है:—

"संवत् १८८४ का भादवा माशे शुक्ल पक्षे तिथौ २ शुक्रवासरे लीपकृतं महातमा पनालाल वासी सवाई जयपुरक लीषी आगरा मध्ये ॥ शुभंगमस्तु ॥छ॥छ॥छ॥"

मूल प्रति इससे कई सौ वर्ष की पुरानी ज्ञात होती है। अनुमान होता है कि आगरा की पुरानी प्रति खंडित होगई थी, उसकी पूर्ति सवाई जयपुर-निवासी महात्मा पन्नालाल-द्वारा कराई गई थी, सम्भवतः या तो मूल प्रति के जीर्ण अंश पर से ही या जयपुर की किसी

प्रति पर से। उक्त 'महात्मा' का लिखा हुआ अंश शुद्ध तो नहीं है पर इतना अशुद्ध भी नहीं है जितना उक्त वाक्य की अशुद्धता पर से अनुमान किया जा सकता है।

२ कवि-परिचय

कवि ने अपने ग्रन्थ के आदि और अन्त में अपना कुछ परिचय देने की कृपा की है जिससे उनके विषय में बहुत सी ज्ञातव्य बातें विदित हो जाती हैं। उनका नाम अमरकीर्ति था। उन्होंने अपनी 'मुनि', 'गणि' और 'सूरि' उपाधियां भी जाहिर की हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वे गृहस्थाश्रम त्याग कर दीक्षित होगये थे और उन्होंने बहुत विद्वत्ता प्राप्त की थी। उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा भी दी है जिससे वे माथुर संघी और चन्द्रकीर्ति मुनीन्द्र के शिष्य सिद्ध होते हैं। उनकी पूरी गुरुपरम्परा इस प्रकार पाई जाती है*—

अमियगइ (अमितगति)
|
शान्तिसेन
|
अमरसेन
|
श्रीषेण
|
चन्द्रकीर्ति
|
अमरकीर्ति

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस परम्परा के आदि पुरुष 'अमियगइ' कौन थे। हमारे कवि ने उनको 'महामुनि' 'मुनि-चूड़ामणि', 'शम-शील-धन', 'कीर्तिसमर्थ', 'बहुत से शास्त्रों के रचयिता' तथा 'अपने गुणों द्वारा नृपति के मन को आनन्दित करनेवाले' इन विशेषणों से विभूषित किया है। विचार करने से ये अमियगइ महामुनि आचार्य अमितगति ही विदित होते हैं जिनके बनाये हुए तीन ग्रन्थ, धर्मपरीक्षा, सुभाषित-रत्नसंदोह और भावनाद्वात्रिंशिका जैन-समाज में सुविख्यात हैं। उनके श्रावकाचार, पंचसंग्रह और योगसार-प्राभृत नामक ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हो चुके हैं। उनके बनाये हुए जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सार्द्धद्वयद्वीप-प्रज्ञप्ति और व्याख्या-प्रज्ञप्ति इन चार ग्रन्थों के नाम भी पाये जाते हैं। इस तरह वे बहुत से शास्त्रों के रचयिता सिद्ध हैं। अमितगति ने अपने सुभाषित-रत्न-संदोह में अपने को 'शम-दम-यम-मूर्तिः' 'चन्द्रशुभ्रोरुकीर्तिः' तथा धर्म-परीक्षा में 'प्रथितविशदकीर्तिः' विशेषण लगाये हैं जिनसे अमरकीर्ति के 'शमशीलधन' और 'कीर्ति-समर्थ' विशेषणों की सार्थकता सिद्ध होती है। यद्यपि अमितगति के ग्रन्थों में उनके

*देखो परिशिष्ट १ (१, ४, ६ आदि)

किसी राजा को प्रसन्न करने का उल्लेख नहीं पाया जाता, किन्तु वे जिस राजा के समय में हुए हैं वह उज्जैनी का राजा मुंज बड़ा गुणग्राही और साहित्य-प्रेमी था। आश्चर्य नहीं वे ही अमितगति के काव्यों, विशेषतः उनके सुभाषितों की गंध पाकर प्रसन्न हुए हों। अमितगति सच्चे दिगम्बर मुनि थे। वे राज-महाराजाओं की कृपाकटाक्ष के भूखे नहीं थे और न उनके रुष्ट-तुष्ट होने का उन्हें कोई हर्ष-विषाद था। इसीसे उन्होंने मुंज की उस प्रसन्नता का अपने काव्यों में उल्लेख करने की परवाह नहीं की। इन अमितगति ने भी अपने को माथुरसंघी कहा है। इससे अमरकीर्ति की गुरुपरम्परा वाले 'अमियगइ' और इनके अभिन्न होने में कोई शंका नहीं रहती[1]। अमितगति आचार्य के ग्रन्थों में उनका समय वि० सं० १०५० से १०७३ तक पाया जाता है। उनसे पौने दो सौ वर्ष पश्चात् पाँचवी पीढ़ी में अमरकीर्ति हुए। इस तरह इन दोनों के समय का भी सामञ्जस्य बैठ जाता है। पूर्वोक्त परम्परा के शान्तिसेनगणी के सम्बन्ध में कवि ने कहा है कि महीश भी उनके चरण-कमलों को नमन करते थे, श्रीषेण सूरि वादिरूपी बन के लिये अग्नि ही थे, और उसी तरह चन्द्रकीर्ति वादिरूपी हस्तियों के लिये सिंह थे। इससे जान पड़ता है कि इस परम्परा में बड़े विद्वान् मुनि होते रहे हैं। (माथुरसंघ काष्ठासंघ की एक शाखा थी। इसके सम्बन्ध में मैं एक स्वतन्त्र लेख लिख रहा हूँ।)

अमरकीर्ति जी को वर्तमान ग्रन्थ की रचना के लिये प्रेरित करनेवाले सद्गृहस्थ का नाम अम्बाप्रसाद था। वे नागरकुल में उत्पन्न हुए थे और उनके माता-पिता के नाम क्रमशः चर्चिणी और गुणपाल थे। यह ग्रन्थ उन्हीं को समर्पित किया गया है। प्रत्येक संधि के समाप्ति-सूचक वाक्य में उनका नाम स्मरण किया गया है। इस काव्य को कवि ने उनकी अनुमति से बनाया ऐसा कहा गया है। कहीं कहीं इन्हीं अम्बाप्रसाद को कवि ने अपना 'लघुबन्धु'[2] और 'अनुज बन्धु'[3] कहा है जिससे अनुमान होता है कि हमारे कवि भी इसी कुल में उत्पन्न हुए थे और अम्बाप्रसाद के बड़े भाई थे। अपनी गुरुपरम्परा में अमरकीर्ति ने अपने को चन्द्रकीर्ति मुनि के 'अनुज सहोदर' और शिष्य कहा है, इससे उनके ये गुरु भी सगे बड़े भाई सिद्ध होते हैं।

इस ग्रन्थ की रचना कवि ने 'गुज्जर' विषय के मध्य 'महीयड' देश के 'गोदहय' नामक नगर के आदीश्वर चैत्यालय में बैठकर की थी[4]। स्पष्टतः गुज्जर विषय गुजरात प्रान्त का

१ अमितगति आचार्य के विषय में विशेष जानने के लिये देखो पं० नाथूराम-कृत 'विद्वद्रत्नमाला पृष्ठ ११९ आदि।

२ देखो परिशिष्ट २ (१४, १८, १६ णंदउ अंबपसाउ वियक्खणु। अमरसूरि-लहुबंधु सुलक्खणु)

३ देखो परिशिष्ट १ (१, ९, १० बंधवेण अणुजायइं······अंबपसायइं)

४ देखो परिशिष्ट १ (१, ४, ४ आदि)

बोधक है। विचार करने से महीयड देश वर्तमान 'महीकांठा' तथा गोदहय नगर वर्तमान 'गोधा' नगर के बोधक प्रतीत होते हैं। महीकांठा एजेन्सी की वर्तमान सीमा संकुचित कर दी गई है जिससे गोधा नगर पंचमहल जिले में पड़ता है। कवि के समय में वह महीकांठा प्रदेश में ही सम्मिलित था। सम्भवतः अम्बाप्रसाद यहीं के निवासी थे। एक जगह कवि ने उन्हें कृष्णपुर-वंश-विजयध्वज'[1] कहा है। यह कृष्णपुर (कण्हपुर) वंश या तो नागर कुल का ही बोधक है या नागर कुल उसके अन्तर्गत था। सम्भव है यह वंश पहले किसी कृष्णपुर से यहां आकर बसा हो इसी से वह कृष्णपुरवंश कहलाया।

३ रचना-काल

कवि ने अपने ग्रन्थ की रचना का समय भी लिख दिया है। उन्होंने अपना यह काव्य विक्रम संवत् १२४७, भाद्रपद मास के दूसरे (शुक्ल ?) पक्ष की चतुर्दशी दिन गुरुवार को समाप्त किया था[2]। कवि के समय में गोधा में चालुक्यवंशी नृप वंदिग्गदेव के पुत्र कण्ह (कृष्ण) नरेन्द्र का राज्य था[3]। इतिहास से प्रसिद्ध है कि इस समय गुजरात में चालुक्य अर्थात् सोलंकी वंश का राज्य था जिसकी राजधानी अनहिलवाड़ा थी। पर उस वंश में वंदिग्गदेव और उनके पुत्र कृष्ण का कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। पूर्वोक्त समय में अनहिलवाड़ा के सिंहासन पर भीम द्वितीय प्रतिष्ठित थे जिन्होंने विक्रम संवत् १२३६ से १२९९ तक राज्य किया। उनसे पूर्व वहाँ कुमारपाल ने संवत् १२०० से १२३१ तक, अजयपाल ने १२३१ से १२३४ तक और मूलराज द्वितीय ने १२३४ से १२३६ तक राज्य किया था। भीम द्वितीय के पश्चात् वहां सोलंकी वंश की एक शाखा बाघेल या बाघेर वंश की प्रतिष्ठा हुई जिसके प्रथम नरेश विशालदेव ने १३०० से १३१८ तक राज्य किया, पर अनहिलवाड़ा में इस वंश का बल संवत् १२२७ से ही बढ़ना प्रारम्भ होगया था। इस वर्ष में कुमारपाल की माता की बहिन के पुत्र अर्णराज ने अनहिलवाड़ा के निकट बाघेला ग्राम का अधिकार पाया था[4]। जान पड़ता है कि चालुक्य वंश की एक शाखा या तो पहले से ही महीकांठा प्रदेश में प्रतिष्ठित थी और गोधा में अपनी राजधानी रखती थी या अणहिलवाड़ा में बाघेल वंश का बल बढ़ते ही वहां प्रतिष्ठित हो गई थी। कवि ने वहां के कृष्ण नरेन्द्र की कीर्ति का खूब वर्णन किया है। वे नीति के पूरे जानकार थे, भीतरी और बाहिरी शत्रुओं के विनाशक थे तथा षड्दर्शन का भक्ति से

१ देखो परिशिष्ट १ (१, ८, ७ सुणि कण्हपुर-वंस-विजयद्धय)

२ देखो परिशिष्ट २ (१४, १८, ८-१०)

३ देखो परिशिष्ट १ (१, ५, १ आदि)

४ History of Gujrat in Bombay Gazeteer Vol. I.

सम्मान करते थे, मानो क्षात्रधर्म ने ही शरीर धारण कर लिया हो। धर्म, परोपकार और दान में उनकी प्रवृत्ति थी। उनके राज्य में दुःख, दुर्भिक्ष व रोग कोई जानता ही न था, इत्यादि।

४ कवि की रचनाएँ

कवि ने ग्रन्थ के इसी प्रस्तावना-भाग में अपने बनाये हुए अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख कर दिया है जिसमें निम्न ग्रन्थों के नाम पाये जाते हैं[१]—

१ णेमिणाह-चरिउ (नेमिनाथ-चरित्र)
२ महावीर-चरिउ
३ जसहर-चरिउ (यशोधरचरित)
४ धर्मचरित्र-टिप्पण
५ सुभाषित-रत्न-निधि
६ धर्मोपदेश-चूडामणि
७ ध्यान-प्रदीप (झाणपईउ)
८ छक्कम्मुवएस (षट्कर्मोपदेश)

इनमें से जसहर-चरिउ के सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि उसे उन्होंने पद्धडिया बंध में रचा था जिससे उसकी रचना का अपभ्रंश में होना सिद्ध है। सुभाषित-रत्ननिधि के सम्बन्ध में कहा है कि उसमें उन्होंने संस्कृत के सुन्दर श्लोकों का संग्रह किया था। ध्यानप्रदीप के विषय में कहा है कि उसमें ध्यान की शिक्षा दी गई है। धर्मचरित्र-टिप्पण को उन्होंने ऐसा रचा था कि जड़ भी उसे अच्छी तरह समझ जाय। नहीं कहा जा सकता यह सुन्दर टिप्पण उन्होंने कौन से धर्मचरित्र पर बनाया। कहीं धर्मचरित्र से उनका तात्पर्य उनकी परम्परा के पूर्व आचार्य अमितगति द्वारा रचित धर्मपरीक्षा से तो नहीं है? जसहर-चरिउ और सुभाषितरत्न-निधि को छोड़ कर शेष ग्रन्थों की भाषा क्या थी यह कवि ने प्रकट नहीं किया। उनका टिप्पणग्रन्थ तो संस्कृत में ही रहा होगा, किन्तु बहुत सम्भव है कि शेष सब ग्रन्थ, और विशेषतः णेमिणाह-चरिउ और महावीर-चरिउ, अपभ्रंश में ही रचे गये हों। कवि ने कहा है कि इन ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने और भी बहुत से काव्य संस्कृत और प्राकृत में रचे थे जिनसे लोगों को आनन्द मिले। अत्यन्त खेद की बात है कि इनमें से प्रस्तुत ग्रन्थ को छोड़ कर अन्य किसी भी ग्रन्थ का हमें अभीतक कुछ भी पता नहीं है। ऊपर कहा ही जा चुका है कि अमरकीर्तिजी की गणि और सूरि उपाधियों से उनकी विद्वत्ता प्रकट होती है। प्रस्तुत काव्य की संधियों की पुष्पिकाओं में उन्होंने इस रचना को महाकाव्य और अपने को महाकवि कहा है।

१ देखो परिशिष्ट १ (१, ७, १ आदि)

उन्होंने यह भी कहा है कि उनमें प्रमाद बिलकुल नहीं था और वे दिन-रात सुन्दर काव्यों के अवलोकन में लवलीन रहा करते थे। प्रस्तुत ग्रन्थ १४ संधियों में समाप्त हुआ है, उसमें कुल २१५ कडवक हैं और सम्पूर्ण ग्रन्थ २५०० श्लोक-प्रमाण है। इस भारी ग्रन्थ को कवि ने केवल एक माह के समय में ही रच डाला था[1]। इसमें सन्देह नहीं कि कवि प्रतिभाशाली, विद्वान् और अभ्यासङ्गी थे। अम्बाप्रसाद जी ने कहा था "आपने अपने सुकवित्व-द्वारा अपने गुरुकुल और तातकुल दोनों को पवित्र, शाश्वत और महान् बना दिया है"[2]। क्या हम आशा करें कि इस प्रशंसा के आधारभूत कवि के उन सब या उनमें से बहुत से ग्रन्थों के हमें कभी दर्शन प्राप्त हो सकेंगे ?

षट्कर्मोपदेश के जिन अंशों के आधार पर पूर्वोक्त वृत्तान्त लिखा गया है उन्हें परिशिष्ट में देखिये। इस ग्रन्थ के विषय और काव्य का परिचय अगले लेख में कराया जायगा।

परिशिष्ट

—※—

१

षट्कर्मोपदेश की पूर्वपीठिका

प्रारम्भ—

परमप्पय-भायणु सुह-(गइ)-पावणु णिहणिय-जम्म-जरा-मरणु।
सासय-सिरि-सुंदरु पणय-पुरंदरु रिसहु णविवि तिहुवण-सरणु॥

× × × × ×

(संधि १, कडवक ४—८)

अह गुज्जर-विसयहु मज्झि देसु णामेण महीयडु बहु-पएसु।
णयरायर-वर-गामहिं णिरुद्धु णाणा-पयार-संपइ-समिद्धु। ५

परमात्म-पद के भाजन, शुभगति को प्राप्त करानेवाले, जन्म, जरा और मरण के विनाशक, शाश्वत-लक्ष्मी से शोभायमान, इन्द्रों द्वारा पूज्य और त्रिभुवन के शरण ऋषभदेव भगवान् को नमस्कार करके (मैं काव्य रचना करता हूं)।

× × × ×

अथ गुर्जर (गुजरात) विषय के मध्य में महीकट (महीकांठा) नामका देश है जिसके अन्तर्गत बहुत से प्रदेश हैं। वह बड़े बड़े नगरों और उत्तम ग्रामों से भरा हुआ तथा नाना प्रकार की सम्पत्ति से

1. देखो परिशिष्ट २ (१४, १८, १० इक्कें मासें इहु सम्मत्तिउ)
2. देखो परिशिष्ट १ (१, ७, ९ पइं गुरुकुलु तायहो कुलु पवित्तु। सुकइत्तें सासउ किउ महंतु)।

तहिं णयरु अत्थि गोद्दहय-णामु णं सग्गु विचित्तु सुरेस-धामु।
पासायहं पंतिउ जहिं सहंति सरयब्भहु सोहा णं वहंति।
धय-किंकिणि कलरावहिं सरिद्धि णं कहइ सुरहं पाविय पसिद्धि।
घत्ता—देसागय-लोयहिं जाय-पमोयहिं जं णियवि मणि मरिणयउ।
एवहिं संकासउ लच्छि-पयासउ णयरु ण अण्णु पवरिणयउ ॥४॥ १०

तं चालुक्क-वंसि णय-जाणउ पालइ कण्ह-णरिंदु पहाणउ।
जो बज्झंतरारि-विद्धंसणु भत्तिए सम्माणिय-छद्दंसणु।
णिव-वंदिग्गदेव-तणु-जायउ खत्तधम्मु णं दरिसिय-कायउ।
सयल-काल-भाविय-णिव-विज्जउ पुहविहिं...वि णत्थि तहो विज्जउ।
धम्म-परोवयार-सुह-दाणइं णिच्च-महूसव बुद्धि-समाणइं। ५
जासु रज्जि जणु एयहं माणइ दुक्खु दुहिक्खु रोउ ण वियाणइं।
रिसह-जिणेस हो तहिं चेईहरु तुंगु सुहा-सोहिउ णं ससहरु।
दंसणेण जसु दुरिउ विलिज्जइ पुण्ण-हेउ जं जणि मणिणज्जइ।
घत्ता—अमियगइ महामुणि, मुणिचूडामणि, आसि तित्थु समसीलधणु।
विरइय-बहु-सत्थउ, कित्ति-समत्थउ, सगुणाणंदिय-णिवइ-मणु ॥५॥ १०

समृद्धिशाली है। वहाँ गोद्दहय (गोध्रा) नाम का एक नगर है मानो वह सुरेश का निवास स्थान विचित्र स्वर्ग ही हो। जहां प्रासादों की पंक्तियाँ विराज रही हैं मानो शरत्काल के मेघों की ही शोभा को धारण किये हों। ध्वजा-किंकिणिओं के कलरव द्वारा मानो वह कह रही थी कि उसने देवों की समृद्धिशाली प्रसिद्धि प्राप्त करली। उसे देखकर नाना देशों से आये हुए लोग प्रमुदित होकर अपने मन में विचारने लगते थे कि इसके समान लक्ष्मीवान् नगर तो अन्य कोई नहीं वर्णन किया गया।

उस नगर का पालन नीतिकुशल, चालुक्यवंश में प्रधान कृष्णनरेन्द्र करते थे। वे बाह्य और अभ्यन्तर शत्रुओं का विध्वंस करनेवाले थे तथा षड्दर्शन का भक्ति-सहित सन्मान करते थे। वे नृप वंदिगदेव के तनुज (पुत्र) थे, मानो क्षत्रिय धर्म ने ही शरीर धारण कर लिया हो। वे सदा काल राजविद्याओं का अभ्यास किया करते थे। पृथ्वीभर में उनकी तुलना करनेवाला कोई नहीं था (?)। धर्म, परोपकार, सुख, दान और नित्य-महोत्सव इन्हें ही लोग उनके राज्य में अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार मानते थे, पर दुःख, दुर्भिक्ष या रोग का उन्हें कोई अनुभव नहीं था। उसी नगर में ऋषभदेव तीर्थंकर का चैत्यालय था जो ऊँचा और सुधा (चूनेकी पुताई) से शोभायमान था मानो चन्द्र ही हो। उसके दर्शन से पाप विलीन हो जाते थे। वह लोगों में पुण्य का हेतु माना जाता था। वहाँ मुनि-चूडामणि, शम और शील को ही अपना धन समझनेवाले, अनेक शास्त्रों के रचयिता, कीर्ति में समर्थ तथा अपने गुणों द्वारा नृपति के मन को आनन्दित करनेवाले महामुनि अमितगति हुए।

उनके शिष्य शान्तिषेण गणि हुए जिन्होंने अपने चरणकमलों पर महीश को भी नमा दिया था।

गणि संतिसेणु तहो जाउ सीसु पिय-चरण-कमल-पणमिय-महीसु।
माहुर-संघाहिउ अमरसेणु तहो हुउ विणेउ पुणु हय-दुरेणु।
सिरिसेणुसूरि पंडिय-पहाणु तहो सीसु वाइ-काणण-किसाणु।
पुणु दिक्खिउ तहो तवसिरि-णिवासु अत्थियण-संघ-बुह-पूरियासु।
परवाइ-कुंभि-दारण-मइंदु सिरि चंदकित्ति जायउ मुणिंदु। ५
तहो अणुउ सहोयरु सीसु जाउ गणि अमरकित्ति णिहणिय-पमाउ।
अहणिसु सुकइत्त-विलोय-लीणु जाणच्छइ बहुविह सुय-पवीणु।
तामणणाहिं दिणि विहियायरेण णायर-कुल-गयण-दिणेसरेण।
चच्चिणि-गुणवालहं णंदणेण अवदिण्ण-दाण-पेरिय-मणेण।

घत्ता—भव्वयण पहाणें, बुहगुण जाणें, बंधवेण अणुजायइं।
सो सूरि पवित्तउ, लहु विण्णत्तउ, भत्तिए अंबपसायइं॥६॥ १०

परमेसर पइं णवरस-भरिउ विरइयउ णेमिणाहहो चरिउ।
अण्णु वि चरित्तु सव्वत्थ-सहिउ पयडत्थु महावीरहो विहिउ।
तीयउ चरित्तु जसहर-णिवासु पद्धडिया-बंधें किउ पयासु।
टिप्पणउ धम्मचरियहो पयडु तिह विरइउ जिह बुज्झेइ जडु।
सक्कय-सिलोय-विहि-जणियदिही गुंफियउ सुहासिय-रयण-णिही। ५

उनके शिष्य फिर पापों का नाश करनेवाले, माथुरसंघ के अधिप अमरसेन हुए। उनके शिष्य श्रीषेण सूरि हुए जो पण्डितों में प्रधान और वादिरूपी वन के लिये कृशानु (अग्नि) थे (अर्थात् उन्होंने सब वादियों को शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया था। फिर उनके दीक्षित शिष्य श्री चन्द्रकीर्ति मुनीन्द्र हुए जो तपरूपी लक्ष्मी के निवास, अर्थिजनसमूह की आशा को पूरी करनेवाले तथा दूसरे वादिरूपी हाथियों के लिये मृगेन्द्र थे। उन्हीं छोटे सहोदर गणि अमरकीर्ति उनके शिष्य हुए। इन्होंने प्रमाद का सर्वनाश कर डाला था, वे अहर्निश सत्काव्यों के अवलोकन में लीन रहते थे और नाना प्रकार के शास्त्रों में प्रवीण थे।

एक दिन नागरकुल-रूपी आकाश के सूर्य, चर्चिणी और गुणपाल के नन्दन, भव्यजनों में प्रधान, विद्वानों के गुणों को पहचाननेवाले तथा अमरकीर्ति के) अनुज बन्धु अम्बाप्रसाद ने अपने दिये हुए दान की मन में प्रेरणा से, भक्तिसहित और आदर करके सूरि जी से सहज ही प्रार्थना की—"हे परमेश्वर! आपने नवरसों से भरा हुआ नेमिनाथ-चरित्र रचा। दूसरा सब अर्थ-सहित महावीर का चरित्र बनाया जिसकी कथा प्रसिद्ध ही है। तीसरा चरित्र यशोधर नृप का पद्धडिया-बंध में प्रकाशित किया। धर्मचरित्र का टिप्पण आपने ऐसा स्पष्ट रचा कि जड़बुद्धि भी उससे बोध लाभ करले। आपने संस्कृत श्लोकों की विधि-द्वारा आनन्द उत्पन्न करनेवाले सुभाषित-रत्न-निधि का संग्रह किया। धर्मोपदेश-चूड़ामणि नामक, तथा ध्यान की शिक्षा देनेवाले ध्यानप्रदीप और

धम्मोवएस-चूड़ामणिक्खु तह झाण-पईउ जि झाणसिक्खु।
छक्कम्मुवएसें सहुं पबंध किय अट्ठ संख सइं सच्चसंध।
सक्कय-पाइय कव्वय घणाइं अवराइं कियइं रंजिय-जणाइं।
पइं गुरुकुलु तायहो कुलु पवित्तु सुकइत्तें सासउ किउ महंतु।
कइयण-वयणामउ जे पियंति अजरामर होइवि ते णियंति। १०
जिह राम-पमुह सुयकित्तिवंत कइमुह-सुहाइ पेच्छहिं जियंत।
कइ तुट्ठउ अप्पापरु समणु अक्खयतणु करइ पसिद्धिगणु।
घत्ता—मंतोसहि-देवहं, किय-चिरसेवहं, धुउ पहाउ ण हु सीसइं।
परकाय-पवेसणु, किय-सासयतणु तिह जिह कइहिं पदीसइ ॥७॥

महु आहासहि पयणिय सम्मइ अइकारुण्णें गिहि-छक्कम्मइं।
जाइं करंतउ भवियणु संचइ दिणि दिणि सुहु दुक्कयहिं विमुच्चइ।
तेहिं विवज्जिउ णरभउ भव्वहं छग्गा-गल-थण-समु गय-गव्वहं।
मइं मइमूढें किं पि ण चिंतिउ पुण्णकम्मु इय कम्मु पवित्तउ।
भव काणणि भुल्लहो महु अक्खहि सम्म-मग्गु सामिय मा वेक्खहि। ५
अमरसूरि तव्वयणाणंतरु पयडइ गिहिछक्कम्महं वित्थरु।

उन्हीं के साथ साथ षट्कर्मोपदेश* इस प्रकार आठ प्रबन्ध, हे सत्यसंध, आपने रच डाले। संस्कृत-प्राकृत के और भी बहुत से काव्य आपने बनाये जिनसे लोगों का मनोरञ्जन होता है। आपने अपने सुकवित्व-द्वारा गुरुकुल और तातकुल दोनों कुलों को पवित्र, शाश्वत और महान बना दिया है। कविजनों के वचनरूपी अमृत को जो पी लेते हैं वे अजर अमर हो कर (सब कुछ) देखते हैं। जैसे राम आदि प्रसिद्धकीर्ति महापुरुष कवि के मुख की महिमा से जीते हुए दिखते हैं। यदि कवि प्रसन्न हो जाय तो अपने को और दूसरे को समानरूप से अक्षयतन और सुप्रसिद्ध कर सकता है। मंत्र, औषधि व देवों की चिरकाल तक सेवा करने पर भी शिष्य को परकाय-प्रवेश करने व अमरशरीर होने का यह प्रभाव नहीं मिला जो एक कवि की सेवा करने में प्रत्यक्ष दिखाई देता है ॥७॥

अब दया करके आप मुझे गृहस्थ के छह कर्मों का उपदेश दीजिये जिनके पालने से भव्य प्राणी प्रतिदिन पुण्य का संचय करता और पापों से छूटता है। इनके बिना निरहंकार भव्य प्राणियों का नरजन्म अजागलस्तन के समान निष्फल है। मैं बुद्धिहीन ने अभीतक पुण्य और पवित्र कर्म कुछ भी नहीं सोचा। अतएव इस भव-कानन में भूले हुए को सन्मार्ग का उपदेश दीजिये। हे स्वामी! अब विलम्ब न कीजिये।"

उनके ऐसे वचन सुनकर अमरसूरि ने तत्काल ही षट्कर्मों का विस्तारपूर्वक विवेचन करना

*यहां प्रस्तुत ग्रन्थ का उल्लेख करना उचित नहीं था क्योंकि इसके रचने की प्रार्थना तो अम्बाप्रसाद ने आगे चलकर की है। किन्तु कवि इस समय तक अपने बनाये हुए कुल ग्रन्थों का उल्लेख करने के आवेग में इस प्रसंग को भूल कर कदाचित् यहाँ यह लिख गये।

सुणि कण्हपुर-वंस-विजयद्धय णियरूवोहामिय-मयरद्धय।
पूयय देवहं सुह-गुरु-वासणा समय-सुद्ध-सज्झाय-पयासणा।
संजम-तव-दाणहं संजुत्तइं जिणदंसणि छक्कम्मइं वुत्तइं।
घत्ता—रयणत्तय-जुत्तउ, सल्लहिं चत्तउ, गुण-सील-तउ-हणियमलु। १०
जो दिणि दिणि पयइं, करइ विहेयइं, मणुयजम्मु तहो पर सहलु॥८॥

२

षट्कर्मोपदेश की अन्तिम प्रशस्ति

(संधि १४ कडवक १८)

विहियाइं सुबुद्धीए पयाइं मए गिहत्थ-कम्माइं।
अमुणंतेण सुइत्थं जिणणाह-पयासियं सम्मं॥६॥

ताइं मुणिवि सोहेवि णिरंतरु हीणाहिउ विरुद्ध णिहियक्खरु।
फेडेवउ ममत्तु भावंतिहिं अम्हहं उप्परि बुद्धि-महंतिहिं।
छक्कम्मोवएसु इहु भवियहो वक्खाणिव्वउ भत्तिइं णवियहो। ५
अंबपसायइं चचिणिपुत्तें गिह-छक्कम्म-पवित्त-पवित्तें
गुणवालहु सुयण विरयाविउ अवरेहिं मि णियमणि संभाविउ।
बारह सयहं ससत्त-चयालिहिं विक्कम-संवच्छरहु विसालहिं।
गयहिं मि भद्दवयहु पक्खंतरि गुरुवारम्मि चउद्दसि वासरि।
इक्कें मासें इहु सम्मत्तिउ सइं लिहियउ आलसु अवहत्थिउ। १०

प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने कहा "अपने रूप से मकरध्वज को भी लजानेवाले, हे कृष्णपुरवंश के विजयध्वज ! सुनो। देवों की पूजा, सद्गुरु की उपासना, शुद्ध आम्नाय के शास्त्रों का स्वाध्याय, संयम, तप और दान, ये ही मिलकर जैनदर्शन में षट् कर्म कहे गये हैं। रत्नत्रय से युक्त होकर, शल्यों का त्याग करके, गुण, शील तथा तप द्वारा पापों का नाश करता हुआ जो कोई प्रतिदिन इन सत्कर्मों को करेगा उसका मनुष्य जन्म पूर्णरूप से सफल है।

२

यद्यपि जिनेश्वर भगवान् द्वारा प्रकाशित श्रुति के अर्थ का मुझे अच्छी तरह ज्ञान नहीं है तथापि इन गृहस्थ-कर्मों का मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार व्याख्यान किया है। इसमें जो कुछ हीन, अधिक या विरुद्ध शब्द आगये हों उन्हें बुद्धिमान मेरे ऊपर ममत्व भाव रखकर विचारपूर्वक शोध लेवें और इस षट्कर्मोपदेश का व्याख्यान नये भव्य पुरुष को सुनावें। इसकी रचना षट्कर्म-द्वारा पवित्र हुए, चचिंणी के पुत्र, गुणपाल के सुत अम्बाप्रसाद ने कराई है और दूसरे सज्जनों ने भी अपने हृदय में इसका सम्मान किया है।

णंदउ परसासण-णिण्णासणु सयलकाल जिणणाहहु सासणु।
णंदउ तह वि देवि वाएसरि जिणमुह-कमलुब्भव परमेसरि।
णंदउ धम्मु जिणिंदें भासिउ णंदउ संघु सुसीलें भूसिउ।
णंदउ महिवइ धम्मासत्तउ पय परिपालण-णाय महंतउ।
णंदउ भवियणु णिम्मल-दंसणु छक्कम्महिं पावियजिणसंसणु। १५
णंदउ अंबपसाउ वियक्खणु अमरसूरि-लहु-बंधु सुलक्खणु।
णंदउ अवरु वि जिण-पय-भत्तउ विबुह-वग्गु भाविय-रयणत्तउ।
घत्ता—णंदउ णिरु तावहिं सत्थु इहु अमरकित्ति-मुणि-विहिउ पयत्तें।
जावहि महि मारुव-मेरु-गिरि-णहयलु अंबपसायणिमित्तें॥१८॥

इय छक्कम्मोवएसे महाकइसिरि-अमरकित्ति-विरइए महाकव्वे महाभव्व-अंबपसायाणु-मण्णिए तव-दाण-वण्णणोणाम चउद्दसमो संधी परिच्छेओ समत्तो॥ छ॥ संधि॥ छ॥१४॥

विशाल विक्रमसंवत्सर के १२४७ वर्ष बीतने पर भाद्रपद मास के द्वितीय पक्ष की चतुर्दशी तिथि गुरुवार को एक मास में यह ग्रंथ समाप्त हुआ। मैंने आलस छोड़ कर स्वयं इसे लिखा है।

विरोधी शासन का नाश करनेवाला जिनशासन सदा काल आनन्द करे। उसी प्रकार तीर्थंकर के मुखकमल से उत्पन्न परमेश्वरी वागीश्वरी देवी आनन्द करे। जिनेन्द्र-द्वारा भाषित धर्म आनन्द करे। सच्छील से भूषित संघ आनन्द करे। धर्म में आसक्त, प्रजा के परिपालन और न्याय में बढ़ा-चढ़ा महीपति आनन्द करे। निर्मल दर्शन का स्मारक तथा षट्कर्मों द्वारा जिनशासन का पालक भव्य आनन्द करे। अमरसूरि के लघुबन्धु, शुभलक्षणों से संयुक्त और बुद्धिमान अम्बाप्रसाद आनन्द करें। और भी जिनपद-भक्त तथा रत्नत्रय का धारक बुद्धिमान-वर्ग आनन्द करे। यह अम्बाप्रसाद के निमित्त अमरकीर्ति मुनि-द्वारा प्रयत्नपूर्वक बनाया हुआ शास्त्र इस लोक में तबतक आनन्द करे जबतक यह पृथ्वी है, पवन है, मेरुगिरि है और आकाश है।

इति महाभव्य-अम्बाप्रसादानुमत, महाकवि अमरकीर्ति-विरचित षट्कर्मोपदेश महाकाव्य का तप-दान-वर्णन नामक चतुर्दश संधि परिच्छेद समाप्त॥ संधि १४॥

३

षट्कर्मोपदेश के वे संधिपद जिनमें कवि व उनके प्रेरक के नाम आये हैं।

संधि घत्ता

१, १३, सो लोइ थुणिज्जइ साहु भणिज्जइ अमरकित्ति-पयणिहिय-मणु।
वज्जिय-कुवियप्पउ हय-कंदप्पउ अंबपसाय-सु(कु)सीलहणु ।

२, ११, परकालि वि सो चिरु दुच्चरिउ भवकोडीहिं समज्जिउ।
लहु अंबपसायं लहइ सुहु अमरकित्तिगणि-पुज्जिउ॥

३, १, जिणंग-विलेपण पुण्ण समिद्ध। कहा सुणि अंबपसाय पसिद्ध।

३, २३, जो गंधहिं अग्गिसु सुयंधहिं अमरकित्ति समलहइ जिणु।
सासय सुहु सो पावइ लहु अंबपसाय विसुद्धमणु॥

४, २६, तइयइ भवि होएवि णरवरा। पालिवि रज्जु धरिवि संजमधरा।
अमरकित्ति-अक्खय सुह भायण। अंबपसाय हवेसहिं पावण॥

५, १४, ते पाविवि सासयणयरि पउ अमरकित्ति होइवि अच्छेसहिं।
सिद्ध-सहावियणाणतणु अंबपसाय सयलु पिच्छेसहिं॥

६, १, जिण णेवज्ज-कहा आयण्णहि। अंबपसाय भविय मणि मण्णहि।

६, १४, सत्त भव वि होएविणु णिवइ अमरकित्ति सो सुरवरु।
मणि भावहि अंबपसाय तुहुं पावेसइ थिर पुरवरु॥

७, १, णिसुणि महासइ चच्चिणि-णंदण। विरइय अमरसूरि गुरु-वंदण।

७, ८, णरजम्मु लहेविणु कयतवहिं अमरकित्तिगणि-संसिया।
ते होसहिं अंबपसाय पुण, सिद्ध तिलोय-णमंसिया॥

८, १८, अवरु वि जो भत्तउ, थिरसम्मत्तउ, अमरकित्ति-जिणु पुज्जइ।
धूवें सो सिवसुहु णिहणिय-भवदुहु, अंबपसाय समज्जइ॥

९, १, ताहं कहा वज्जरमि पयत्तें। अंबपसाय णिसुणि सहियत्तें।

९, ११, अट्ठविहु वि पूयाहि फलु अमरकित्ति सुहलच्छि पयासणु।
अंबपसाय सुणंताहं जं कुणेइ जीवाहं भव-णासणु॥

१०, १, णिसुणि कहा तहो पवरविहाणहो। अंबपसाय सुपुण्णणिहाणहो।

१०, १२, जिण-पूय-पुरंदर-विहि करइ इक्कवार जो इत्थु णरु।
सो अंबपसाय हवेइ लहु अमरकित्ति-तियसेसरु॥

११, १, अणिसु करिज्जइ सुगुरुवासणा। अंबपसाय दुरियणिण्णासणा।

११, ११, सज्झायहु सण्णिहु णत्थि परु अमरकित्ति सुहठाणु वरिट्ठउ।
अंबपसाय करंतु णिरु जं णरु पावइ णाणु भणिट्ठिउ॥

१५, ५, पंचिंदियसंजमु भणिउ संखेवें अवरु वि आयण्णहि।
गुणवाल-सुय णयणय गुरु (?) पालिय संजमु बहुगुण मण्णहि॥

१२, १८, सम्मत्तसुद्धि इय मई कहिय अमरकित्ति-जिणदेसिय।
भाविज्जसु अंबपसाय तुहुं णियमणम्मि सविसेसिय॥

१३, १७, वयवंतु मरइ सल्लेहणइं अमरकित्ति सुहु पावइ।
सुणि अंबपसाय विसुद्धमणु भवसम्मुहउ ण आवइ॥



कविवर श्रीजिनसेनाचार्य्य और पार्श्वाभ्युदय

(ले०—त्रिपाठी भैरव दयालु शास्त्री, बी० ए०, साहित्योपाध्याय)



(गतांक से आगे)

इस चरण से यह व्यक्त होता है कि कालिदास का यक्ष मदनाग्नि से इस प्रकार व्यथित है कि उसे चेतन अचेतन का ज्ञान तनिक भी नहीं रह गया है। परन्तु, यहां—

"योगिंस्तस्मिन् जलदसमये प्रस्खलेर्नात्मधैर्य्यात्।
कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु॥"

जिनसेन जी की निराली चतुरता चमक रही है। जो 'कामार्त्ता' विशेषण मेघदूत में यक्ष की प्रकृष्ट कामिता का प्रद्योतक है, वही विशेषण यहाँ योगी पार्श्वनाथ जी को दिया गया है। किन्तु योगी काम से पीड़ित नहीं, बल्कि अपने काङ्क्षित लक्ष्य की ओर व्यग्र भाव से दौड़नेवाला बताया गया है। इस प्रकार अपने तीर्थङ्कर के 'कामार्त्ता' इस विशेषण से उत्कृष्ट गुण को दिखा कर जिनसेन जी ने अपनी धर्मप्रियता का उज्ज्वल परिचय दिया है। गौर से देखिये, क्रोधाभिभूत, खून का प्यासा शत्रु यक्ष योगी की तपस्या से किस प्रकार प्रभावित होता है और अपने शिकार को "योगिन्" ऐसे शब्द से सम्बोधित करता है।

थोड़ा आगे बढ़कर देखने से जिनसेन जी की निपुणता का और भी पता चलता है। वहाँ तो कालिदास का यक्ष मेघ को अपना छोटा भाई कल्पित कर भ्रातृजाया यानी अपनी पत्नी को देखने का अधिकारी बनाता है। परन्तु यहाँ जिनसेन जी के यक्ष की कल्पना नहीं करनी है। योगी तो उसका छोटा भाई है ही। इसलिये भ्रातृजाया के दर्शन का अधिकार उसे स्वतः प्राप्त है। कालिदास ने मेघ के सम्बन्ध में जो जो बातें कही हैं, उन का समावेश करने के लिये जिनसेन जी ने मेघ की कल्पना कर ली है। मेघ को ऊपर जाने की शक्ति रहती है, इसलिये अलकापुरी का जाना उसके लिये सुगम था। जिनसेन का दूत भौतिक शरीर छोड़ कर ऊर्ध्वगति प्राप्त करता है, और इस प्रकार अलकापुरी जाने में समर्थ बताया गया है। यों अनेकों कल्पनायें कर जिनसेनाचार्य्य ने अपना रास्ता सुगम बनाया है।

"उपमा कालिदासस्य" यह उक्ति जगत्-प्रसिद्ध है। अब देखना चाहिये कि हमारे कवि ने उन उपमाओं को लेकर कैसी रचना की है।

"येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते।
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः॥"

कालिदास की उपमा तो उपमा ही है, पर हमारा कवि भी पीछे नहीं पड़ा है। वहाँ तो

बहुरंगी धनुष और बिजली की चमक से मेघ मयूरपिच्छधारी पीताम्बर कृष्ण की शोभा पाता है, और पार्श्वाभ्युदय में—

"खड्गस्यैकं कथमपि दृढं मे सहस्व प्रहारम्
वक्षोभागे कुलिशकठिने प्रोज्ज्वलद्रक्तधारम्
विद्युद्दण्डस्फुरितरुचिना वारिदस्येव भूयः।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते॥"
"शङ्कोरेवं प्रहतमथवा धत्स्व शूराग्रणी मे।
पिच्छोपाग्रप्रततिरुचिरं येन शोभाधिका ते
क्रीड़ाहेतोर्विरचिततनोरिन्द्रनीलत्विषः स्या—
द्बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः॥"

खड्ग बिजली का काम करता है और बाण का पिच्छ सप्तरंगों को धारण करता है। योगी के शरीर को यक्ष ने काला बताया ही है। इस प्रकार कवि जिनसेन जी की उपमा स्वभाविकता में शोभ रही है और कालिदास की उपमा तक पहुँचने का प्रयास कर रही है। इतनी सामग्रियों को एकत्रित कर कवि समस्यापूर्ति के दुर्वह भार को वहन करता है, अतः वह अवश्य ही प्रशंसा का पात्र है।

जब कालिदास के शृङ्गार रस की अविरल धारायें चारों ओर से सिर पर गिरती दीखने लगती हैं, तो अपने योगी को योगभ्रंश के भय से बचाने के लिये जिनसेन जी झटिति उन्हें योगबल से मेघ का रूप धारण करने का आदेश देकर उन्हें कामुकता के गोरख-धन्धे से बचा लेते हैं। कैसी चतुराई है। ऐसा हो जाने पर सारी की सारी समस्यायें सीधी हो जाती हैं, रास्ता सरल हो जाता है और

"ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः।"

के दोष से योगी बरी हो जाता है। कवि की कल्पना ने अद्भुत छटा दिखायी है।

"मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीन्तनोति।"

कलाधर की कलङ्कालिमा उनकी कांति को और भी कमनीय बनाती है। कविगण अपने काव्यों को उत्कृष्ट बनाने के लिये भगीरथ प्रयास करते हैं। रचना रसमय हो, गुणों का आगार हो, रीति रमणीय हो, भाव अनूठे हों, शैली सुन्दर हो, शब्द गम्भीर हों, भाषा मनोहर हो, यही उनके लक्ष्य रहते हैं। इसी अभीष्ट की सिद्धि के लिये उन्हें जी-तोड़ परिश्रम करना पड़ता है। परिस्थिति में जिस प्रकार अवसर पा मनुष्य को असावधान देख रोग के अप्रिय अवाञ्छित कीड़े शरीर में घुस जाते हैं, उसी प्रकार कवियों की रचनाओं में श्रुतिदुष्टादि दोष चुपके से प्रविष्ट हो जाते हैं। इसीलिये साहित्य-दर्पणकार को कहना पड़ा कि सर्वथा निर्दोष काव्य सदा असम्भव है। परन्तु ये दोष चन्द्रकिरण की नाईं काव्य के गुणों के प्रद्योतक ही होते हैं। अस्तु,

प्रिय पाठक ! आप जान ही चुके हैं कि हमारे कवि को दूसरे की बन्दरी को नचाना पड़ा है। उस पर आफत यह कि जो नाच बन्दरी को अभ्यस्त है, वह नाच नहीं, बल्कि, बिलकुल विपरीत और निरा नवीन। ऐसी कठिनाई का सामना कवि को करना पड़ा है। अब यदि कुछ अपकर्ष बलात्कार आ घुसे हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

"..........................शुष्कवैराग्यहेतोः।
स्तस्मिन्नद्रौ कतिचिद्बलाविप्रयुक्तः स कामी॥"

इत्यादि के द्वारा कामी कमठ में वैराग्य का प्रदर्शन प्रथम दृष्टि में विरुद्ध ही जान पड़ता परन्तु वैराग्य का यह एक 'शुष्क' विशेषण विरोध का मार्जन कर कमठ के वैराग्य को निष्फल बता काव्य को परिपुष्ट कर देता है।

"मेघैस्तावत्स्तनितमुखरैः विद्युदुद्योतहासैः
चित्तक्षोभान् द्विरदसदृशैरस्य कुर्वे निकुर्वन्
....
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः

इस पद्य में मेघ-गर्जन से योगी के हृदय में चित्त-क्षोभ पैदा करने का प्रयास कमठ कर रहा है। क्योंकि वह समझता है कि योगी वियुक्त है, और वियुक्त के हृदय में मेघ-दर्शन से विकार का होना स्वाभाविक है। यदि ऐसी बात सम्भव होती तो योगी की तपस्या ही कलुषित हो जाती और काव्य में महान दोष लग जाता। परन्तु यह कल्पना क्रोधान्ध कमठ की है, अतः दोष के बदले यह उत्कर्ष ही जनाती है।

"किन्ते वैरिद्विरदनघटाकुम्भसम्भेदनेषु
प्राप्तस्येमा समरविजयो वीरलक्ष्म्याः करोऽयम्।
आस्मत्खड्गः द्युतिपथमगाद्रक्तपातोत्सवानाम्
सम्भोगान्ते मम समुचितो हस्तसम्वाहनानाम्॥

कालिदास के "सम्भोगान्ते" इत्यादि इस चरण से शृङ्गार रस अविराम प्रवाहित होता है। ऐसे भाव को भी कवि ने समस्यापूर्ति के सांचे में ढाल कर शृङ्गार रस से हटा पूर्णतया वीर रस में पहुंचा दिया है। यद्यपि इसके लिये उन्हें 'सम्भोग' इस पद्य के प्रसिद्धार्थ का परित्याग करना पड़ा है और 'अनुभव' यह अर्थ ग्रहण करना पड़ा है, तथापि इतने महान् परिवर्त्तन के अद्भुत चमत्कार के सामने प्रसिद्धार्थ परित्यागदोष ठहर नहीं सकता। हां,

"इति विरचितमेतत्काव्यमावेष्ट्य मेघम्
बहुगुणमपदोषं कालिदासस्य काव्यम्।
मलिनितपरकाव्यं तिष्ठतादाशशाङ्कं
भुवनमवतु देवः सर्वदामोघवर्षः"॥

काव्य का यह अन्तिम श्लोक आत्म-प्रशंसा से गूंज रहा है। यह पाठकों की आँखों में आत्माभिमान सा खटकता है। परन्तु, जिनसेन जी ने इसमें ऐसी युक्ति निकाली है कि "बहुगुणमपदोषं, मलिनितपरकाव्यम्" इत्यादि विशेषण मेघदूत के भी हो सकते हैं, और इस तरह आत्मश्लाघा के दोष से अपने को बचा लिया है।

अस्तु, प्रिय पाठक वृन्द ! श्रीजिनसेनाचार्य्य ने रौद्र वीर, शान्त इत्यादि प्रायेण शृङ्गार-विरोधी रसों में शृङ्गार की सजीव मूर्त्ति को परिवर्त्तित कर के अपनी बुद्धि की चमत्कारिता का परिचय दिया है। मैंने यथासाध्य समयानुकूल इस काव्य के गुणदोषों का विवेचन तो किया है, परन्तु पग-पग पर कवि की अम्बरविहारिणी कल्पना ,हृदयग्राहिणी भावपरम्परा, रमणीय रचना उनके उत्कर्ष को मुक्त कण्ठ से स्वीकार करने को बाध्य कर ही देती है। इच्छा थी कि अपने प्रेमी पाठकों के सम्मुख इस अनुपम काव्य के सर्वाङ्ग का स्वरूप रक्खूं। पर, समयाभाव और लेख के बृहदाकार हो जाने के भय से मैंने इस काव्य के केवल कुछ ही अंश की छानबीन की है। यदि मेरे इस लेख से पाठकों का कुछ भी मनोविनोद हुआ तो समय पर फिर भी मैं अपने तुच्छ उपहारों को लेकर उनके सामने उपस्थित हूंगा।

सं० नोट—प्रातःस्मरणीय महाकवि जिनसेनाचार्यरचित पार्श्वाभ्युदय के विषय में इस समय मैं अपनी ओर से कुछ भी न लिखकर "हिन्दीविश्वकोष" भाग ८, पृष्ठ ३१७ की ही कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत किये देता हूं :—

"यह ३६४ मन्दाक्रान्ता वृत्तों का एक खण्ड काव्य है। संस्कृतसाहित्य में यह अपने ढंग का एक ही काव्य है। इसमें महाकवि कालिदास के सुप्रसिद्ध 'मेघदूत' काव्य में जितने श्लोक हैं और उन श्लोकों के जितने चरण हैं वे सब एक-एक वा दो-दो कर के इसके प्रत्येक श्लोक में प्रविष्ट कर दिये गये हैं, अर्थात् मेघदूत के प्रत्येक चरण को समस्यापूर्त्ति कर के यह कौतुकावह ग्रन्थ रचा गया है। इसमें पार्श्वनाथ स्वामी की पूर्व जन्म से लेकर मोक्षप्राप्ति तक विस्तृत जीवनी वर्णित है। मेघदूत और पार्श्वचरित्र के कथानक में आकाश-पाताल का पार्थक्य है, तथापि मेघदूत के चरणों को लेकर पार्श्वनाथ का चरित्र लिखना कितना कठिन है, इसका अनुमान काव्यरचना के मर्मज्ञ ही कर सकते हैं। ऐसी रचनाओं में क्लिष्टता और नीरसता का होना स्वाभाविक है, किन्तु 'पार्श्वाभ्युदय' इन दोनों दोषोंसे साफ बच गया है। इसमें सन्देह नहीं कि इनकी रचना कविकुलगुरु कालिदास की कविता के जोड़ की है। अध्यापक के० बी० पाठक का कहना है—

......"The first place among Indian poets is alloted to Kalidas by consent of all ; Jinasena, however claims to be considered a higher genius than the author of cloud Messenger (Meghaduta)"

अर्थात् "यद्यपि सर्वसाधारण की सम्मति से भारतीय कवियों में कालिदास को पहला स्थान दिया गया है, तथापि जिनसेन मेघदूत के कर्त्ता की अपेक्षा अधिकतर योग्य समझे जाने के अधिकारी हैं।"

के० बी० शास्त्री

महाराज जीवन्धर का हेमांगद देश और क्षेमपुरी

(ले०—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

महाराज जीवन्धर श्रीमहावीर स्वामी के समकालीन तद्भव-मोक्षगामी कलाविज्ञ एक प्रतापी जैन राजा थे। श्रेणिकादि समकालीन अन्यान्य कतिपय जैन राजाओं के समान इन्हें भी ऐतिहासिक व्यक्ति मानने में किसी को किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिये। महाराज जीवन्धर हेमाङ्गद देश के शासक रहे। हेमांगद की राजधानी राजपुरी थी। इस लेख में सर्वप्रथम मुझे हेमाङ्गद देश ही पर कुछ प्रकाश डालना है। कनिंगहम साहब के "अनशेंट जागरफी ऑफ् इण्डिया" के आधार पर बाबू कामता प्रसादजी ने अपने "संक्षिप्त-जैन-इतिहास" २य भाग १म खण्ड आदि में वर्तमान मैसूर या उसके निकटवर्ती भूभाग को जीवन्धर का हेमाङ्गद देश बतलाया है। उनसे पूछताछ करने पर मुझे यह भी ज्ञात हुआ है कि कनिंगहम साहब के उक्त कथन में हेमाङ्गद के पास सुवर्ण की खान, मलय पर्वत आदि का होना ही एकमात्र कारण है। परन्तु जीवन्धर के जीवनी-विषयक स्वतन्त्र रूप से रचित जीवन्धर-चरित्र, जीवन्धर-चम्पू, क्षत्रचूड़ामणि, गद्य-चिन्तामणि, जीवन्धरचरिते (कन्नड़) इन ग्रन्थों से हेमाङ्गद के पास सुवर्ण की खान, समुद्र, मलय पर्वत आदि का होना सिद्ध नहीं होता। पता नहीं कि कनिंगहम साहब ने किस आधार पर हेमाङ्गद के निकट मलय पर्वत आदि उल्लिखित वस्तुओं का अस्तित्व माना है। संभव है कि कनिंगहम साहब के कथनानुसार किसी ग्रन्थ में मलय पर्वतादि हेमांगद के विशेषणरूप में मिलते हों। पर मेरा निजी अनुमान है कि जीवन्धर का हेमाङ्गद दक्षिण भारत में न हो कर उत्तर भारत में ही था। क्योंकि मुनि के पूर्व कथनानुसार जिस समय गन्धोत्कट सद्योजात जीवन्धर को श्मशान से घर लेगया उसी समय धात्री-वेशधारिणी देवी, रानी विजया को दण्डकारण्य में तपस्वियों के समीप छोड़ कर स्वयं किसी बहाने से चली गयी थी।[1] वह दण्डकारण्य प्राचीन काल में विन्ध्यपर्वत से लेकर गोदावरी के किनारे तक विस्तृत था। इसी वन में श्रीरामचन्द्र ने वनवास-काल में १४ वर्ष बिताये थे। इस वन का बहुत अंश आज भी वर्तमान है।[2] इस घटना से एक प्रकार से निश्चित सा हो जाता है कि राजपुरी इस दण्डकारण्य से अधिक दूर पर न रह कर इसी के आसपास में कहीं थी।

---

१ "क्षत्रचूड़ामणि" प्रथम लम्ब देखो।

२ हिन्दी-विश्वकोष भाग १० पृष्ठ १४४।

दूसरा कारण यह है कि जीवन्धर, यक्ष की अनुमति से उनसे विदा ले एवं चलकर पल्लवदेशस्थ चन्द्राभा नगरी में पहुँचते हैं और मन्त्रप्रभाव से सर्पविष से मरणोन्मुखी राजा धनपति की पुत्री पद्मा को जीवनदान देकर पीछे राजा के एकान्त आग्रह से इसी पद्मा को अग्निसाक्षिपूर्वक स्वीकार करते हैं। बाद जीवन्धर स्वामी कुछ दिन वहीं रहकर वहाँ से बिना किसी से कुछ कहे सुने चुपचाप चलकर मार्ग में अनेक तीर्थ-स्थानों की वन्दना करते हुए—दक्षिणदेश[1] की क्षेमपुरी या क्षेमपुर के सहस्रकूट चैत्यालय में पहुँचते हैं[2]। अगर जीवन्धर का हेमाङ्गद दक्षिण भारत में होता तो जीवन्धर की दक्षिणयात्रा का यह उल्लेख नहीं मिलता।

तीसरा कारण यह है कि जीवन्धर क्षेमपुरी में भी कुछ ही दिन रहकर जब हेमाभा नगरी में पहुंचे और वहां राजकुमारी कनकमाला से विवाह कर अपने शालों के आग्रह से वहीं रहने लगे तब भाई नन्दाढ्य और पद्मास्य आदि उनके मित्र भी वहीं पहुँचे। वहाँ पर जीवन्धर से पद्मास्य इस प्रकार कहता है—"आपके विरह से दुःखित हमलोग आपकी सेवा में आते हुए कुछ समय के लिये दण्डकारण्य में ठहरे। वहाँ तपस्वियों के आश्रम

---

१ (१) ततस्तस्माद्विनिर्गत्य देशे दक्षिणनामके। सहस्रकूटमाश्रित्य श्रीविमानं नुनाव सः॥

(क्षत्रचूडामणि लम्ब ६ श्लोक ३२)

(२) × × × तद्वनान्निर्गत्य निसर्गरुचिरं नगरप्रमुखै रोचितमपि नरोचितं सर्वोत्तरमपि नाम्ना दक्षिणदेशमासाद्य × × × ×

(जीवन्धरचम्पू लम्ब ६ष्ठ, पृष्ठ ६६-६७)

(३) × × × जन्तुसंरक्षणदक्षस्य विडम्बितक्षोणीपतेर्दक्षिणदेशस्य मणिमुकुटायमान-विकटशिखरचुलुकिताम्बरं जाम्बूनदोपपादितस्थूलस्थूणासहस्रसंबाधमखिडतमण्डपमकाण्ड-भवदाखण्डलधनुः काण्डशंकानिष्पादनशौण्डनैकपुष्पोपहारमहरहरभिवर्धमानसपर्ममविल-म्बं कमपि श्रीजिनालयमद्राक्षीत्।

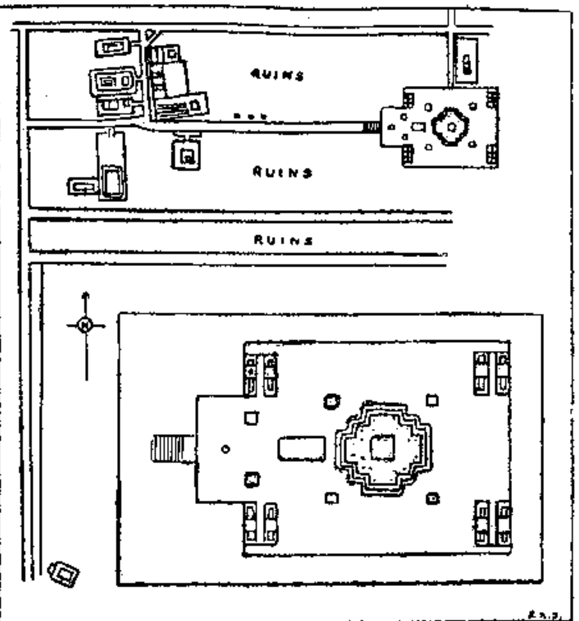
(गद्यचिन्तामणि लम्ब ६ष्ठ पृष्ठ १५२)

(४) मेरेव दक्षिणदिक्किनलि वं। धुरद विषयदि विमलपुरवर। करसु नरपति यापुरदि गुणभद्रनेंदेंव॥ परदनिहनातन कुमारिति। वरसतिय माणिक्यवेने वि। स्तरदोलेसेदलु मदनमोहनमूर्तियन्ददलि॥

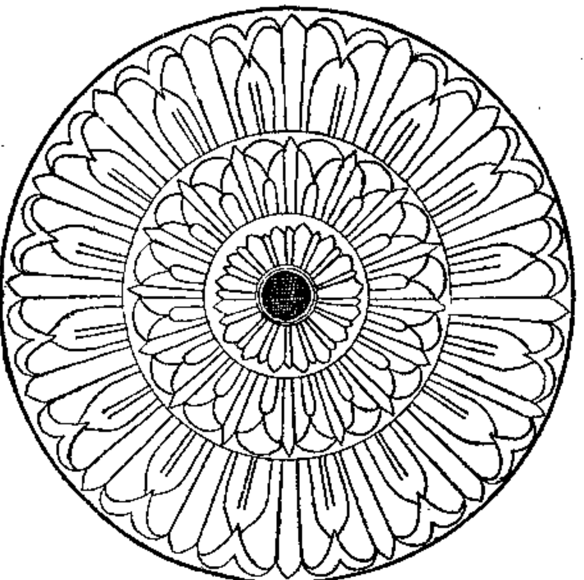
(जीवन्धरचरिते सन्धि १२ पद्य ८)

नोट—इस पद्य में क्षेमपुर के स्थान में 'विमलपुर' मिलता है। ज्ञात होता है कि कवि ने विमल-पुर को क्षेमपुर का पर्यायवाची शब्द मानकर ही यह लिखा है। क्योंकि उन्होंने सन्धिसार-सूचक प्रारंभिक पद्य में उसे क्षेमपुर ही स्पष्ट लिख दिया है।

२ देखो—क्षत्रचूडामणि लम्ब ५, ६।



JAINA city of GERSORPA
AND
CHATUR-MUKHA BASTI
(Destroyed ...)



मूडबिद्री के चन्द्रनाथ-चैत्यालय के खंभों में
खुदी हुई हस्तकला के नमूने

(श्रीयुत एस० चन्द्रराज के सौजन्यसे)

के देखने के लिये इधर उधर घूमते हुए हम सबों ने एक स्थान पर किसी एक पुण्य-माता—आपकी माता के देखा। उन्होंने हमलोगों से पूछा कि तुमलोग कहाँ के रहने वाले हो और कहाँ जा रहे हो। फिर हमने आपकी घटना की सारी बातें उन माननीय माता को सुनाईं। यह सुनकर उन्हें दारुण दुःख हुआ। बाद उन्हें बारबार आश्वासन दे एवं उन से आज्ञा लेकर आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं।'[1] पद्मास्य-द्वारा की हुई उल्लिखित दण्डकारण्य की चर्चा से भी यही ज्ञात होता है कि हेमाङ्गद देश विन्ध्य पर्वत के दक्षिण में नहीं था; किन्तु उससे उत्तर। क्योंकि उस समय जीवन्धर दक्षिण में ही थे।

अब लीजिये चौथा कारण। जीवन्धर स्वामी मित्रश्रेष्ठ पद्मास्य के मुख से पूज्यमाता की चर्चा सुनकर उनके दर्शनों के लिये विशेष उत्कण्ठित हुए। श्वशुर आदि से आज्ञा लेकर उन्होंने वहाँ से चल तथा दण्डकारण्य में पहुँच कर अपनी माता का दर्शन किया। फिर उसी समय वह अपनी माता के मामा के पास भेजकर स्वयं राजपुरी के चलपड़े[2]। इनके मामा गोविन्द विदेह (मिथिला) के धरणी-तिलक नगरी के राजा थे। पीछे जीवन्धर ने इन्हीं अपने मामा की सहायता से काष्ठाङ्गार के परास्त किया था। स्वामिद्रोही काष्ठाङ्गार को परास्त करने के लिये गोविन्द राजा जीवन्धर-कुमार के साथ विदेह से कुछ ही दिनों में राजपुरी पहुँचे थे[3]। अगर हेमाङ्गद देश दक्षिण भारत में होता तो कुछ ही प्रयाणों (पड़ावों) में गोविन्दराज का विदेह से राजपुरी पहुंचना सम्भवपरक नहीं था। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि विदेह से हेमाङ्गद की राजधानी अधिक दूर पर नहीं थी। साथ ही साथ यह भी संभव नहीं है कि गोविन्दराज अपनी बहन विजया के विदेह से अधिक दूरवर्ती दक्षिण भारतीय राजपुरी में व्याह देता। प्राचीन मिथिला (वर्तमान तिरहुत) के विदेह कहने में मैं समझता हूं कि किसी के मतभेद नहीं हो सकता।

---

१ देखो—"क्षत्र-चूडामणि" लम्ब ७, ८। 　　२ देखो. "क्षत्रचूडामणि" लम्ब ८।

३ (१) अथ राजपुरीं प्राप्य राजा कैश्चित्प्रयाणकैः।
निकषा तत्पुरीं क्वापि निषसाद महाबलः॥

(क्षत्रचूडामणि लम्ब १० श्लोक २०)

(२) × × × मायूरातपत्रसहस्रान्धीकृताष्टदिङ्मुखमनीकं पुरोधाय, कैश्चित्प्रयाणैर्गोविन्दराजः क्वचन राजपुरीं निकषा निषसाद।

(जीवन्धरचम्पू लम्ब १० पृष्ठ १०१)

(३) × × × बलिक गोविन्दावनीश्वर। द्दलवु पयणदोललुजे सहिता। × × × ×

(जीवन्धरचरिते सन्धि १५, पद्य ३)

पाँचवा कारण यह है कि महाराज जीवन्धर की मुक्ति भी वर्तमान पटना जिलान्तर्गत राजगृह के विपुलाचल पर्वतपर ही हुई है[१]। ऐसी दशा में महाराज जीवन्धर के हेमाङ्गद को दक्षिण भारत में खींच ले जाना मुझे तो युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। उल्लिखित कारणों से मेरा अनुमान है कि हेमाङ्गद विन्ध्यपर्वत के उत्तर का ही कोई प्रदेश होना चाहिये। इस विषय पर अन्यान्य विद्वान् भी अवश्य विचार करेंगे।

मैं अब जीवन्धर की क्षेमपुरी या क्षेमपुर के सम्बन्ध में भी अपना विचार प्रकट कर देना चाहता हूँ। वर्तमान बंबई प्रान्तान्तर्गत उत्तर कन्नड जिला का गेरुसोप्पे ही प्राचीन क्षेमपुरी या क्षेमपुर था[२]। गेरुसोप्पे का दूसरा नाम भल्लातकीपुर है। यह होन्नावर से पूरब अठारह मील दूर पर अवस्थित है। गेरुसोप्पे में शासन करनेवाले सालुवशासकों का विस्तृत विवरण एपिग्राफिका कर्नाटिका भाग VIII एवं इसी के अन्यान्य भागों में भी मिलता है। मूडबिद्री के त्रिभुवन-तिलक-चैत्यालय (होसबस्ति) के पाँचवे शिलालेख से ज्ञात होता है कि सालुववंशी नारणाङ्क स्थानीय (मूडबिद्री) मठाधीश श्रीचारुकीर्त्ति जी का परम भक्त था[३]। इस शिलालेख में उक्त नारणांक के वंश का विस्तृत परिचय भी उपलब्ध होता है।

गेरुसोप्पे चिरकालतक जैनसाम्राज्य-शासन में रहा। आज भी इसके आस ही पास डेढ़ मील की दूरी पर "नगरबस्ति केरी" में कई प्राचीन जैनमन्दिर भग्नावस्था में मौजूद हैं जो इस बात को प्रकट कर रहे हैं कि यह एक समृद्धशाली पुरातन नगर था। स्थानीय लोगों का अनुमान एवं विश्वास है कि अपने महत्त्व के दिनों में यहां पर एक लाख घर तथा चौरासी मन्दिर विद्यमान थे। यहां के मन्दिरों में सबसे बड़े महत्त्व का एक चौमुखा जैनमन्दिर है। इसके चार द्वार हैं तथा इसमें चार प्रतिमायें विराजमान हैं। पाँच और

---

१ × × × × विपुलाद्रौ हुताशेषकर्मा शर्माग्रयमेष्यति।
इष्टाष्टगुणसम्पूर्णो निष्ठितात्मा निरञ्जनः॥

(गुणभद्राचार्यकृत उत्तर-पुराणान्तर्गत जीवन्धरचरित्र पृष्ठ ५४ श्लोक ४०५—शास्त्री कुप्पु-स्वामिद्वारा तांजोर में प्रकाशित)।

२ देखो—B. L. Rice's, Mysore and Coorg Inscriptions p. 152.

नोट—इस बात की सूचना मिस्टर एम० गोविन्द पै ने मुझे दी है, तदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं।

३ "क्षेमपुरद श्रीचण्डोग्रपार्श्वतीर्थेश्वरचरणकिंकरर श्रीमच्चारुकीर्त्तिपण्डिताचार्यवर्य्यपदपद्म-भृंगायमान(स) रूमप्प सालुवनारणांकन"।

जीर्ण जैन मन्दिर हैं, जिनमें भिन्न भिन्न तीर्थङ्करों की मूर्त्तियाँ और कई शिलालेख भी मौजूद हैं[1]।

यह एक किम्वदन्ती है कि विजयनगर के राजाओं ने ही गेरुसोप्पे के जैनवंश को कन्नड प्रदेश में हस्तावलम्बन दे उन्नत बनाया। किन्तु पता नहीं कि इस किम्वदन्ती में कहाँ तक यथार्थता है। लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी से यहाँ का शासन-भार प्रायः महिलाओं के ही हाथ में रहा। १६वीं और १७वीं शताब्दी के प्रारंभिक काल के करीब करीब सभी लेखक गेरुसोप्पे और भट्कल की महारानी का नाम आदर के साथ लेते हैं। ("बम्बई प्रान्त के प्राचीन जैनस्मारक" पृष्ठ १३५) भैरवदेवी ही गेरुसोप्पे की अन्तिम महारानी थीं और वह सन् १६०८ में मरीं। उत्तर कन्नड जिला प्राचीन काल से ही जैनियों का केन्द्र बन गया था। 'सोदे' में ८ वीं शताब्दी में ही जैनमठ स्थापित हो गया था। ("बंबई प्रांत के प्राचीन जैनस्मारक" पृष्ठ १३७) बल्कि 'राजावली कथा' के आधार पर श्रवणबेलगोल के शिलालेखों के उद्धारक 'राइस' साहेब का कहना है कि इस 'सोदे' का प्राचीन नाम 'सुधापुर' है तथा यहां की गद्दी पर भट्टाकलङ्क भी आसीन थे। इस उत्तर कन्नड

---

१ जीवन्धर-चम्पू, क्षत्रचूडामणि, जीवन्धर-चरिते के रचयिताओं ने जीवन्धर स्वामी के मुख से क्षेमपुर के सहस्रकूट चैत्यालय में भगवान् शान्तिनाथ की स्तुति निम्नलिखित रूप से करायी है :—

(१) "भवभरभयदूरं भावितानन्दसारं, धृतविमलशरीरं दिव्यवाणी-विचारम्।
मदनमदविकारं मञ्जुकारुण्यपूरं, श्रयत जिनपधीरं शान्तिनाथं गभीरम्" ॥

(जी० चं० लम्ब ६ श्लो० १७)

(२) "स्वान्तशान्तिं ममैकान्तामनेकान्तैकनायकः।
शान्तिनाथो जिनः कुर्यात्संसृतिक्लेशशान्तये ॥"

(च० चू० लम्ब ६ श्लोक ३५)

(३) "देव निम्मालयद कदगलु। आव तेरदलि मुच्चिदोडेलो।
कार्वालिय कद केत्तिहुवु शान्तीश्वरने निम्म" ॥× × ×

(जी० च० सन्धि १२ पद्य १६)

किन्तु उक्त क्षत्रचूडामणि के कर्त्ता वादीभसिंह ने ही अपनी "गद्यचिन्तामणि" में उसी सहस्रकूट चैत्यालय में जीवन्धर के द्वारा शान्तिनाथ जी की स्तुति न करा कर भगवान् वर्द्धमान की इस प्रकार स्तुति करायी है :—

(४) तरन्ति संसारमहाम्बुराशिं यत्पादनावं प्रतिपद्य भव्याः।
अखण्डमानन्दमखण्डितश्रीः श्रीवर्द्धमानः कुरुताज्जिनो नः" ॥

(ग० चि० लं० ६, पृष्ठ १५३)

उल्लिखित उद्धरणों से भी पता लगता है कि उस काल में वहाँ (क्षेमपुरी में) भिन्न भिन्न जिन-प्रतिमायें मौजूद थीं।

प्रान्त में भट्टारकों की विरुदावली में आये हुए तीन प्रसिद्ध स्थानों का नाम उपलब्ध होता है। जैसे—उक्त 'क्षेमपुर'—जिसका वर्तमान नाम 'गेरुसोप्पे' है। 'श्वेतपुर' जिसका वर्तमान नाम 'बिळिगे' है। इसी प्रकार 'संगीतपुर'—जिसका वर्तमाय नाम 'हाडुहल्लि' है।[1] (बंबई प्रान्त के प्राचीन जैनस्मारक पृष्ठ १३८) इससे भी पता लगता है कि एक जमाने में यह प्रान्त विशेष समृद्धशाली रहा। गेरुसोप्पे या क्षेमपुर के सम्बन्ध में एक और प्रमाण उपस्थित करदेना मैं समुचित समझता हूँ। वह यह है—"इंतेसव नगरि राज्यद मध्य-प्रदेशदोळ् बळसिदोंप्पुव नंदनावनगळिं कासारनीरेजदिं। कळधौतोज्ज्वल सालकोत्तला-ळिंदट्टाल जालंगळिं। विलसद्गोपुरदिं सुहर्म्यचयदिं श्रीजैनगेहंगळिं। चेलुवं ताळ्दिद गेरुसोप्पे नगरं कोंडाडलार्बल्लरै।"

(मूडबिद्री त्रिभुवन-तिलक-चैत्यालय के शिलालेख से)

वादिराज-कृत यशोधरचरित्र की लक्षण ने एक टीका लिखी है। उनका कहना है कि इस टीका को मैंने क्षेमपुर ही में रचा है[2]। लक्षण का संकेतित क्षेमपुर उल्लिखित 'क्षेमपुर' होने की अधिक संभावना है। साथ ही साथ यह भी संभव है कि जिस नेमिनाथालय में उन्होंने इसकी टीका रची है वह नेमिनाथालय इस समय जो वहां पर भग्नावस्था में मौजूद है यही हो।

मेरा अनुमान है कि यह 'गेरुसोप्पे' जीवन्धर का प्राचीन क्षेमपुर है। इस सम्बन्ध में विद्वानों को अनुकूल या प्रतिकूल प्रमाण उपस्थित कर इस विषय पर अधिक प्रकाश डालना चाहिये। इसी प्रकार जीवन्धर के समकालीन पल्लवदेश की चन्द्राभा नगरी के राजा धनपति, उक्त क्षेमपुरी के राजा नरपति देव, मध्यप्रदेश की हेमाभा नगरी के राजा दृढमित्र, विदेह के धरणी तिलक नगर के राजा गोविन्दराज आदि शासकों एवं इनकी राजधानियों के सम्बन्ध में भी अन्वेषण करने की बड़ी आवश्यकता है।

---

१ "स्वस्ति श्रीमद्रायराजगुरुभूमण्डलाचार्यवर्यमहावादवादीश्वररायवादिपितामहसकलविद्वज्जन-सार्वभौमाद्यनेकविरुदावलीविराजमानश्रीमन्निजघटिकस्थानदिल्लि-कनकाद्रि-श्वेतपुर-सुधापुर-संगीतपुर-क्षेमवेणुपुर-श्रीमद्बेल्गोल-सिद्धसिंहासनाधीश्वरश्रीमदभिनवचारुकीर्ति × × × × ×

२ श्रीमत्पद्मगुणुक्षमदैत्यभिद्दितौ श्रीवर्णिनौ भूतले भातश्चारुचरित्रवार्धिहिमगुस्तत्प्रीतये लक्षणः। मन्दो बन्धुरवादिराजविदुषः काव्यस्य कल्याणदाम् टीकां क्षेमपुरेऽकरोद्गुरुतरश्रीनेमिनाथालये॥

A triennial Catalogue of manuscripts Govt. Library Madras, 1916-17 to 1918-19 Vol. III.—Part I, Sanskrit C. Page 3826.

इतिहास का जैनग्रन्थों के मंगलाचरण और प्रशस्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध

(ले०—श्रीयुत पं० हरनाथ द्विवेदी, काव्य-पुराण-तीर्थ)

बहुतों की धारणा है कि पुराण और इतिहास एक ही पदार्थ है। प्राचीन काल में तो ये दोनों अवश्य ही एक थे, क्योंकि पुराणों के सिवा कोई इतिहास-ग्रन्थ अलग उपलब्ध नहीं होता। वास्तव में पुराण और इतिहास के उद्देशों में भेद है। यह बात प्राचीन ग्रन्थों में स्पष्ट लिखी भी है। क्योंकि इतिहास की व्युत्पत्ति यों है—इति ह पुरावृत्तं आस्ते अस्मिन्, इतिह–आस्–घञ्। पुरावृत्त-कथा ही इतिहास है। इसे बल्कि अष्टादश शास्त्र के अन्तर्गत मानते हैं। क्योंकि यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण में लिखा है :—"ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गीरस इतिहासः पुराणं विद्या सूत्राण्यनु-व्याख्यानानि"।

इतिहास संसार के समस्त वस्तुपरिवर्त्तन का उपाख्यान है। केवल मनुष्य ही तक नहीं पशुपक्षी, कीटपतङ्ग—यहाँतक कि जड़चेतन का भी इतिहास रहता है। इतिहास का चाहे जो अर्थ या उद्देश हो, इस समय वह पुराणों में ही गंगा-यमुना के संगम की तरह मिल गया है। उसके असली स्वरूप का दर्शन किम्वा पुराणों से उसका ठीक ठीक उद्धार असम्भव हो गया है।

इतिहास सब देशों का है। पर हमारे देश का नहीं है, यह बात सर्वथा आदरणीय नहीं। स्मरणातीतकाल से पृथ्वीपर जो देश सभ्य माना गया है, उस देश का इतिहास, उसी समय के अनुसार हो सकता, न कि सभ्यताभिमानी देशों की तरह शृङ्खलाबद्ध तिथि-मिति नवल सम्वत् के लेखों से सुसज्जित। बल्कि यह बात विचारशीलों से अज्ञात नहीं है। कुछ लोगों की धारणा है कि जितने समय का इतिहास अज्ञात है, उतने समय तक हम असभ्य थे। पर यह मन्तव्य भारतवर्ष के लिये प्रमाणभूत नहीं हो सकता। बात यह थी कि प्राचीन समय में जैसी रीति, नीति और आवश्यकता थी तदनुसार ग्रन्थों में बातें कहीं विस्तार से और कहीं संक्षेप से लिखी गयी हैं। परन्तु वे अब इस समय के विचार से लोगों को अनावश्यक जान पड़ती हैं। अब समय-संस्कार की आवश्यकता दूसरे ढंग की है। इसी हमारे देश के ही महानुभावों को प्राचीन लेख-शैली पसन्द नहीं। भला इस दशा में दूसरे देशवाले क्यों कर इसके समर्थक हो सकते हैं?

यों तो जर्मन पुरातत्ववेत्ता हरनीस ने ग्रीस को विश्वसभ्यता का स्रष्टा मानते हुए यह समझा कि, सिकन्दर के आक्रमण के बाद भारतीय सभ्यता की जो वृद्धि हुई, उसका अंग अंग ग्रीस का ऋणी है। संक्षेप में यह कि, आज हम भारत में जो कुछ देख रहे हैं, वह ग्रीस का दिया हुआ है। परन्तु

हैवेल ने उनका पलड़ा ऊपर उठाकर कहा, "नहीं, भारतीय सभ्यता स्वयं विश्व-सभ्यता की जननी है। अपने विकाश के लिये इसे ग्रीसवालों के प्रसाद की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता न थी; बल्कि, उस समय भी भारतवर्ष विश्व का धर्मगुरु ही था।"

इतिहासकारों की इस खींचातानी में नीस की बातों पर विद्वानों ने बहुत ध्यान न दिया। नीस की आँखों पर विचार-संकोच और पक्षपात का चश्मा चढ़ा हुआ था। पर भावुक हैवेल को आचार्य भारत के सभ्यतासूर्य की प्रचण्ड रश्मियों से चकाचौंध सी लग गयी थी। इन दो दलों के कोलाहल को न सुनकर टार्न, स्पूनर, फर्गुसन और स्मीथ जैसे धीर, शान्त और वैज्ञानिक लेखक निष्पक्षता के मन्दिर में सत्य का पता लगा रहे थे। मैं समझता हूं कि, वे सत्यता के बहुत बड़े अंश का पता लगाने में समर्थ हुए हैं।

सिकन्दर की चढ़ाई राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण थी। इसने पहली बार भारत की महत्ता का द्वार यूरोपवालों के लिये खोल दिया। यह सच है कि, भारतवासियों के सामने सिकन्दर का कोई आदर्श समादृत न हो सका। लोगों ने उसकी चढ़ाई को एक साधारण घटना से अधिक न समझा। यहाँ तक कि, कोई बौद्ध, जैन और हिन्दू लेखक इसकी कुछ भी चर्चा नहीं करता है।

इसीलिये भारतवर्ष का इतिहास अजीब पहेली बना हुआ है। इसकी मूल भित्ति का पता लगाना अर्थात् इसकी असली तह तक पहुंचना सिद्ध-शिला का आश्रय लेने के समान हो रहा है। यों तो अब बहुत से विद्वान् कथासरित्सागर जैसे कपोलकल्पित कथाओं एवं अल्हा-उदल की गायी जाती हुई वीरगाथाओं से भी वैज्ञानिक ढंग से क्षीर-नीर की तरह ऐतिहासिक तत्त्व निकालने में सफल से हो रहे हैं।

अस्तु, अब मैं अपने प्रकृत विषय पर आने के पहले डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र, माननीय मिस्टर फर्गुसन तथा डाक्टर भण्डारकर को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने संस्कृत ग्रन्थों के मङ्गलाचरण और प्रशस्तियों को संगृहीत और प्रकाशित कर भारतीय इतिहासाधन को प्रचुर परिमाण में उपस्थित कर देने का अक्षय्य श्रेय उठाया है।

हिन्दू लेखक मंगलाचरण और प्रशस्तियों का महत्त्व नहीं जानते थे। उन्होंने मंगलाचरण और प्रशस्तियाँ तो लिखी हैं किन्तु उनमें ऐतिहासिक मसाले मिलने कठिन से हो गये हैं। यों हिन्दू पुराणों में राजवंशों का वर्णन ऐतिहासिक अंग माना जाता है किन्तु राजाओं का समय-निर्णय करना दुस्साध्य सा हो रहा है। हाँ, इतिहास का एकमात्र साधन शिलालेख एवं ताम्रपत्र हो रहे हैं। मैं समझता हूं कि इन दोनों के अभाव में भारतीय इतिहास बिना पेंदे की लुटिया के समान इधर उधर ढन-मनाता फिरता। जयपुर-निवासी महामहोपाध्याय स्वर्गीय पं० दुर्गादत्त द्विवेदी भारतीय इतिहास संसार के कम धन्यवाद के पात्र नहीं हैं जिन्होंने निर्णयसागर प्रेस से 'प्राचीन लेखमणिमाला' नाम की दो भागों में दो मोटी जिल्दें प्रकाशित कर इतिहास-लेखकों का मार्ग बहुत कुछ परिष्कृत कर दिया है।

अस्तु, जैनग्रन्थों के मंगलाचरण और प्रशस्तियाँ ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े काम की चीजें हैं। कुछ ही ग्रन्थ ऐसे होंगे जिनके मंगलाचरण में अपने पूर्व कवियों के नाम अथवा कृतियों का उल्लेख नहीं किया गया हो तथा प्रशस्तियों में अपनी गुरुपरम्परा और तत्कालीन राजवंश का परिचय नहीं दिये गये हों। यहीं तक नहीं बल्कि प्रशस्ति के नीचे जिस धर्मप्राण जैनी स्त्री-पुरुष उस ग्रन्थ की प्रतिलिपि करवा कर किसी मन्दिर में प्रदान किये रहते हैं उनकी वंशपरम्परा का भी उल्लेख बहुत मिलता है। ऐसी दशा में इतिहास-प्रणेता अन्वेषकों को जैनग्रंथों के मंगलाचरण और प्रशस्तियाँ कितने काम की चीजें हैं—इस बात का पता सहज ही में लग सकता है। बड़े दुःख की बात है कि भारत के इतिहास-लेखकों ने पारसी, अरबी आदि अन्यान्य सम्प्रदाय के साहित्य एवं इतिहास का अनुशीलन करने का कष्ट तो उठाया किन्तु भारतीय साहित्य तथा इतिहास का सर्वश्रेष्ठ साधन जो जैनग्रन्थ हैं उनकी ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया। इसका मुख्य कारण यह भी हो सकता है कि जैनग्रन्थों के प्रकाश में नहीं आने एवं जैनशास्त्रभाण्डाराधिपतियों की लापरवाही के कारण अन्यान्य ऐतिहासिक विद्वान् जैनग्रन्थों में भरे पड़े ऐतिहासिक साधनों से लाभ नहीं उठा सके। अब एकाएक सभी जैनग्रन्थों को प्रकाशित कर देना तो अशक्य सा हो रहा है किन्तु इस "भास्कर" का यह पहले ही से ध्येय बना हुआ है कि अप्रकाशित जैनग्रन्थों को संगृहीत कर उनके मंगलाचरण और प्रशस्तियों के प्रकाशनद्वारा यावच्छक्य ऐतिहासिक साधन सञ्चित कर दिया जाय। बल्कि इसी ध्येय को लेकर ग्रन्थमाला के रूप में अन्यत्र मंगलाचरण तथा प्रशस्तियाँ प्रकाशित की गयी हैं। इस भवन के सुयोग्य पुस्तकालयाध्यक्ष पण्डित के० भुजबली शास्त्री जी ने यथोपलब्ध सामग्री से उनके ऊपर ऐतिहासिक प्रकाश भी डाला है।

आज मैं भवन के संगृहीत एक ग्रन्थ "दयासुन्दराभिधान अपर नाम यशोधर-चरित्र" की प्रशस्ति पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर संक्षेप में उसके ऐतिहासिक साधनों का दिग्दर्शन कराने का प्रयास करता हूं। इस ग्रंथ के रचयिता पद्मनाभ नामक कायस्थ हैं। भारतवर्ष में कायस्थ ही एक ऐसी जाति है जो अन्यान्य शिक्षित देशों से शिक्षा में टक्कर ले सकती है। पौराणिक युग से लेकर अबतक इस जाति ने शिक्षा को एकान्त चिरसंगिनी बनाकर प्रचुर प्रसिद्धि प्राप्त कर रक्खी है। धर्मशर्माभ्युदय नामक प्रसिद्ध जैन काव्य ग्रंथ के रचयिता हरिश्चन्द्र भी कायस्थ ही थे। हिन्दू संस्कृत साहित्य के रचयिताओं में कायस्थ जाति का कहीं नाम निर्देश नहीं है। ज्ञात होता है कि ब्राह्मणजाति ने इनके पाण्डित्य का समादर नहीं कर संकीर्णता का आश्रय लिया, इसी से कायस्थ जाति अपनी अमूल्य रचनाओं से जैनसंस्कृत साहित्यभाण्डार की पूर्ति करने लगी।

अस्तु, इस यशोधर-चरित्र के मंगलाचरण में कोई गुरुपरम्परा अथवा कविपरम्परा नहीं दी गयी है—अतः यहाँ केवल प्रशस्ति ही दी जाती है किन्तु साथ ही साथ यहाँ मैं यह लिख देना समुचित

समझता हूं कि इस एकमात्र अशुद्ध प्रति की वजह से अशुद्धियों का कुछ भी संशोधन नहीं किया जा सका :—

जातः श्रीवीरसिंहः सकलरिपुकुलव्रातनिर्घातपातो-
वंशे श्रीतोमराणां निज विमलयशोप्राप्तदिक्चक्रवालः ।
दानैर्मानैर्विवेकैर्न भवति समता येन साकं नृपाणाम्
केषामेषाकहीनां प्रभवति धिषणा वर्णने तद्गुणानाम् ॥१॥
ईश्वरचूडारत्नं विनिहितकरघातवृत्तसंघातः ।
चन्द्र इव दुग्धसिन्धोस्तस्माद्धुद्धरणभूपतिर्जनितः ॥२॥
यस्य हि नृपतेर्यशसा सहसा शुभ्रीकृते त्रिभुवनेऽस्मिन्
कैलाशतिगि (?)र निकरस्त्री (?) रतिनीरं शुचीयते तिमिरम् ॥३॥
तत्पुत्रोवीरमेन्द्रः सकलवसुमतीपालचूडामणिर्यः
प्रख्यातः सर्वलोके सकलबुधकलानन्दकारी विशेषात् ।
तस्मिन् भूपालरत्ने निखिलनिधिगृहे गोपदुर्गे प्रसिद्धम्
भुंजाने प्राज्यराज्यं विगतरिपुभयं सुप्रजःसेव्यमानम् ॥४॥
वंशेऽभूज्जैसवाले विमलगुणनिधिः भूलणः साधुरत्नम्
साधुः श्रीजैनपालोऽभवदुदितयास्तत्सुतो दानशीलः ।
जैनेन्द्राराधनेषु प्रमुदितहृदयः सेवकः सद्गुरूणाम्
लोणाख्या सत्यशीलाजनि विमलमतिर्जोणपालस्य भार्या ॥५॥
जाताः षट् तनयास्तयोः सुकृतिनोः श्रीहंसराजोऽभवत्
तेषामाद्यतमस्ततस्तदनुजस्सैराजनामाजनि ।
रैराजो भवराजकस्समजनिप्रख्यातकीर्त्तिर्महान्
साधुः श्रीकुशराजकस्तदनुजः श्रीक्षेमराजो लघुः ॥६॥
ज्ञाता श्रीकुशराज एव सकलक्ष्मापालचूड़ामणिः
श्रीमत्तोमरवीरमस्य विदितो विश्वासपात्रं महान् ।
मन्त्री मन्त्रविचक्षणः क्षणमयः क्षीणारिपक्षः क्षणात्
क्षोण्यामीक्षणरक्षणक्षममतिर्जैनेन्द्रपूजारतः ॥७॥
स्वर्गस्पर्द्धिसमृद्धिकोऽतिविमलश्चैत्यालयः कारितो
लोकानां हृदयङ्गमो बहुधनैश्चन्द्रप्रभस्य प्रभोः ।
येनैतत्समकालमेव रुचिरं भव्यं च काव्यं तथा

साधुश्रीकुशराजकेन सुधिया कीर्त्तेश्चिरस्थापकम् ॥८॥
तिस्रस्तस्यैव भार्या गुणचरितजुषस्तासु रल्होभिधाना
पत्नी धन्याचरित्रा व्रतनियमयुता शीलशौचेन युक्ता।
दात्री देवार्चनाढ्या गृहकृतिकुशला तत्सुतो कामरूपो
दाता कल्याणसिंहो जिनगुरुचरणाराधने तत्परोऽभूत् ॥९॥
लक्षणश्रीर्द्वितीयाभूत्सुशीला च पतिव्रता।
कौशीरी च तृतीयेयमभूद्गुणवती सती ॥१०॥
शान्तिर्देशस्य...भूत्तदनु नरपतेः सुप्रजानां जनानाम्
वक्तृणां वाचकानां...... ... .तथैव।
....
....॥
यावत्कूर्मस्य पृष्ठे भुजगपतिरयं तत्र तिष्ठेद्गरिष्ठे
यावत्तत्रापि वज्रत्रिकटफणिफणामण्डले क्षोणिरेषा।
यावत्क्षोणौ समस्तत्रिदशपतिवृतश्चारुचामीकराद्रि —
स्तावद्ग्रन्थं विशुद्धं जगति विजयतां काव्यमेतच्चिराच्च ॥१२॥
कायस्थपद्मनाभेन बुधपादाब्जरेणुना।
कृतिरेषा विजयतां स्थेयादाचन्द्रतारकम् ॥१३॥

अथ सम्वत्सरेऽस्मिन् श्रीविक्रमार्कगताब्दः सम्वत् १८१२ वर्षे विक्रमभूपाब्दानां द्विइन्दु वसुइन्दुवत्सराक्रान्ते मार्गशीर्ष कृष्ण ४ रवौ पुनर्वसुनक्षत्रे शुक्रनामयोगे श्रीमूलसंघे बलात्कार-गणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये भट्टारकश्रीदेवेन्द्रकीर्त्तितत्पट्टे भट्टारकश्रीचन्द्रकीर्त्ति तदाम्नाये बाई श्रीपास (र्श्व) मती तच्छिष्य पं० मयाराम पठनार्थं लिखितं श्रीतपागच्छे श्रीवि-जयराजाम्नाये श्रीवाराणस्यां नगर्यां भीलूपुराश्रीजिनमन्दिरे श्रीपार्श्वनाथप्रसादात् अत्र राज्यत्रयाधिपतिराजाबल्वणारसंघदेवाः तद्राज्यप्रवर्त्तमाने। श्रीरस्तु। श्रीमूलसंघे श्रीभट्टारक जिनेन्द्रभूषणजी भट्टारक महेन्द्रभूषणजी श्रीआचार्यदेवनरेन्द्रकीर्त्तिजी श्रीगोपालचले।

उल्लिखित प्रशस्ति के श्लोकों में जो रेखाङ्कित नाम आये हैं उनसे यह बात ज्ञात होती है कि तोमरवंशीय राजा वीरमदेव के बड़े विश्वासपात्र मन्त्री जैसवालवंशोद्भूत श्रीकुशराज ने जिन दिनों श्रीचन्द्रप्रभतीर्थङ्कर का एक दिव्य एवं भव्य मन्दिर बनवाया उन्हीं दिनों कायस्थकुलोद्भूत विद्वद्वर पद्मनाभ जी ने इस प्रस्तुत ग्रंथ का प्रणयन परिसमाप्त किया।

'तोमर' राजस्थान का एक प्राचीन राजपूत क्षत्रिय राजवंश है। इस श्रेणी के राजपूत अब नहीं के बराबर हैं। राजपुताने में ये लोग तुयार नाम से प्रसिद्ध हैं। जहाँ तहाँ आरा प्रान्त में भी तोमर वंशीय क्षत्रिय हैं। राजपूतवंश का तोमर यह नाम क्यों पड़ा इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है। अबुल फज़ल की आइने अकबरी में 'तुयार' वंश का उल्लेख मिलता है। (विश्वकोश)

प्रवाद है कि तोमरवंशीय अनङ्गपाल नामक एक राजा ने प्राचीन दिल्ली का पुनरुद्धार किया था। संवत् प्रतिष्ठाता विक्रमादित्य के बाद ७९२ वर्ष तक दिल्ली नगर बिल्कुल उजाड़ था। अन्त में ७३६ ई० में तोमरवंशीय अनङ्ग ने इसे पुनः बसाया। (विश्वकोश)

दिल्ली के दक्षिण पश्चिम में तुयारवती या तोमरावती नाम का एक जिला है। वहाँ आज भी तोमरवंशीय एक सरदार रहते हैं। (विश्वकोश)

ग्वालियर में प्रायः दो शताब्दी तक एक तोमरवंश ने राज्य किया था। इस वंश के इतिहास लेखक कवि खड्गराय तोमरवंश को पाण्डुवंश का ही एक अंग मानते हैं। (विश्वकोश)

कनिंगहम साहेब को १८६४-६५ ई० में वहाँ के जमिन्दारों से एक वंशपत्रिका मिली थी। शिलालिपि में भी ग्वालियर के राजाओं में आठ तोमरवंशीय राजाओं के नाम पाये जाते हैं। खड्गराय के इतिहासानुकूल कनिंगहम ने ग्वालियर की तोमरवंश-तालिका जो दी है उसमें ईस्वी सन् १०८१ वाले राजा तेजपाल से लेकर ई० सन् १५१६ वाले राजा विक्रमादित्य तक बीस राजा हुए हैं। इनमें ई० सन् १३७५ वाले राजा वीरसिंह से लेकर राजा विक्रमादित्य तक अन्यान्य आठ राजाएं तो यथार्थ में ग्वालियर के ही राजसिंहासनासीन रहे। (विश्वकोश)

अस्तु हमारे प्रशस्तिगत तोमरवंशीय राजा निम्नलिखित तीन हैं :—

(१) राजावीरसिंह	ई० सन् १३७५	(यह काल-गणना विश्वकोश से ली गयी है)
(२) राजा उद्धरणदेव	,, १४००	
(३) राजा विरमदेव	,, ,,	

अब मैं प्रशस्तिगत श्लोकों से अपने चरितनायक 'कुशराज' जी का परिचय देता हूं।

(१) भुलण

(२) जैनपाल*—(इनकी स्त्री का नाम 'लोणा')

(३) कुशराज†

---

*'जौणपाल' यह परिवर्तित नाम इन्हीं का ज्ञात होता है। काश्मीर के विश्वसनीय इतिहास राजतरंगिणी में भी कई जगह "जौणपाल" यह नाम आया है। देखें (राजतरंगिणी)

†हंसराज, सैराज, रैराज, भवराज, क्षेमराज ये पाँच भाई कुशराज के और थे! इनमें पाँचवे कुशराज और छठे सबसे छोटे क्षेमराज हैं। (प्रशस्ति से ही यह बात ज्ञात होती है।)

यही कुशराज राजा वीरमेन्द्रदेव के आश्रय में मन्त्रित्व करते हुए श्रीचन्द्रप्रभतीर्थङ्कर का सुन्दर चैत्यालय बनवाकर अपना नाम अमर कर गये हैं। उन दिनों आप एक बड़े भारी धनीमानी एवं राज- सम्मानित जैनी थे इसीलिये पण्डितप्रवर कायस्थ पद्मनाभ जी ने अपनी ग्रन्थसमाप्ति में जैनधर्म के आश्रयभूत कुशराज का संस्मरण किया है। इन्होंने ग्रंथ में पुस्तकरचनाकाल नहीं दिया है। किन्तु तोमरवंशीय* राजा वीरमेन्द्र का वंशवर्णन कर अपने ग्रंथ का रचनाकाल (१४०० ई० सन्) का मार्ग पद्मनाभ जी ने परिष्कृत कर दिया है। अब कुशराज की वंशावली नीचे दी जाती है—

(१) कुशराज†

(२) कल्याणसिंह‡

इस ग्रंथ का लिपिकाल १८१२ है। क्योंकि लिखा हुआ है कि वि० सं० १८१२ मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्थी रविवार पुनर्वसु नक्षत्र में मूलसंघीय, बलात्कारगण एवं सरस्वती गच्छ के कुन्दकुन्दाम्नायान्तर्गत श्रीचन्द्रकीर्त्ति जी की शिष्या श्रीमती पारस (शर्व) मती जी के पढ़ने के लिये पं० मायारामजी ने काशी के परमप्रसिद्ध भेलूपुरा मन्दिर में इस ग्रंथ की प्रतिलिपि की। उन दिनों तीन तीन राज्यों के अधिपति राजा बलवन्तसिंघदेव का शासन चल रहा था। इस राजा के विषय में कोई प्रकाश नहीं डाला जा सकता। उल्लिखित भट्टारक चन्द्रकीर्त्तिजी के भट्टारक देवेन्द्रकीर्त्तिजी कौन हैं यह बात ज्ञात नहीं होती। आपकी पट्टावली—(१) भट्टारक जिनेन्द्रभूषण (२) भट्टारक महेन्द्रभूषण (३) आचार्यदेव नरेन्द्रकीर्त्ति हैं।

इस छोटे से लेख में मैंने यही दिखाने की चेष्टा की है कि जैनग्रंथों में मङ्गलाचरण और प्रशस्तियों में अनन्त ऐतिहासिक साधन संचित हैं। आवश्यकता है केवल उनकी आलोचना एवं प्रत्यालोचना करने की।

---

*'तोमर' शब्द एवं वंश का विपुलवर्णन देखने की इच्छा करनेवाले कलकत्ता से प्रकाशित "हिन्दी विश्वकोश" की ९वीं जिल्द देखें।

†इनके रल्हो, लक्षणश्री और कौशीरी नाम की तीन स्त्रियाँ थीं।

‡इनकी माँ का नाम 'रल्हो' था। इनकी काम के समान सुन्दर आकृति थी।



कतिपय (दि०) जैन संस्कृत प्राकृत ग्रन्थों पर प्राचीन कन्नड टीकायें।

क्रम संख्या	मूल ग्रन्थ		टीकाकार	समय	विशेष व्यवस्था
१	अकलंकाष्टक	(सं०)	......	१६वीं शताब्दी ईस्वी सन्	
२	अमितगतिश्रावकाचार	,,	केशव वर्णी	१३५६ ईस्वी सन्	अभयसूरि-सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य।
३	आचारसार	,,	वीरनन्दि	११५३ ,,	मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव के शिष्य।
४	आत्मानुशासन	,,	......	......	
५	आराधनासार	(प्रा०)	शांतिकीर्त्ति	१७५५ ,,	
६	कर्मप्रकृति	,,	......	१५ वीं शताब्दी ,,	
७	कल्याणकारक	(सं०)	सोमनाथ	लगभग ११५० ,,	यह पूज्यपादकृत कल्याणकारक का अनुवाद है।
८	,,	,,	......	......	इसके रचयिता उग्रादित्य हैं।
९	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	(प्रा०)	शुभचन्द्र	,, १२०० ,,	
१०	गणितसार	(सं०)	दैवज्ञ-वल्लभ	,, १७०० ,,	
११	गीतवीतराग	,,	......	......	
१२	गोम्मटसार	(प्रा०)	केशव वर्णी	१३५६ ,,	अभयसूरि-सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य।
१३	चारित्रसार	(सं०)	प्रभेन्दु मुनि	१५ वीं शताब्दी ,,	
१४	,,	,,	प्रभाचन्द्र	लगभग १३०० ,,	
१५	चौबीसठाणा	(?)	......	१५ वीं शताब्दी ,,	
१६	ज्वालामालिनी कल्प	(सं०)	......	......	

१७	जिनसंहिता	,,	कुमुदचन्द्र	लगभग ११०० ,,	माघनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य।
१८	जैन-सार-क्रियासंग्रह		......	१८ वीं शताब्दी ,,	
१९	तत्त्वार्थसूत्र	(सं०)	बालचन्द्र	लगभग ११७० ,,	११७० ई० में स्वर्गस्थ नयकीर्त्ति के शिष्य।
२०	,,	,,	चिदानन्द	१८ वीं शताब्दी ,,	
२१	,,	,,	दिवाकरनन्दि	१०६० ,, ,,	
२२	दशभक्ति	(सं० प्रा०)	......	......	
२३	द्रव्यसंग्रह	(प्रा०)	बालचन्द्र	१२७३ ,,	नेमिचन्द्र तथा अभयचन्द्र के शिष्य।
२४	द्वादशानुप्रेक्षा	(?)	......	......	
२५	धनञ्जय निघंटु	(सं०)	......	१७वीं शताब्दी ,,	
२६	धर्मशर्माभ्युदय	,,	......	,, ,, ,,	
२७	नीतिवाक्यामृत	,,	नेमिनाथ	१३ वीं वि० ,,	विशेष परिचय देखो भास्कर भाग २ किरण १
२८	पदार्थसार	,,	माघनन्दि	लगभग १२६० ,,	कुमुदचन्द्र के शिष्य।
२९	पद्मपुराण	,,	......	१८ वीं शताब्दी ,,	
३०	पद्मावती कल्प	,,	......	......	
३१	पंचकल्याणस्तोत्र	,,	......	लगभग १५०० ,,	मूलग्रन्थ आशाधर जी का है।
३२	परमात्मप्रकाश	(प्रा०)	बालचन्द्र	लगभग ११७० ,,	११७७ ई० में स्वर्गीय नयकीर्त्ति के शिष्य।
३३	प्रवचनसार	,,	,,	,, ,,	,, ,,
३४	प्रतिष्ठातिलक	(सं०)	......	......	
३५	प्रश्नोत्तर-रत्नमाला	,,	......	......	
३६	प्रायश्चित्त	,,	विद्यानन्द	१४५५ ,,	मूलग्रन्थकार ब्रह्मसूरि के पुत्र हैं।

क्रम संख्या	मूल ग्रन्थ ।		टीकाकार ।	समय	विशेष व्यवस्था ।
३७	बृहत् पंचनमस्कार	,,	......	... ..	
३८	भद्रबाहु-चरित्र	,,	......	......	
३९	भद्रबाहु-सामुद्रिक	,,	......	१५वीं शताब्दी ,,	
४०	माघनन्दि-संहिता		कुमुदचन्द्र	......	
४१	मोक्षप्राभृत	(प्रा०)	कनकचन्द्र	लगभग १३०० ,,	
४२	यशोधरकाव्य	(सं०)	......	......	
४३	रत्नकरण्ड	,,	......	१६ वीं शताब्दी ,,	
४४	,,	,,	कमलपण्डित	१८८६ ,,	
४५	,,	,,	......	१७ वीं शताब्दी ,,	
४६	रयण-सार	(प्रा०)	......	......	
४७	वर्द्धमानकाव्य	(सं०)	......	......	
४८	विंशतिप्ररूपणा	,,	पद्मप्रभ	लगभग १३०० ,,	
४९	शास्त्रसार-समुच्चय	,,	माघनन्दि	,, १२६० ,,	कुमुदेन्दु के शिष्य।
५०	सज्जनचित्तवल्लभ	,,	अभिनवश्रुतमुनि	,, १३६५ ,,	
५१	समयसार	(प्रा०)	बालचन्द्र	,, ११७० ,,	११७७ ई० के स्वर्गस्थ नयकीर्त्ति के शिष्य।
५२	समाधिशतक	(सं०)	मेघचन्द्र	११४८ ,,	प्रायः ११७७ के स्वर्गस्थ नयकीर्त्ति के शिष्य।
५३	स्वरूपसंबोधन	,,	......	......	
५४	,,	,,	......	१६ वीं शताब्दी ,,	

५५	सागारधर्मामृत	,,	......	१७ वीं ,,	,,	
५६	सिद्धान्तसार	(प्रा०)	प्रभाचन्द्र	११००	,,	
५७	सिद्धस्तोत्र	(सं०)	......	१५००	,,	मूलग्रन्थ आशाधर जी का है।
५८	सिद्धराशि	,,	कल्याणकीर्त्ति	......		
५९	तत्वचूड़ामणि	,,	......	......		
६०	क्षपणसार	(प्रा०)	......	......		

नोट—यह तालिका 'कन्नड़-कवि-चरिते' भाग १, २, ३ के आधार पर तैयार की गई है। बहुत कुछ सम्भव है कि, इसमें और भी कई टीकायें छूट गई हों जो 'कन्नड़कविचरिते' के रचयिता को भी उपलब्ध नहीं हुई हों। इसलिए यह तालिका पूर्ण नहीं कही जा सकती। उक्त 'कविचरिते' के भागों में कई ग्रन्थों का परिशिष्ट में केवल नाम ही दिया गया है; इससे उन ग्रन्थों का विशेष हाल मालूम नहीं हो सका। बल्कि, जिनग्रन्थों पर मुझे सन्देह हुआ उन ग्रन्थों का नाम भी मैंने इस तालिका में शामिल नहीं किया है। जिन प्राकृत, संस्कृत ग्रन्थों के पाठ अशुद्ध मुद्रित हैं या पाठों में संदेह है उन पाठों को इन टीकाओं के मूल से मिलाने से वह दूर हो सकता है। साथ ही साथ यह भी सम्भव है कि, इन कन्नड़-टीकाकारों ने संस्कृत-टीकाकारों की अपेक्षा मूल ग्रन्थों के अर्थ को विशदरूप से खोल दिया हो अतः समालोचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन के लिये यह तालिका उपयोगी है।

के० बी० शास्त्री,

चामुंडराय का चारित्रसार

(ले०—श्रीयुत पं० मिलापचन्द्र कटारिया)

दिगंबर जैनसमाज में "चारित्रसार" नामक ग्रन्थ के रचयिता चामुण्डराय समझे जाते हैं। ग्रन्थ के परिसमाप्तिसूचक गद्य से भी यही ध्वनित होता है। किन्तु ग्रन्थ की हालत को देखते हुए चामुंडराय को उसका निर्माता नहीं कह सकते। अधिक से अधिक हम उन्हें संग्रहकर्ता कह सकते हैं। निर्माता और संग्रहकर्ता में भेद है। निर्माता वह होता है जो ग्रन्थ की शाब्दिकरचना का अपनी बुद्धि से प्रणयन करता है। किन्तु संग्रहकर्ता में यह बात नहीं है। वह दूसरों के रचित वाक्यों को संचित कर उसका कोई नया नाम धर देता है। 'चारित्रसार' की भी प्रायः यही हालत है। यद्यपि धर्मशास्त्र नये नहीं बना करते। परंपरा से जो वाङ्मय चला आता है उसी के अनुसार कथन उनमें रहता है। और प्रामाणिक भी वे तभी माने जाते हैं। लेकिन यह बात उनके अर्थ के संबंध में है। शब्द से तो वे भी नये बनते हैं। प्राचीन गूढ़ अर्थ को स्पष्ट करना और अपने शब्दों में कहना यही नवीन धर्मशास्त्रकारों का काम होता है। इस प्रकार की नवीन कृतियों में कहीं कहीं प्राचीन आगमों के वाक्य भी बिना उक्तं च लिखे ज्यों के त्यों उद्धृत कर लिये जाते हैं। जैसा कि सर्वार्थसिद्धि के वाक्य राजवार्तिक में और राजवार्तिक के वाक्य श्लोकवार्तिक में पाये जाते हैं। किन्तु इनके कर्ताओं ने जितना कुछ दूसरों से लिया है उससे कई गुणा अपनी बुद्धि से बनाकर रक्खा है। इसलिये ऐसों को तो ग्रन्थकर्ता ही कहने चाहिये। पर जो ग्रन्थ का बहुभाग या समग्र ही कलेवर दूसरों के रचे वाक्यों से भरते हैं और अपनी बुद्धि कुछ भी खर्च नहीं करते, या करते भी हैं तो इतनी सी जैसे ऊंट के मुंह में जीरा, वे उस ग्रन्थ के निर्माता नहीं कहला सकते। अपना आटा हो और दूसरे का नमक तो वह रोटी अपनी कही जायगी। पर दूसरे का आटा हो और अपना केवल नमक, तो वह रोटी दूसरे ही की कही जायगी। चारित्रसार के संबंध में भी यही बात घटित होती है। चामुंडराय की निज की रचना या तो उसमें कुछ भी नहीं है और हो भी तो नमक के बराबर—बाकी आटा सब दूसरों ही का उधार लिया हुआ है। यह बात चारित्रसार और तत्वार्थराजवार्तिक को तुलनात्मक ढंग से अध्ययन करनेवाले को स्पष्टतः दृग्गोचर हो सकती है। राजवार्तिक में से अनेक जगह का चारित्र-विषयक गद्य-भाग उठा

उठा कर चारित्रसार में ज्यों का त्यों या कुछ मामूली हेरफेर के साथ धर दिया गया है। चारित्रसार का करीब तीन तिहाई हिस्सा राजवार्तिक की रचना से ही भरा हुआ है। नीचे हम दोनों के वे स्थान बताते हैं जहाँ एक समान गद्य पाया जाता है—

चारित्रसार पृष्ठ २ पंक्ति चौथी (राजवार्तिक अध्याय ६ सूत्र २ वार्तिक ३) चारित्रसार पृष्ठ २—३ में सम्यक्त्व का अष्टांगस्वरूप (राजवार्तिक अध्याय ६ सूत्र २४ वार्तिक १) चा० सा० पृ० ४ सम्यक्त्व के अतीचार (रा० वा० अ० ७ सू० २३) चा० सा० पृ० ४ शल्यविवेचन (रा० वा० अ० ७ सू० १८) चा० सा० पृ० ५ पंचाणुव्रत के लक्षण (रा० वा० अ० ७ सूत्र २०) चा० सा० पृ० ५ से ७ तक अणुव्रतों के अतीचार (रा० वा० अ० ७ में देखो इस विषय के सूत्र) चा० सा० पृ० ८ से १५ तक शीलसप्तक के सिर्फ लक्षण और अतीचार (रा० वा० अ० ७ में देखो इस विषय के सूत्र) चा० सा० पृष्ठ २२-२३ सल्लेखना का लक्षण और अतीचार (रा० वा० अ० ७ सू० २२-३७) चा० सा० पृ० २४ से २६ तक सोलह कारण भावनायें (रा० वा० अ० ६ सूत्र २४) चा० सा० पृष्ठ २७ से ३० तक दशधर्मों का विवेचन (रा० वा० अ० ९ सू० ६ में बिलकुल यही है)। फर्क इतना सा है कि यहाँ पहिले अलग अलग धर्म का स्वरूप बताकर वार्तिक २८ में दसों ही का विशेष कथन किया है। और चारित्रसार में इस विशेष कथन को प्रत्येक धर्म के वर्णन के साथ ले लिया है तथा यहीं पर चारित्रसार में सत्य के १० भेदों का जो वर्णन है वह (राजवार्तिक अ० १ सूत्र २०, वा० १२ वें पर से लिया गया है) चा० सा० पृ० ३० समितियों का कथन (रा० वा० अ० ९ सू० ५) चा० सा० पृ० ३२ से ३७ तक अष्ट शुद्धियों का वर्णन (रा० वा० अ० ९ सू० ६ वा० १६) चा० सा० पृ० ३७ ३८ चारित्रकथन (रा० वा० अ० ९ सू० १८) चा० सा० पृ० ३९ वाक् मन का कथन (रा० वा० अ० ५ सू० १९ वा० १५ तथा २०) चा० सा० पृ० ३९ संरंभ-समारंभ-आरंभ-कृत-कारितानुमत के लक्षण (रा० वा० अ० ६ सू० ८) चा० सा० पृ० ४० से ४३ तक पंच पापों के लक्षण और उनकी भावनायें (रा० वा० अ० ७ में इस विषय के सूत्र देखो। इसी अध्याय के ९वें सूत्र में जो पंच पापों का विशेष कथन है उसे ही चारित्रसार में प्रत्येक पाप के वर्णन में छाँट लिया है) चा० सा० पृ० ४४ (रा० वा० अ० ७ सूत्र १० की व्याख्या) चा० सा० पृष्ठ ४५ से ४७ तक का कथन (रा० वा० अ० ९ सू० ४६–४७) चा० सा० पृ० ४८ से ५७ तक बाईस परीषहों का वर्णन (रा० वा० अ० ९ सूत्र ८ से १७ तक) चा० सा० पृ० ५९ से ६३ तक तपोवर्णन (रा० वा० अ० ९ सूत्र १९–२०—२२, किस दोष में कैसा प्रायश्चित्त लेना यह रा० वा अ० ९ सूत्र २२ वा० १० में समूचा बता दिया है। इसे ही चारित्रसार में हरण के प्रायश्चित्त के वर्णन में उद्धृत कर लिया है) चा० सा० पृ० ६४ की अन्तिम कुछ पंक्तियां (रा० वा० अ० ९ सू० २२ वा १० का अन्तिम अंश)

चा० सा०पृ० ६५ से ६८ तक (रा० वा० अ० ६ सू० २३ से २६ तक) चा० सा० पृ० ७६ (रा० वा० अ० ६ सू० ४४) चा० सा० पृष्ठ ७८ से ८६ तक द्वादश भावनाओं का वर्णन (रा० वा०अ० ६ सूत्र ७ से लिया गया है। यहाँ चारित्रसार पृष्ठ ८० का "तत्र यावंतो लोकाकाशप्रदेशाः........" से लेकर "व्यवहारकालेषु मुख्यः" तक का पाठ रा० वा० अ० ५ सूत्र २२ वा० २५-२६ से लिया है) चा० सा० पृष्ठ ६३ से १०१ तक ऋद्धियों का वर्णन* (रा० वा० अ० ३ सूत्र ३६) चा० सा० पृष्ठ १०२ से १०३ तक त्याग-आकिंचन्य-ब्रह्मचर्य का स्वरूप (रा० वा० अ० ६ सूत्र ६ वा० २१-२२-२८; संभव है चारित्रसार में इस तरह के और भी उद्धरण हों। जितने हमारी नजरों से गुजरे वे यहां हमने लिखे हैं।

पाठक देखेंगे कि चारित्रसार में राजवार्तिक से कितना मसाला लिया गया है। चारित्रसार के कुल १०३ पृष्ठ हैं। जिनमें से करीब २५ पृष्ठ छोड़कर बाकी सारा ग्रन्थ राजवार्तिक से चर्चित है। एक तरह से इसे राजवार्तिक का चारित्र भाग कहना चाहिये।

यहां यह कह देना भी अनुचित न होगा कि मुद्रित राजवार्तिक में अशुद्धियों की भरमार है। यही क्या अन्य अनेक जैनग्रन्थों का प्रायः यही हाल है। खासकर सैद्धांतिक ग्रन्थों की छपाई में तो पूर्ण ध्यान इस बात का अवश्य रहना चाहिये कि कहीं कोई अशुद्धि न रहने पावे। किन्तु क्या कहा जाय, जैनग्रन्थ-प्रकाशकों का अजब हाल है। उनकी कार्यप्रणाली इस संबंध में बड़ी ही अव्यवस्थित है जो महान खेदजनक है।

चारित्रसार से राजवार्तिक की कई अशुद्धियाँ दूर की जा सकती हैं। चारित्रसार भी अशुद्धियों से खाली नहीं है। इसकी अशुद्धियाँ भी राजवार्तिक से दुरुस्त हो सकती हैं। क्योंकि दोनों में अशुद्धियाँ एक स्थानीय नहीं हैं। अस्तु,

कुछ लोग शायद यहाँ यह कहने का भी दुःसाहस करें कि "अकलंकदेव ने ही चारित्रसार से मसाला लेकर राजवार्तिक में रक्खा हो" ऐसा कहनेवालों को यह समझ रखना चाहिये कि अकलंकदेव चामुंडराय से लगभग दो सौ वर्ष पहिले हुये हैं। तब उन्होंने चामुंडराय की कृति में से कुछ लिया हो; यह कैसे संभव हो सकता है? इसके अलावा जिनसेन ने आदिपुराण में अकलंकदेव का स्मरण किया है। और चामुंडराय ने अपने चारित्रसार पृष्ठ १५ में "तथा चोक्तं महापुराणे" कहकर आदिपुराण का एक पद्य उद्धृत किया है। इससे भी चामुंडराय अकलंकदेव के उत्तरवर्ती सिद्ध होते हैं। बल्कि चामुंड-

* छापे की भूल से यहां दो एक स्थान में पंक्तियां उलट पलट हो गयी हैं, जिससे वर्णन का सिल-सिला टूट गया है। खेद है कि इस भूल की सूचना ग्रन्थ भर में कहीं नहीं दी है। ऐसी ही गड़बड़ पृष्ठ ३३ में भी हुई है।

राय ने ही खुद चारित्रसार के अन्त में एक पद्य देकर इस विषय को खूब स्पष्ट कर दिया है। चामुंडराय लिखते हैं कि "तत्वार्थराजवार्तिक, राद्धांतसूत्र, महापुराण और आचार-ग्रन्थों में जो विस्तार से कथन है उसी को संक्षेप में इस चारित्रसार में मैंने कहा है।" वह पद्य यह है—

तत्वार्थराद्धांतमहापुराणेष्वाचारशास्त्रेषु च विस्तरोक्तम्।
आख्यात्समासादनुयोगवेदी चारित्रसारं रणरंगसिंहः॥

इस पद्य में प्रयुक्त "तत्वार्थ" शब्द का अर्थ "तत्वार्थराजवार्तिक" करना चाहिये। तत्वार्थ के साथ राद्धांत नहीं लगाना चाहिये। राद्धांत नामका अलग ग्रन्थ है। उसका उक्तं च चारित्रसार पृष्ठ ७१ में "आदाहीणं पदाहीणं......" आदि प्राकृत गद्य दिया है। आचारशास्त्र यहाँ मूलाचारादि समझना चाहिये। चारित्रसार में मूलाचार की भी गाथायें उक्तं च रूपसे पाई जाती हैं।

इससे यह साफ सिद्ध हो जाता है कि चामुंडराय न केवल अकलंकदेव के बाद के ही किन्तु महापुराणकार जिनसेन और गुणभद्र के भी बाद के हैं। यही समय नेमिचंद्राचार्य का है। क्योंकि चामुंडराय और नेमिचन्द्र की समकालीनता निर्विवाद है। अतः इतिहासज्ञों ने जो दूसरे प्रमाणों से उनका समय ११वीं शताब्दी प्रकट किया है वह बिलकुल ठीक जान पड़ता है। और अब तो उसमें कोई संदेह ही नहीं है।

इस लेख में जिस चारित्रसार के पृष्ठों का उल्लेख किया है वह 'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला'-द्वारा प्रकाशित समझना चाहिये।

सं० नोट—कटारिया जी का यह लेख विचारणीय है। इस "चारित्रसार" के संग्रह ग्रंथ सिद्ध होने पर भी मैं समझता हूं कि पाठकों की दृष्टि में विद्वद्वरेण्य चामुण्डराय जी का पाण्डित्य खटक नहीं सकता। क्योंकि इनके द्वारा रचित आजतक के उपलब्ध कन्नडगद्य ग्रंथों में सर्वप्रथम "आदिपुराण" ही इनकी विद्वत्ता का ज्वलन्त दृष्टान्त है। इसके अतिरिक्त यह भी निर्विवाद सिद्धान्त है एवं विज्ञ कटारिया जी भी सर्वथा सहमत होंगे कि हमारे यह चामुण्डराय जी संस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता थे। इस चारित्रसार में जिस प्रकार इन्होंने राजवार्तिकादि ग्रंथों से प्रचुर सहायता लेकर उसका उल्लेख नहीं किया है उसी प्रकार अपने कन्नड आदिपुराण में भी बीच बीच में प्रस्तुत विषय को प्रमाणित करने के लिये चामुण्डराय ने भिन्न भिन्न ग्रंथों के कई संस्कृत प्राकृत पद्यों को उद्धृत किया है। पर वहाँ भी उनका उल्लेख नहीं करने से कुछ विद्वानों ने उन पद्यों को इन्हीं की रचना समझ रक्खा था। इसी भ्रम को दूर करने के लिये मैंने "विवेकाभ्युदय" (मैसूर) के एक लेख में सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि ये पद्य अमुक अमुक ग्रंथ के हैं।

के० बी० शास्त्री

भास्कर की प्रथम किरण में प्रकाशित

श्रीमहावीर कुमार के तिरंगे चित्र का परिचय

श्रीमहावीरावतरण—२५०० वर्ष पहले भारतवर्ष धर्म के नाम पर होनेवाले अत्याचार से काँप उठा था। स्वार्थी और सत्ताधारी लोग समाज पर मनमाने अत्याचार करने लगे थे। निरर्थक बलिदान और अर्थशून्य अश्वमेध, गोमेध, अजमेध और नरमेध तक धर्म के नामपर खुले आम होने लग गये थे। सर्वत्र त्राहि ! त्राहि !! की करुणध्वनि से धरा प्रतिध्वनित हो रही थी। प्राणिमात्र अधीर हो उठे थे। और चातक की भाँति किसी आत्तित्राता की आशा में सभी लोग टकटकी लगाये बैठे थे। ठीक उसी समय भगवान महावीर का स्वर्ग से अवतरण हुआ। संसार में शान्ति का साम्राज्य हो गया। बलि-वेदियाँ और यज्ञ-कुण्ड शान्त हुए। अत्याचार एवं अनाचार विलीन हो गये। पावन प्रेम का प्रवाह बह चला। रक्त-रञ्जित वसुन्धरा पुनः पुण्यभूमि बनी। "अहिंसा परमोधर्मः" का बिगुल पुनः बज गया।

आषाढ़ मास के शुक्लपक्ष में रात्रि के पिछले प्रहर का समय है। चारों ओर निस्तब्ध शान्ति का ही दौर-दौरा है। नीचे आषाढ़ के बादल हैं। प्राणतेन्द्र के रूप में भगवान महावीर पुष्पोत्तर विमान से चय कर रहे हैं। छत्राकार श्वेत पुष्पपुञ्ज पुष्पक विमान का परिचय दे रहे हैं। मुकुट में बैल का चिह्न प्राणतेन्द्र को प्रकट करता है। १४वीं सीढ़ी से उतरना प्राणत नामक १४वें कल्प (स्वर्ग) को सूचित करता है। सन्तप्त संसार को दाहिने हाथ से अभय प्रदान करते हुए भगवान उतर रहे हैं।

दाहिनी ओर मातंग यक्ष ओर बायीं ओर सिद्धायिनी यक्षिणी भगवान वर्द्धमान को सूचित करते हैं। यक्ष का वर्ण हरित और वाहन हाथी है। ऊपर दोनों हाथों में धर्म-चक्र धारण किये हुए हैं। वरद और अभयमुद्रा है। इसी प्रकार यक्षिणी का वर्ण सुवर्ण और वाहन हंस है। दाहिने हाथ में पुस्तक और वाम हस्त वरदरूप में है। नीचे बलिवेदी और यज्ञकुण्ड है।

छोटेलाल जैन

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा

की

संक्षिप्त रिपोर्ट (वीर सं० २४६०—६१)

१—वीर सं० २४६० ज्येष्ठ सुदी ५ से वी० सं० २४६१ ज्येष्ठ सुदी ४ तक ३६०५ महाशयों ने भवन से लाभ उठाया है। विशिष्ट दर्शकों में से श्री धनंजय प्रसाद राय बी० ए०, सहदेव सहाय सिन्हा, बी० ए०, बी० एल० (डालटेनगंज), चन्द्रकुमार शास्त्री, न्यायकाव्यतीर्थ, एम० ए०, एल० एल० बी० (मुजफ्फरनगर), प्रो० डब्ल्यू० नौरमैन ब्राउन (पेन्सिलभेनिया युनिवर्सिटी, अमेरिका), एम० आर० खार्डेकर बी० ए०, असिस्टेन्ट एडिटर बाम्बे क्रानिकल (बम्बई), गौरीलाल शास्त्री (देहली), रामशरण उपाध्याय (हेडमास्टर ट्रेनिङ्ग स्कूल, पटना) आदि महाशयों ने अपनी अमूल्य सम्मति प्रदान कर भवन का प्रबन्ध, ग्रन्थ-संग्रह आदि की प्रशंसा की है।

२—इस वर्ष भवन में विविध भाषाओं की मुद्रित पुस्तकें (संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी आदि) ६४, अंग्रेजी की ४००; कुल ४६४ संगृहीत हुई हैं।

इस साल के पुस्तक दातारों में नागरी-प्रचारिणी सभा आरा, राजकीय पुस्तकालय मैसूर, श्रीमान् चम्पतराय जी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

३—इस वर्ष संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के निम्नलिखित ग्रन्थ लिखवा कर संगृहीत किये गये:—(१) व्रततिथि-निर्णय (सिंहनन्दी), (२) नेमिपुराण (ब्र० नेमिदत्त), (३) आत्मानुशासनम् (संग्रह), (४) आत्मतत्व-परीक्षण (राजा देवराज), (५) प्रमाण-प्रमेयकलिका (नरेन्द्रसेन), (६) जम्बूस्वामी चरित्र (राजमल्ल), (७) सुखबोध (योगदेव), (८) मुनिवंशाभ्युदय (चिदानन्द), (६) जैनेन्द्र पुराण का अवशिष्ट भाग। इस कार्य में राजकीय पुस्तकालय मैसूर, बाबू पन्नालाल अग्रवाल देहली से विशेष सहायता मिली है, अतः ये धन्यवाद के पात्र हैं।

४—इस वर्ष ३८० ग्रन्थ भवन से बाहर दिये गये। इनसे स्थानीय महाशयों के अतिरिक्त उदयपुर, अजमेर, मैसूर, मद्रास, उज्जैन, पटना, कलकत्ता, बम्बई आदि भिन्न भिन्न स्थानों की संस्थाओं और विद्वानों ने भी लाभ उठाया है।

५—इस साल सरस्वती-भवन बम्बई तथा रायचन्द्र आश्रम, अगास के लिये यहां से 'जयधवल' लिखवाया जा रहा है।

६—इस वर्ष प्रकाशन-विभाग में कोई पृथक् ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ। प्रस्तुत 'भास्कर' में ही तीन ग्रन्थ धारावाहिक रूप से निकल रहे हैं जो आप पाठकों के सामने मौजूद हैं।

७—इस वर्ष विशाल भारत, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सरस्वती, जैनमित्र, जैनगजट, (हिन्दी) वीर, जैनदर्शन, खण्डेलवाल जैन हितेच्छु, जैन महिलादर्श, दिगम्बर-जैन, जैनबोधक, Jain Gazette, Indian Culture, Indian Historical quarterly, Journal of B. & O. Reserch Society, Indian Library Journal, सूर्योदय, (संस्कृत), उद्यानपत्रिका (संस्कृत), कर्नाटक-साहित्य-परिषत्-पत्रिका (कन्नड), प्रबुद्धकर्णाटक (कन्नड) आदि पत्र भवन में आये हैं। इनमें से अधिकांश पत्र भेंटरूप में ही प्राप्त हुए हैं। अतः उसके संचालक एवं सम्पादक विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

मंत्री—जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा

ग्रंथमाला-विभाग

प्रशस्ति-संग्रह

(सम्पादक—के० भुजबली शास्त्री)

(गतांक से आगे)

अन्तिम भाग—

श्रीमूलसंघे मुनिशीलतुंगे श्रीकौन्दकुन्दे वरसूरिवृन्दे।
वंशे च देशीयगणे गुणाढ्ये मह्यामतुच्छे घनपुस्तगच्छे ॥४११॥
आसीद्सीमापनसोगेपूर्वोऽवल्यम्बुराशिर्गुणरत्नराशिः।
तस्मादभूच्चन्द्र इव व्रतीन्द्रः श्रीदेवकीर्त्तिर्जितमारमूर्त्तिः ॥४१२॥
सद्गोत्रजस्तदनुवृत्तरथाधिरूढः सच्छीलवाजिरखिलात्मसुखप्रवृत्तिः।
दोषाकराक्रमणचारुकरप्रचारो हंसोऽप्यसौ ललितकीर्त्तिरभूद्हंसः ॥४१३॥
श्रीललितकीर्त्तियतिमहदुदयगिरेरभवदागममयूखः।
कल्याणकीर्त्तिमुनिरविरखिलधरातलबोधनसमर्थः ॥४१४॥
केचित्काव्यकथाप्रथाकुशलिनः केचिच्च सिद्धान्तिनः।
केचिद् व्याकरणप्रयोगनिपुणाः केचिन्नरास्तार्किकाः॥
केचित्तीव्रतपःप्रभावकलिताः केचित्कवित्वश्रमाः।
केचिद्वाचकचातुरीपरिचितास्ते तस्य शिष्या बभुः ॥४१५॥
त्रिभुवनकलशोऽपि नेमिनाथः कलशमगादथ भैरवेन्द्रतो जिनेन्द्रः।
तदुदयभुजि पाण्ड्यदेवनाम्नि ह्यवति चकार कलक्षितिं क्षितीशे ॥४१६॥
अन्यदा ललितकीर्त्तिमुनीन्द्रः संयुतामलतपोधनयुक्तः।
तत्क्षितीशकृतचैत्यनिवासं रक्षिताखिलगुणः प्रययौ सः ॥४१७॥
एकस्मिन्दिवसे मुनिनाथो नाकफलां जिनपतिपदपूजाम्।
श्रोतृजनेभ्यो विशदीकुर्वन् मातृवचो निचयात्स च दध्यौ ॥४१८॥
अल्पं कथावतारं महदिदमखिलं सत्पुराणप्रसिद्धम्।
काव्यं पूजाप्रभावं तदलघु गुरु तत् कार्यमल्पज्ञगम्यम्।
तत्तत्संगृह्य विद्वत्परिषदुपनिषद्भूतवागर्थगुम्फम्
सिद्धं निर्धूतदोषं श्रुतजनवितरत्सर्वविज्ञानसौख्यम् ॥४१९॥
एते सन्मुनिवृषभाः कवित्वभाजो वादीन्द्राः कति कति च प्रवाग्मिनोऽमी।
अध्यात्मप्रसरया··························किञ्च एव संबभूवुः ॥४२०॥

अयञ्च कल्याणयशा मुनीश्वरः सुकाव्यतर्कागमशब्दवैभवः ।
पुराणपारीण इह प्रसादनः समर्थ एवेति विचिन्त्य स व्रती ॥४२१॥
मामाहूय व्रतिकुलतिलको······मिव विशदी कुर्वन् ।
दन्तत्विड्भिर्मयि मुनिरवदन्मस्तकविस्तृतकरनीरेजः ॥४२२॥
एकान्तोद्धतवादिपर्वतशिरो वज्रायते वागियम्
साहित्यार्णवपूर्णचन्द्रति मुने कल्याणकीर्त्तेस्तव ।
मन्दारद्रुमगुच्छविच्युतसुधासंभूतमन्दाकिनी
स्वर्णाम्भोरुहवासभासुररमानेत्रांशुसंवादिनी ॥४२३॥
अंगमंगलनिवासभारतीं संगतार्थरचनां च तावकीम् ।
मंगलां कुरु जिनेज्यया लसत्तुंगवैभवयुतां गुणस्तुतेः ॥४२४॥
इति मुनिपतिवाग्भिः प्रेरितेनामलाभिः लघुतरमतिवाचा शक्तिसाम्राज्यभाजा ।
अपि च गुरुसमीपे यन्मयारंभि पूर्वम् ननु किमकरणीयं सत्पराधीनवृत्तेः ॥४२५॥
चारित्रवाराशिसुधाकरेण कल्याणकीर्त्ति (व्रतिना) मुनिनाऽभ्यधायि ।
जैनेन्द्रयज्ञस्य फलोदयाख्यं काव्यं जयत्वाक्षितिचन्द्रतारम् ॥४२६॥
द्विसहस्रमिदं प्रोक्तं शास्त्रं ग्रन्थप्रमाणतः ।
पञ्चाशदुत्तरैः सप्तशतश्लोकैश्च संगतम् ॥४२७॥
पञ्चाशत्त्रिशतीयुक्तसहस्रशकवत्सरे ।
प्लवंगे श्रुतपञ्चम्यां ज्येष्ठे मासि प्रतिष्ठितम् ॥४२८॥

इत्यार्षे श्रीमत्कल्याणकीर्त्तिमुनीन्द्रविरचिते जिनयज्ञफलोदये विप्रभट्टहेमप्रभादिकृत जिनयज्ञाष्टविधानाख्यवर्णनं नाम नवमो लम्बः समाप्तः ।

× × × ×

इसके कर्त्ता मुनि कल्याणकीर्त्ति कार्कल के मठाधीश ललितकीर्त्तिजी के शिष्य थे। इनका ग्रन्थनिर्माण-समय शालिवाहन शक १३५० है तथा यह पाण्ड्य राजा के शासन-समय में विद्यमान थे। इस ग्रन्थ के रचयिता आदि पर चौवीसवें वर्ष के दिगम्बर जैन मासिक पत्र के विशेषाङ्क (१–२) में मैंने कुछ विस्तृत रूप से ऐतिहासिक प्रकाश डाला है।

कवि कल्याणकीर्तिजी के गुरु ललितकीर्तिजी भैरवराजवंश के क्रमागत राजगुरु हैं। आज भी कार्कल मठ की गद्दी पर बैठनेवाले भट्टारकों का वही परम्परागत ललित-कीर्ति नाम चला आता है। इस "जिनयज्ञफलोदय" के "पञ्चाशत्त्रिशतीयुक्तसहस्रशकवत्सरे। प्लवंगे श्रुतपञ्चम्यां ज्येष्ठे मासि प्रतिष्ठितम्॥" इस श्लोक से इनका समय शक सम्वत्

१३५० सिद्ध होता है। मुनि महाराजजी ने उसी ग्रन्थ के निम्नांकित श्लोक में भैरवराज तथा उनके पुत्र पाण्ड्यदेव का इस प्रकार उल्लेख किया है :—

"त्रिभुवनकलशोऽपि नेमिनाथः कलशमगादथ भैरवेन्द्रतो जिनेन्द्रः। तदुदयभुजि पाण्ड्यदेवनाम्नि ह्यवति चकार कलत्तिर्ति क्षितीशे।" इन दोनों में से भैरवरस ओडेय का समय शक सम्वत् १३४० (ई० सन् १४१८) एवं पाण्ड्यराज का समय शक सं० १३५३ (ई० सन् १४३१—३२) माना जाता है।

भैरवराज का काल कवि के द्वारा उल्लिखित श्लोक में जिन नेमिनाथ तीर्थङ्कर का उल्लेख किया गया है उन्हीं के मन्दिर के दरवाजे पर लगे हुए शिलालेख से लिया हुआ है। पाण्ड्यराज वही वीरपाण्ड्य भैरवरस ओडेय हैं जिन्होंने कार्कल में बाहुबली स्वामी की विशाल एवं मनोज्ञ मूर्ति को स्थापित कर अपने नाम को अमर कर दिया है। बाहुबली स्वामी की मूर्त्ति की प्रतिष्ठा शक सम्वत् १३५३ (ई० सन् १४३१-३२) में हुई थी। यह बात मूर्त्ति की बगल में लगे हुए संस्कृत एवं कन्नड शिलालेखों से ज्ञात होती है। इस शुभावसर पर प्रसिद्ध विजयनगराधीश द्वितीय देवराय भी आमन्त्रित किये गये थे। यह प्रतिष्ठा-महोत्सव बड़े समारोह से मनाया गया था। प्रशस्तिगत इस "देवचन्द्रमुनीन्द्राख्यो दयापालः प्रसन्नधीः।" श्लोकांश से यह भी विदित होता है कि ललितकीर्त्तिजी को देवचन्द्र नाम के एक दूसरे शिष्य भी थे। कवि कल्याणकीर्तिजी के गुरु ललितकीर्त्तिजी मूलसंघ, कुन्दकुन्दान्वय, देशीयगण, पुस्तकगच्छ के पट्ट-क्रमागत भट्टारक थे। इन भट्टारकों का मूलस्थान मैसूर राज्यान्तर्गत "हणसोगे" था। प्रशस्तिगत ४१२ वें श्लोक से ज्ञात होता है कि ललितकीर्त्तिजी के गुरु देवकीर्त्तिजी थे। विदित होता है कि यह ललितकीर्त्तिजी अन्यान्य विषयों के अच्छे मर्मज्ञ थे। क्योंकि कल्याणकीर्त्तिजी ने इस प्रशस्ति में दिखलाया है कि काव्य, व्याकरण, न्याय, सिद्धान्तादि विषयों के ज्ञाता कई शिष्य और भी ललिलकीर्त्तिजी के मौजूद थे।

कल्याणकीर्त्तिजी ने ग्रन्थ रचना का उद्देश ग्रन्थ के अन्त में यों बतलाया है कि एक बार मेरे पूज्य गुरुदेव ललितकीर्त्तिजी ने बहुतेरे श्रोताओं को जिनपूजा का फलोपदेश देने के पश्चात् यह कहा कि मैंने यह पूजाफल संक्षेप में वर्णित किया है—पुराणों में इसका विस्तृत विवरण है। साथ ही साथ मुझे योग्य समझ कर उन्होंने एतद्विषयक एक ग्रन्थ-प्रणयन करने का आदेश भी दिया। उन्हीं की आज्ञा का पालन-फलस्वरूप यह जिनयज्ञ फलोदय है।

निम्नलिखित श्लोक के आधार पर इस ग्रन्थ की श्लोक-संख्या दो हजार सात सौ पचास (२७५०) सिद्ध होती है :—

"द्विसहस्रमिदं प्रोक्तं शास्त्रं ग्रन्थप्रमाणतः।
पञ्चाशदुत्तरैः सप्तशतश्लोकैश्च संगतम्॥"

"कर्णाटक कविचरिते" के द्वितीय भाग से ज्ञात होता है, हमारे यह कल्याणकीर्त्तिजी निम्नलिखित ग्रन्थों के भी रचयिता हैं :—

(१) ज्ञानचन्द्राभ्युदय (२) कामनकथे (३) अनुप्रेक्षे (४) जिनस्तुति (५) तत्त्वभेदाष्टक (६) सिद्धराशि। इन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय क० कविचरिते के मान्य सम्पादक ने अपने ग्रन्थ में दे दिया है। इस कवि का लिखा हुआ संस्कृत भाषाबद्ध एक यशोधरचरित एवं कन्नड में फणिकुमार-चरित भी हैं। यशोधरचरित की श्लोक सं० १८५० और रचना-समय शक सं० १३७५ है। इस ग्रन्थ का आधार गन्धर्व कवि का प्राकृतग्रन्थ है और इसकी रचना पाण्ड्य नगर (कार्कल) के गोम्मटेश्वर चैत्यालय में हुई थी। फणिकुमार-चरित का प्रणयनकाल शक सं० १३६४ है। ताड़पत्राङ्कित ये दोनों ग्रन्थ भवन में मौजूद हैं। भवन के संगृहीत ताड़पत्राङ्कित "चिन्मय-चिन्तामणि" नामक कन्नडपद्यात्मक लघुकलेवर ग्रन्थ भी संभवतः इन्हीं कल्याणकीर्त्ति का हो।

---

(८) ग्रन्थ नं० $\frac{२०८}{ख}$

षड्दर्शन-प्रमाण-प्रमेयानुप्रवेश

कर्त्ता—शुभचन्द्र

विषय—न्याय

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ८। इञ्च चौड़ाई ४।। इञ्च पत्रसंख्या २४

मङ्गलाचरण

साधनन्तं समाख्यातं व्यक्तानन्तचतुष्टयम्।
त्रैलोक्ये यस्य साम्राज्यं तस्मै तीर्थकृते नमः॥

× × ×

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ १० पंक्ति ३य)

अपरं च द्रव्यतत्त्वादिनित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्याविशेषाः अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानां यः सम्बन्धः इहेदं प्रत्ययहेतुः स समवायः। प्रत्यक्षलैङ्गिके द्वे एव प्रमाणमिति वैशेषिक-

दर्शनसमासः। सांख्यैस्तु स्वसनिजबुद्ध्या परिकल्पितोऽयं निर्वृतिनगर्याः पन्थाः। यदुत पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। तत्र त्रयो गुणाः। सत्त्वं रजस्तमश्च। तत्र प्रसादलाघवप्रसवानभिषंगद्वेषप्रीतयः कार्यं सत्वस्य। शोकतापस्वेदस्तम्भोद्वेगप्रद्वेषाः कार्यं रजसः। मरणसाधनबीभत्सदैन्यगौरवाणि तमसः कार्यम्। ततः सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः सैव प्रधानमित्युच्यते।

प्रशस्ति :—

जयति शुभचन्द्रदेवः कण्डूगणपुण्डरीकवनमार्त्तण्डः।
चण्डत्रिदण्डदूरो राद्धान्तपयोधिपारगो बुधविनुतः॥

× × ×

इस लघुकलेवर ग्रन्थ में विद्वद्वर शुभचन्द्रदेव ने षड्दर्शनों के प्रमाण और प्रमेय का संक्षिप्त परिचय दिया है। शुभचन्द्र नाम के कई विद्वान् हुए हैं। "दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ" के अनुसार निम्न लिखित पाँच (?) शुभचन्द्र के नाम उपलब्ध होते हैं:—

(१) शुभचन्द्राचार्य (ज्ञानार्णव के कर्त्ता—जीवनकाल ११वीं शताब्दी*) (२) शुभचन्द्र-भट्टारक (जीवनकाल वि० सं० १४५०) (३) शुभचन्द्र (प्रसिद्ध पाण्डव-पुराणादि अन्यान्य कई ग्रन्थों के कर्त्ता—जीवन काल वि० सं० १६८०) (४) शुभचन्द्राचार्य (संशयि-वदनविदारण के कर्त्ता—जीवन-काल ×) (५) शुभचन्द्र (करकण्डु महाराजचरित्र आदि के कर्त्ता जीवन-काल वि० सं० १६११) पाण्डवपुराणादि के कर्त्ता भट्टारक शुभचन्द्र का जीवनकाल प्रेमी जी के उक्त ग्रन्थ में वि० सं० १६८० लिखा हुआ है। किन्तु यह समय मुझे भ्रमपूर्ण मालूम होता है। क्योंकि पाण्डवपुराण की निम्नाङ्कित प्रशस्ति से यह बात स्पष्ट ज्ञात हो जाती है कि उनका समय वि० सं० १६०८ है:—

"श्रीमद्विक्रमभूपतेर्द्विकहतस्य षष्ठे संख्ये शते (?)
रम्याष्टाधिकवत्सरे सुखकरे भाद्रे द्वितीयातिथौ।
श्रीमद्वाग्वरनीवृतीदमतुले श्रीशाकवाटे पुरे
श्रीमच्छ्रीपुरुधाम्नि च विरचितं स्थेयात्पुराणं चिरम्॥

इससे यह भी विदित होता है कि करकण्डु महाराजचरित्र के रचयिता शुभचन्द्र पाण्डवपुराण के कर्त्ता से भिन्न नहीं है। क्योंकि जीवनकाल में केवल तीन वर्ष की दूरी

*रायचन्द्र जैनशास्त्रमाला में प्रकाशित ज्ञानार्णव के प्रारंभ में प्रेमी जी के द्वारा लिखित "श्रीशुभचन्द्राचार्य का समय-निर्णय" के आधार पर।

अधिक नहीं कही जा सकती है एवं करकण्डु महाराज का चरित्र भी दोनों शुभचन्द्र की रचना में आगया है। फिर भी यह अनुमानपरक है। प्रशस्ति एवं रचनाशैली आदि से इसका प्रकृत निर्णय किया जा सकता है। पाण्डवपुराण की प्रशस्ति से यह भी ज्ञात होता है कि "संशयिवदनविदारण" के कर्त्ता पाण्डवपुराण के कर्त्ता शुभचन्द्र से भिन्न नहीं हैं। पाण्डवपुराण और संशयिवदनविदारण के कर्त्ता शुभचन्द्र को भिन्न भिन्न मानने की धारणा में मुख्य कारण यह हो गया है कि संशयिवदनविदारण ग्रन्थ का प्रतिलिपिकाल संग्रह-कर्त्ता को वि० सं० १५८८ मिला है। मेरे अनुमान से यह काल भ्रमपूर्ण सा ज्ञात होता है।

इसी प्रकार श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में भी मुझे शुभचन्द्र-चतुष्टयी के दर्शन होते हैं। एक तो देवकीर्त्ति के शिष्य, दूसरे गण्डविमुक्त मलधारिदेव के शिष्य, तीसरे माघनन्दी के शिष्य और चौथे रामचन्द्र के शिष्य।

पाण्डवपुराण की प्रशस्ति में प्रतिपादित "षड्वाद्" ही संभवतः यह प्रस्तुत ग्रन्थ "षड्दर्शनप्रमाणप्रमेयानुप्रवेश" हो। किन्तु साथ ही साथ मन में यह भी शङ्का स्थान कर जाती है कि पाण्डवपुराण, कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा आदि अपने अन्यान्य ग्रन्थों की प्रशस्तियों में अपनी विस्तृत गुरुपरम्परा आदि का परिचय जिस प्रकार इन्होंने दिया है; इसमें भी दे दिये होते। अस्तु, जो हो इस ग्रन्थ की रचनाशैली एवं भाषा-सरणी प्रशस्त है। अन्तिम श्लोक से यह भी ज्ञात होता है कि आप अपूर्व वाद्-पटु, तपस्वी एवं सिद्धान्त शास्त्र के प्रखर विद्वान् थे।

बल्कि उल्लिखित श्रवणबेलगोल के शक सम्वत् १०४५ के ४३ (११७) वें शिलालेख में वर्णित २ य शुभचन्द्र देव की ओर मेरा ध्यान कुछ आकृष्ट सा हो जाता है। क्योंकि उस शिलालेख में वर्णित शुभचन्द्र के व्यक्तित्व और पाण्डित्यद्योतक विशेषणों में इस ग्रन्थ का अन्तिम एकमात्र श्लोक मिल सा जाता है। अतः इतिहास-प्रेमी विद्वान् इस ओर विशेष ध्यान देंगे।

---

(६) ग्रन्थ नं० २१२/ख

अलंकार-संग्रह

कर्त्ता—अमृतनन्दयोगी

विषय—अलङ्कार

भाषा—संस्कृत

लम्बाई—८। इञ्च चौड़ाई—४॥ इञ्च पत्रसंख्या—१०४

मङ्गलाचरण

जगद्वैचित्र्यजननजागरूकपदद्वयम् ।
अवियोगरसाभिज्ञमाद्यं मिथुनमाश्रये ॥१॥
तदुल्लासरसाकारां तत्त्वकैरवकौमुदीम् ।
नमामि शारदां देवीं नामरूपाधिदेवताम् ॥२॥

ग्रन्थावतरण—

उद्दामफलदां गुर्वीमुदधिमेखलाम् (?) ।
भक्तिभूमिपतिः शास्ति जिनपादाब्जषट्पदः ॥३॥
तस्य पुत्रस्त्यागमहासमुद्रबिरुदाङ्कितः ।
सोमसूर्यकुलोत्तंसो महितो मन्वभूपतिः ॥४॥
स कदाचित्सभामध्ये काव्यालापकथान्तरे ।
अपृच्छदमृतानन्दमादरेण कवीश्वरम् ॥५॥
वर्णशुद्धिं काव्यवृत्तिं रसान् भावाननन्तरम् ।
नेतृभेदानलङ्कारान् दोषानपि च तद्गुणान् ॥६॥
नाट्यधर्मान् रूपकोपरूपकाणां भिदालप्सि(?) ।
चाटुप्रबन्धभेदांश्च विकीर्णास्तत्र तत्र तु ॥७॥
सङ्क्षिप्यैकत्र कथय सौकर्याय सतामिति ।
मया तत्प्रार्थितेनेत्थममृतानन्दयोगिना ॥८॥
तत्रान्तरेऽदितानर्थान् वाक्यान्यैव क्वचित् क्वचित् ।
सङ्क्षिप्य क्रियते सम्यक् सर्वालङ्कारसंग्रहः ॥९॥

× × ×

मध्यभाग—(पृष्ठ पूर्व ५२ पंक्ति ४)—

लीलेति पूर्वकथितं पुनरपि लीलेति कथितमेतस्मिन्।
यस्मिन्नदः प्रकृष्टं पतत्प्रकर्षं तदामनन्ति यथा॥

कः कः कुत्र न घर्घरायितघुरो घोरो घुरेत्सूकरः
कः कः कं कमलाकरं विकमलं कर्त्तुं करी नोद्यतः।
के के कानि वनान्यरण्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यतः।
सिंहे।स्नेहविलासबद्धवसतिः पञ्चाननो वर्त्तते॥

× × ×

अन्तिम भाग—

इत्यमृतानन्दयोगिविरचिते अलङ्कारसंग्रहे वस्तुनिर्णयो नामाष्टमोऽध्यायः।

"कन्नड़ कविचरिते" भाग २य पृष्ठ ३३ में एक अमृतनन्दी कवि के बारे में निम्नलिखित उल्लेख मिलता है :—

"इन्होंने अकारादि वैद्यनिघण्टु लिखा है। यह जैन कवि हैं। इनका लगभग १३०० शताब्दी में होना संभव ज्ञात होता है।"

"रसरत्नाकर" नामक कन्नड़ अलङ्कार ग्रन्थ की भूमिका में स्वर्गीय ए० वेङ्कटराव बी० ए० एल० टी० तथा पण्डित एच० शेष पेय्यङ्गार ने लिखा है कि—"अमृतनन्दी का अलङ्कारसंग्रह नाम का एक ग्रन्थ है। उसमें (१) वर्णगण-विचार (२) शब्दार्थ-निर्णय (३) रसनिर्णय (४) नेतृभेदविचार (५) अलङ्कारनिर्णय (६) दोषगुणालङ्कार-निर्णय (७) सन्ध्यङ्ग-निरूपण (८) वृत्तिनिरूपण (९) काव्यालङ्कारनिरूपण नामक ये नव परिच्छेद हैं। यह भी इनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। क्योंकि प्राचीन आलङ्कारिक ग्रन्थों को देखकर 'मन्व' भूपति की अनुमति से यह ग्रन्थ संचित करके मैंने लिखा है यों ग्रन्थारंभ में रचयिता ने स्वयं कहा है। यह मन्व राजा सोमसूर्यकुलोत्तंस, समुद्रबिरुदाङ्कित, यमगंडरगंड, कोरवंकभीम, समरनिरङ्कुश एवं नूत्नसाहसाङ्क आदि बिरुदावली से अलंकृत थे। इस बात को कवि ने ग्रन्थ के प्रत्येक परिच्छेदान्त-पद्य में कहा है। इस मन्वभूपति के पिता शिवपादाब्जषट्पद भक्ति भूमिप थे।*

तिरुचनापल्ली के जम्बुकेश्वर देवस्थान में प्राप्त प्रतापरुद्रदेव के एक शासन से मन्वगण्ड गोपाल नामक एक प्रताप रुद्र का सामन्त था ऐसा विदित है, इसलिये अनुमान किया जाता है कि यही अमृतनन्दी के आश्रयदाता होंगे।

---

*किन्तु भवन की इस प्रति में "जिनपादाब्जषट्पदः" यही पाठ है।

प्रतिमा-लेख-संग्रह

(संपादक—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन)

(८) मैनपुरी (मुहक़मगंज) दि० जैन पंचायती मंदिर के यंत्रों की प्रशस्तियां।

१ सम्यक्चारित्रयंत्र—"सं० १४७४ वर्षे माघसुदी १३ गुरौ श्री मूलसंघे गोलाराडान्वये सा० भोजू पुत्र मलइ सिंह तत्पुत्र सेनराजधामू चामू सविमल सुरपाल सा० सेवरात्र पुत्र करन् असिवस सिवपालोनेदं यंत्रं प्रतिष्ठाप्य नित्यं प्रणमन्ति।

२ सिद्धयंत्र—"सं० १५३४ श्री मूलसंघ भ० जिनचन्द्राम्नाये भ० श्रीभुवनकीर्तिस्तत्पट्टे श्री ज्ञानभूषण गुरूपदेशात् लंबेचू सा० उजागर ....प्रणमति।"

३ अनन्तयंत्र—"सं० १५......श्री मूलसंघे सेनगणे भ० श्रीगुणभद्रस्तद्भट्टारक श्रीलक्ष्मीसेन उपदेशात् कसिम वास्तव्य धरकौ ज्ञातीये संघई हेमा सा: भार्या अम्वातवो सुत संघई मुह सा तशसा केशसा ....श्री अनंत यंत्रं प्रतिष्ठाप्यं नित्यं प्रणमंति शुभं भवतु।

४ सिद्धयंत्र—"सं० १६७१ वर्षे फाल्गुण वदी ३ शुभदिने श्री मूलसंघे भ० श्री धर्मकीर्ति भ० शीलभूषण भ० महीचन्द्र तस्शिष्य मंडलाचार्य श्री विशालकीर्ति तदाम्नाये खंडेलवाल सिंधिया गोत्र सा० हिमत भा० उभा तत्पुत्रे पदार्थक प्रदमोदक ? सम्मेदगिरौ यंत्रस्य प्रतिष्ठाय प्रतिष्ठितं।"

५ सम्यक्चारित्र—"संवत् १६८६ ज्येष्ठ वदि ११ शुक्रे श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाम्नाये भ० श्रीधर्मकीर्ति देवा भ० श्रीशीलभूषण देवा भ० श्री ज्ञानभूषण देवा भ० श्रीजगद्भूषण देवा तदाम्नाये गोलाराम्वये खरौआ जातीये कुलहा गोत्रे पंडिताचार्य पं० भोजराज भा० प्यारो तयो पुत्र ३ पं० श्रीमकरंद भा० दुर्गम दे......पं० दयालुदास भा० खिमोती पं० श्रीश्रीपाल भा० मथरा—पं० मकरंद पुत्र ६ पं० चिन्तामणि भा० सुन्दरि पं० मनीराम भा० सुरितान दे पुत्र पं० हेमराज ०० लला पं० चन्द्रसेन भा० हिमोती पं० चूडामणि पं० परताप भा० परिमलदे पं० बलभद्र पं० हीरामणि पं० श्रीलाल पुत्र पं० तेजपाल भा० केवल

मौलिकता लुप्त हो जाने के ख़याल से "प्रतिमा-लेख-संग्रह" के लेखों की भयंकर अशुद्धियां ज्यों की त्यों छोड़ दी गयी हैं। सम्पादक

दे पं० मनोहर पं० जयन्ती पं० रामचन्द्र पं० रघुपति पं० मधुसूदन पं० श्रीपति पं० ताराचन्द्र पं० मनीराम व्रतउद्यापनार्थं यंत्रं ।

६—**सिद्धियंत्र**—"सं० १६८८ वर्षे आषाढ़ वदी ८ श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाम्नाये भ० श्रीशीलभूषण देवास्तत्पट्टे भ० श्रीज्ञानभूषण देवास्तत्पट्टे भ० श्री जगद्भूषणदेवास्तदाम्नाये गोलसिंगारान्वये रंगा गोत्रे साहु श्रीलालू तस्य भार्या जिना तयो पुत्र कुवेरसी तस्य भार्या चढा (?) तयो पुत्रा चत्वारि ज्येष्ठ पुत्र धरदास द्वितियपुत्र दमोदर तृतीय पुत्र भगवान चतुर्थ अमेश्वर दास भा० अर्जुना एतेषां मध्ये धरदास दशलक्षणी व्रत- उद्यापनार्थं यंत्र प्रतिष्ठा करापितं शुभं भवतु ।"

७—**सम्यग्दर्शनयंत्र**—"सं० १७२१ वर्षे माघवदी ५ सौमे अव० श्री मूलसंघे भ० श्रीजगद्भूषण तत्पट्टे भ० श्री विश्वभूषण तदाम्नाये यदुवंशे लम्बकंचुक पचोलनेगोत्रे सा० भावते हीरामणि कन्हर रमीले लालसेन उद्यामणि शिरोमणि अतिबल जयकृष्ण एतेषां सा० भावते हीरामणि लालसेन रमीले यंत्र प्रतिष्टा करापितं । लिखितं पं० गरीबदास ।"

८—**सम्यग्ज्ञानयंत्र**—"सं० १७६० वर्षे फाल्गुण सुदी १ गुरौ श्री मूलसंघे सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री सुरेन्द्रभूषण देवास्तदाम्नाए लंबकंचुकान्वये रपरिया गोत्रे सा० कुमारसेनि भार्या जीवनदे पुत्र ३ ज्येष्ठ खरगसेन भार्या बलको पुत्र २ जयकृष्ण २ मनसुख एतेषां मध्ये सा० रामसेन नित्यं प्रणमंति ।"

९—**षोड़शकारणयंत्र**—"सं० १७६६ वर्षे माघ सुदी ५ सोमवासरे श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्याम्नाए भ० श्री विश्वभूषणदेवास्तत्पट्टे श्रीदेवेन्द्र भूषण देवास्तत्पट्टे श्री भ० सुरेन्द्रभूषण देवास्तदाम्नाए लंबकंचुकान्वये बुंदेले ज्ञातीये रावत गोत्रे साहु बदलूदास भार्या सुधी तयो पुत्र त्रयः जातः पुत्र जेष्ट राम [भार्या पुना पुत्र जगमन भा० उदोती पुत्र विनयसिंह द्वितीय भ्राता सा० तुलाराम भा० देव भ्राता पुत्राः षट् ज्येष्ठ शिवराम भा० धरनी द्वितीय हंसराज भा० बणे पुत्र परमानन्द द्वितीय पुत्र देवीदास भा० लक्ष्मी चतुर्थ पुत्र उत्तमचन्द्र भा० रत्नावती पुत्र द्वितीय ज्येष्ठ सुखमनि भा० ओसुम ता० वि० टोडरमल पं० चन्द्रभान भा० उदोता षष्ठे दीनानाथ भा० देविकुंवरि पुत्र [परचाराम एतेषां मध्ये साहु तुला रामेण यंत्र प्रतिष्ठा कारिता । ऊदलस्य सागरोपुरेण कृता ।"

१० **सम्यग्दर्शन यंत्र**—"संवत् १७७२ वर्षे फाल्गुणवदी ६ चंद्रे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे कुंदकुंदाचार्य्याम्नाये भ० श्री देवेन्द्रभूषण देवास्तत्पट्टे भ० श्रीसुरेन्द्र भूषण देवास्तस्मात् ब्रह्म॰जगतसिंह गुरुपदेशात् तदाम्नाये लम्बकञ्चुकान्वये बुदेले ज्ञातीये ककौंआ गोत्रे श्री सा० सिवरामदास भा० देवजावी तयो पुत्रा त्रय ज्येष्ट देवीदास भार्या द्वौ ज्येष्ट लालकुंवरि तस्या पुत्रा त्रय ज्येष्ट शोभाराम भा० जाम्वती तयो पुत्र निहालचन्द द्वि० अतिराज भा० जयकुंवरि तृतीय खेमराज भा० सम्वेधी पुनः द्वितीय नन्द राम भार्या घोका तयो पुत्र महानन्द भा० सुमित्रा पुनः तृतीय नरहरदास भा० भवानी तयो पुत्र द्वौ ज्येष्ठ वटऊ मल भा० कमलकुंवरि द्वि० शिवानन्द भा० बलको एतेषां मध्ये देवीदास नित्यं प्रणमंति ।

११ **दशलक्षणयंत्र**—"सं० १७६१ वर्षे फाल्गुण सुदी ६ बुधवासरे शुभ दिने मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्रीविश्वभूषणदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीदेवेन्द्रभूषण देवास्तत्पट्टे भ० श्री सुरेन्द्रभूषण देवास्तदाम्नाए बुढ़ेलान्वये गृगगोत्रे साहु तुलाराम सुपुत्र दारा सहितस्तस्यं ज्येष्ठपुत्र सा० देवीदासस्य दारा पुत्रौ विभूषित नित्यं सर्वे प्रणमंति । अटेरपुरे साहु तुलारामेण यंत्र प्रतिष्ठा कारितः तत्र प्रतिष्ठितम् ।'

१२ **षोडशकारणयंत्र**—"सं० १८२८ मितो भाद्रव कृष्ण पंचमी शुक्रे श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री विश्वभूषणजी त० भ० देवेन्द्र-भूषणजी त० भ० सुरेन्द्रभूषणजी त० भ० लक्ष्मीभूषणजी त० भ० जितेन्द्रभूषण जी तदाम्नाये खंडेलवालान्वये इक्ष्वाकुवंशे छावरागोत्रे नानिगराम नित्यं प्रणमंति ।

मैनपुरी के भगत जी के दिगंबर जैन मन्दिर का लेख-संग्रह ।

यंत्र-प्रशस्तियां

(आठ यंत्र हैं, किन्तु प्रशस्ति किसी पर नहीं हैं)

लिंग-चिह्न सहित प्रतिमाओं पर के लेखों का संग्रह ।

१ **अनंतनाथ**—श्वेतपाषाण—८ अं०—"सं० १६४१ माघकृष्ण २ श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दान्वये भन्मनलालेन प्रतिष्ठितम् ।"

२ **पार्श्व**—खड्गासन—४ खड्ग० मूर्तियां अगल बगल—प्रचयक्षिणी भामंडलादि-सहित—कृष्ण-पाषाण ४० अं०—"श्रीमूलसंघे सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे कुंदकुंदाचार्यान्वये श्रीमंत श्री-हरेन्द्रभूषणजी उपदेसो नरंगी माथे मैनपुरी साहु लाल मनीरामा मारगसुदी २ सं० १६४५ ।"

(२१ मूर्तियों में से कुल दो मूर्तियाँ लिङ्ग-चिन्ह-सहित हैं ।)

मैनपुरी लोइयन का दि० जैन मंदिर में विराजमान लिंग-चिह्न-
सहित मूर्तियों का लेख-संग्रह ।

१ **सिद्धपरमेष्ठी**—धातु—१० अं०—"श्री सं० १६३६ वैसाख शुदी ७ श्री दत्थांगपुरे प्रतिष्ठित-मिदम् सिद्धविंबं हनलाल मैनपुरी ।"

२ **सिद्धपरमेष्ठी**—धातु ११ अं०—"सं० १६४५ मर्घ कृष्ण २ प्रतिष्ठतं ।"

३ **आदिनाथ**—धातु –१४ अं०—"सं० १६११ फाल्गुण मासे शुक्ल पत्ते ६ भृगुवासरे को प्रतिष्ठितं मैनपुरी मध्ये श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुंदकुंदाचार्यान्वये अग्रवाल कुकस गोत्रे लाला मलैराम जी तत्संग भ्राता कल्याण नित्यं प्रणमति श्रीस्व"

४ **चन्द्रप्रभ**—धातु—१८ अं०—"सं० १८८६ चैतमासे शुभे शुक्लपक्षे २ शुभ शुक्रवासरे प्रतिष्ठितं श्री काष्ठासंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीलोहाचार्यान्वये तस्य शिष्य अनुसारेण अग्रवालवंशे गरग-गोत्रे श्रीकासीरामजी नित्यं प्रणमंति । श्रीहरचंद पुरमध्येश्री ।"

५ **पार्श्व**—धातु—२३ अं०—"सं० १६०२ माघ मासे शुक्लपक्षे १३ सोमवासरे को श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुंदकुंदाचार्याम्नाय तद्वचनोपदेशात् वंश अग्रवाल लोहिआ खुसालचंद हरचंदपुर वाले तिनके माथे ।"

६ **पार्श्व**—धातु—२२ अं०—"श्रीसंवत् १८६६ चैतमासे शुक्लपक्षे ३ शुक्रवासरे को प्रतिष्ठितं श्रीकाष्ठासंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीलोहाचार्यान्वये तस्य प्रतीतानुसारेण अग्रवाल वंश...गोत्रे केवलराम श्री नित्यं प्रणमंति श्री मैनपुरी श्रीस्तु ।"

७ **सिद्ध**—धातु—१३ अं०—"श्रीमूलसंघे झम्मनलालेन प्रतिष्ठितं सं० १६४५ माघ कृष्णा २ ।"

८ **आदिनाथ**—धातु १५ अं०—'श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुंदकुंदाचार्यान्वये गर्गगोत्रे अग्रवंशे झम्मनलाल प्रतिष्ठितं सं० १६४५ माघ कृष्ण २ ।"

९ **पार्श्व**—धातु—१४ अं०—"सं० १६११ फाल्गुणमासे शुक्लपक्षे ७ भृगौ प्रतिष्टितं......मद्ध भाई मलैराम नित्यं प्रणमंति ।"

१० **सिद्ध**—धातु—१० अं०—"सं० १६४५ माघ कृष्ण २ ।"

(कुल ३६ प्रतिमाओं में से उपर्युक्त १० के लिङ्ग-चिह्न प्रकट हैं)

यंत्र लेख-संग्रह ।

१ **सम्यग्ज्ञान**—"संवत् १७३४ वर्षे माघसुदी ५ श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये श्री भ० जगद्भूषणदेवा तदाम्नाये लंबकंचुकान्वये रावत-गोत्रे चंद्रमार दुर्गे रावत प्रसादतत्पुत्र रावत सिरोमनि......जंत्रक रापिता नित्यं प्रणमंति"।

२ दशलाक्षणिक यंत्र—"संवत् १७६० वर्षे फाल्गुण सुदि १ गुरौ श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे श्रीकुंदकुंदाचार्याम्नाये भ० श्रीविश्वभूषण देवास्तत्पट्टे श्रीदेवेन्द्रभूषण देवास्तत्पट्टे भ० श्रीसुरेन्द्र भूषण देवास्तदाम्नाए यदुवंशे लंबकंचुकान्वये रपरिया गोत्रे सा० छबीले पुत्र सा० शंकर भार्या तिलका पुत्र ३ ज्येष्ठ साह मारसेनि द्वि० सा० सुखमल..... सा० उदैराजेन यंत्र प्रतिष्ठापितं।"

३ षोडशकारण यंत्र—"शुभ संवत् १९२० फागुण वदि ३ गुरुवासरे श्रीमूल संघे ब० ग० स० ग० कुं० श्रीमद्भट्टारक जिनेन्द्रभूषण जिद्देवस्तत्पट्टे श्रीमद्भट्टारक महेन्द्रभूषण जिद्देवस्तत्पट्टे श्रीभट्टारक राजेन्द्रभूषणजिदेवस्तदुपदेशात् श्रीमदग्रवंशोद्भवः वाशिलगोत्रोत्पन्नः। काष्ठासंघे बाबू ब्रजमोहनदासस्तद्भार्या सुंदरि-कुंवरिस्तत्पुत्रौ बाबू जगमोहन दास बाबू मुनिसुव्रत दासौ तद्भार्ये कांताकुंवरि टुकटुककुंवरि संज्ञके च ताभिः प्रतिष्ठाकर्ता आरा नगर्यां केलिराममस्ततं पुत्र डालचंद् अग्रवार गरग गोत्रोत्पन्नस्य मस्तके कृता।"

४ सम्यक्चारित्र यंत्र—नं ३ की भांति।

५ नवग्रहयंत्र—लेख-रहित।

मैनपुरी के मूर्ति-लेखों से प्राप्त परिचय

मैनपुरी के जिन चार दिगम्बर जैन मंदिरों की मूर्ति एवं ताम्रपत्र-लेखों का संग्रह प्रकट किया गया है, उनसे जो परिचय प्राप्त होता है, उसे पाठकों के अवलोकनार्थ हम नीचे अंकित करते हैं। सबसे पहिले आचार्यों और भट्टारकों का विवरण इस प्रकार है :—

नं०	नाम आचार्य व भट्टारक	गुरु का नाम	संघ	गण	गच्छ	अन्वय	किस समय में उल्लेख मिलता है।	विशेष विवरण
१	भ० अभयचन्द्र ...	......	मूल	बलात्कार	सरस्वती	कुंदकुंद०	सं० १६६२ से पूर्व	
२	भ० अभयनन्द देव ...	भ० अभयचन्द्र	,,	,,	,,	,,	,,	सं० १६६२ में इनके पट्ट पर आचार्य रत्नकीर्ति विराजमान थे।
३	,, कमलकीर्ति ...	......	काष्ठा	...	...	...	सं० १५४५ ...	सं० १५०६ व सं० १५१० के लेखों में भी भ० कमलकीर्ति का उल्लेख है।
४	,, गुणकीर्ति ...	......	,,	...	...	...	सं० १४७३	
५	,, गुणभद्र ...	......	,,	...	...	...	सं० १४८७	
६	,, ,, ...	......	,,	...	...	...	सं०१५२६ व १५३१	इनकी आम्नाय में भ० मलयकीर्ति सं० १५३७—१५४५ में हुए।
७	,, ,, ...	......	मूल	सेन	...	...	पन्द्रहवीं श० ...	इनके पट्ट पर लक्ष्मीसेन थे।
८	,, चंद्रकीर्ति ...	......	काष्ठा	...	...	...	सं० १६५२	
९	,, जिनचंद्रदेव ...	......	मूल	...	...	...	सं० १४१३	

१०	,, जिनचन्द्र	...	......	मूल	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द०	सं०१५०२ से १५१५	भ० प्रभाचन्द्र के शिष्य पद्मनन्दि देव (१४५०) थे। इन्हीं प्रभाचन्द्र का उल्लेख प्रतिष्ठाचार्यरूप में सं० १४१२ में हुआ है। पद्मनंदि के पट्ट पर शुभचंद्र आसीन हुए। शुभचंद्र के उत्तराधिकारी जिनचंद्र थे, जिनके बाद पट्ट पर भ० सिंहकीर्ति (१५२०-१५३८) बैठे। शायद ग्वालियर के पट्ट का उल्लेख है।
११	,, ,,	...	......	,,	,,	,,	,,	सं० १५४५ व १५४६	सेठ जीवराज पापड़ीवाल ने इनके द्वारा अनेक बिंब प्रतिष्ठित कराये थे।
१२	,, ,,	...	......	,,	...	...	...	सं० १५३७ से पूर्व	इनकी आम्नाय में विद्यानंदि मंडलाचार्य और श्रीभुवनकीर्ति हुए।
१३	ब्रह्म० जिनदास	...	......	,,	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द	सं० १५११ ...	"शास्त्रपूजा" "गुरुपूजा" आदि ग्रंथ अपभ्रंश भाषा में शायद इन्हीं ब्रह्म जिनदास ने रचे हैं।
१४	भ० जिनचन्द्रदेव	...	......	,,	...	...	...	सं० १५६२	
१५	,, जिनप्रभसूरि	...	......	,,	...	...	...	सं० १५५१ से पूर्व	
१६	,, जिनभानुदेवसूरि	...	भ० जिनप्रभसूरि	,,	...	...	...	सं० १५५३ शाके	
१७	,, जगतकीर्ति	...	......	,,	...	...	...	सं० १७४६	
१८	,, अतकीर्ति	...	......	,,	...	...	...	सं० १७५१ से पूर्व	

नं०	नाम आचार्य व भट्टारक	गुरु का नाम	संघ	गण	गच्छ	अन्वय	किस समय में इल्लेख मिलता है	विशेष विवरण
१९	,, जगद्भूषण ...	भ० ज्ञानभूषण	मूल	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द०	सं० १६८६ ...	भ० धर्मकीर्ति के पट्ट पर भ० शीलभूषण हुये। उनके पट्टाधीश भ० ज्ञानभूषण थे। और इनके उत्तराधिकारी भ० जगद्भूषण हुए। फिर भ० विश्वभूषण (१७२२) और देवेन्द्रभूषण (१७३५) हुए।
२०	,, जिनेन्द्रभूषण ...	भ० लक्ष्मीभूषण	,,	,,	,,	,,	सं० १८२८ ...	इस लेख में अटेर के पट्ट पर उपर्युक्त विश्वभूषण और देवेन्द्र भूषणको लिखा है। देवेन्द्रभूषण के बाद पट्ट पर भ० सुरेन्द्रभूषण (१७६०–१७६६) बैठे। इनके उत्तराधिकारी भ० लक्ष्मीभूषण (१७८१) हुये, जिनके पट्ट पर भ० जिनेन्द्रभूषण ने अधिकार जमाया। इस प्रकार भ० धर्मकीर्ति से भ० जिनेन्द्रभूषण तक सब ही भट्टारक अटेर की गद्दी पर हुये प्रतीत होते हैं। सं० १४१६ में यहाँ पर भ० विश्वसेन थे। सं० १८१८ में भ० जिनेन्द्रभूषण के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी क्रमशः भ० महेन्द्रभूषण और भ० राजेन्द्रभूषण थे। (सं० १९२०)।

श्रीपूज्यपाद-कृत—

वैद्य-सार

(अनुवादक—पण्डित सत्यन्धर जैन, आयुर्वेदाचार्य्य, काव्यतीर्थ)

(गतांक से आगे)

२०—नवज्वरे करुणाकररसः

रसगंधकं भागैकं तथा च लौहटंकणं।
मनःशिला मयस्कांतं नागं गगनमेव च ॥१॥
सवंगशुल्वसंयुक्तां कृत्वा कज्जलिकां बुधैः।
लौहपात्रे पचेत् सम्यक् यावदरुणवर्णता ॥२॥
करुणाकररसो नाम नवज्वरनिवारणः।
निमित्तदोषदोषेभ्यश्चानुपानं प्रयोजयेत् ॥३॥
पूज्यपादकृतो योगः नराणां हितकारकः।
सर्वरोगसमूहघ्नो कथितो विज्ञसंम्मतः ॥४॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, लौहभस्म, कच्चा सुहागा, शुद्ध मैनशिल, कान्तलौहभस्म, शीसाभस्म, अभ्रकभस्म, वंगभस्म और ताम्रभस्म ये सब बराबर बराबर लेकर कज्जली बनावे और लोहे की कड़ाही में डालकर पकावे, जब पकते पकते लाल वर्ण हो जाय तब तैयार समझे। यह करुणाकर नाम का रस नवीनज्वर को नाश करनेवाला है। इसको ज्वर, तथा वात, पित्त, कफ दोषों के अनुसार अनुपान भेद से सेवन करना चाहिये। यह पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ योग मनुष्यों का हित एवं संपूर्ण रोगों को नाश करनेवाला विद्वानों द्वारा मान्य कहा गया है।

२१—आमादौ मेघनादरसः

हिंगुलं टंकणं व्योष सैंधवं त्रिवृतानि च।
दन्ती हिंगुविडंगं च क्षीण्ययुग्मं समांशकम् ॥१॥
तच्चूर्णसमभागं च जैपालफलमिश्रितः।
मर्दयेत्खल्वमध्ये तु जंबीररसभावितः ॥२॥

बटिकां गुंजमात्रेषु उष्णांबुना पिबेन्नरः।
आमं विरेचनं कुर्यात् मेघनादस्त्रिदोषजित् ॥३॥
पंचगुल्मं क्षयं पांडुकामलाजीर्णदुर्बलं।
मूत्ररोगं हरेच्छ्वासं कासप्लीहमहोदरान् ॥४॥
आर्द्रकरसेन नाशयति अम्लप्लीहजलोदरान्।
शूलहृद्रोगदुर्नामकृमिकुष्ठहलीमकं ॥५॥
मंडलं गजचर्माणि योगेन तिमिरापहः।
मांसोदरे च मंदाग्नौ मधुना खल्वरोचके ॥६॥
मेघनादरसः प्रोक्तः त्रिदोषमलनाशनः।
अनुपानविशेषेण रोगान् मुंचति कार्मुकान् ॥७॥
पूज्यपादकृतो योगो नराणां हितकारकः।

टीका—शुद्ध सिंगरफ, शुद्ध सुहागा, सोंठ, काली मिर्च, पीपल, सेंधा नमक, निशोथ, दन्ती, हींग, वायविडंग, अजमोद, अजवायन ये सब बराबर बराबर लेवे तथा इन सबके बराबर शुद्ध जमालगोटा मिलावे और खल में जंबीरी नींबू के रस में भावना देकर एक एक रत्ती की गोली बनाकर प्रातःकाल एक एक गोली गर्म जल के साथ सेवन करे तो इससे आमदोष का विरेचन होता है, तथा यह मेघनाद रस तीनों दोषों को जीतनेवाला पांचों प्रकार के गुल्मरोग, क्षय, पांडु, कामला, अजीर्ण, दुर्बलता, मूत्ररोग, श्वास, खाँसी, तिल्ली, महान उदर रोग, अदरख के रस के साथ सेवन करने से अम्लरोग प्लीहा, जलोदर, शूल, हृदयरोग, बवासीर, कृमिरोग, कुष्ठरोग, हलीमक, मंडल (चकते पड़ना) गजचर्म (गजकर्ण रोग) विशेष अनुपान से तिमिर रोग को भी, मांसोदर, मंदाग्नि अथवा मधु के साथ सेवन करने से सर्व प्रकार के अरोचक को और त्रिदोष को नाश करनेवाला है यह मेघनाद रस अनुपान-विशेष से अनेक प्रकार के रोगों को नाश करता है। यह पूज्यपाद स्वामी का बनाया हुआ योग मनुष्यों का हित करनेवाला है।

२२—जीर्णज्वरादौ घोड़ाचोलीरसः

पारदं टंकणं गंधं विषं व्योषं फलत्रयम्।
तालकं च समोपेतं जैपालं समभागकम् ॥१॥
किंशुकस्य रसे दत्वा याममात्रं तु पेषयेत्।
गुंजाप्रमाणवटिकां छायाशुष्कां तु कारयेत् ॥२॥

मरिचैः शोधितैः स्वरसैश्चार्द्रकस्य च पाययेत् ।
जीर्णज्वरं शूलमेहं कठिनं तु महोदरं ॥३॥
प्लीहां च कृमिदोषं च हरेत् कुंभाह्वयं गदं ।
घोड़ाचूलिरितिख्यातो पूज्यपादेन भाषितः ॥४॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध सुहागा, शुद्ध गंधक, शुद्ध विष, सोंठ, मिरच, पीपल, त्रिफला, शुद्ध तबकिया हरताल का भस्म और शुद्ध जमालगोटा ये सब चीजें बराबर बराबर लेकर पलास के फूल के स्वरस में एक प्रहर तक घोंट कर एक एक रत्ती की गोली बांधकर छाया में सुखावे। इस गोली को एक रत्ती पीसी हुई काली मिर्च तथा अदरख के रस के साथ पिलावे। यह जीर्णज्वर, शूल, प्रमेह, कठिन उदर रोग, प्लीहा, कृमि और कुंभकामला को नाश करता है। यह घोड़ाचोली रस, पूज्यपाद स्वामी का बतलाया हुआ योग बहुत उत्तम है।

२३—विबंधे इच्छाभेदिरसः

सूतं गंधं च मरिचं टंकणं नागराभये।
जैपालबीजसंयुक्तो क्रमेण वर्धनं करेत् ॥१॥
सर्वतुल्यैर्गुडैर्मर्द्य इच्छाभेदिरसः स्मृतः।
चतुर्गुंजावटी योग्या ततः तोयं पिबेन्मुहुः ॥२॥
विबंधज्वरगुल्मं च शोफशूलोदरभ्रमम् ।
पांडुकुष्ठाग्निमान्द्यं च श्लेष्मपित्तानिलं हरेत् ॥३॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, काली मिर्च, सुहागे का फूल, सोंठ, बड़ी हर्र का बकला, शुद्ध जमाल गोटा, ये क्रम से एक एक भाग बढ़ा कर लेवे अर्थात् पारा १ भाग गंधक २ भाग, मिर्च ३ भाग सुहागा ४ भाग, सोंठ ५ भाग, हर्र ६ भाग, जमालगोटा ७ भाग लेवे और इन सबको पीसे तथा सबके बराबर पुराना गुड़ मिला कर चार चार रत्ती की गोली बनावे, सुबह शाम एक एक गोली सेवन करे और ऊपर से २ तोला पानी पीये तथा प्यास लगने पर कई बार पानी पीवे इससे रेचन होता है। यह दवा ज्वर, गुल्म, सूजन, शूल, उदर रोग, भ्रम रोग, पांडु, कुष्ट, अग्निमांद्य-कफ, पित्त और बात इन सब रोगों को नाश करनेवाला है।

२४—विबंधे विरेचकतिक्तकोशातकीयोगः

तिक्तकोशातकीबीजं तिन्तड़ीबीजसंयुतम् ।
पातालयंत्रमार्गेण तैलं तत्तिक्ततुंबके ॥१॥
सार्धे सबीजे मासार्धं क्षिपेत् सिद्धं भवेत्ततः ।
तेन पादप्रलेपेन नाभिलेपेन वा भवेत् ॥२॥
आमं विरेचयत्याशु वान्तौ तु हृदयं पुनः ।
लेपयेत् क्षालयेन्निम्बवारिणा स्तंभनं भवेत् ॥३॥

टीका—कड़वी तुरई के बीज, तिन्तड़ीक के बीज, इन दोनों को बराबर बराबर लेकर पाताल यंत्र के द्वारा उनका तैल निकाले और उस तैल को कड़वी तुमरियाबीजसहित आधी काट कर उसमें भर कर १५ दिन तक रखे तो यह तैलसिद्धि हो एवं फिर उसको निकाल कर काम में लावे। उस तैल को पैरों में लगाने से तथा नाभी पर लेप करने से आम दोष का विरेचन होता है, यदि वमन हो जाय तो हृदय पर लेप करे और नीम की पत्ती के ठंढे पानी से प्रक्षालन करे तो वमन शान्त हो जाता है।

२५—विबंधे प्रथम इच्छाभेदिरसः

जैपालरसगंधांश्च स्नुहीक्षीरेण मर्दयेत् ।
विश्वाहरीतकी शृङ्गबेरद्रावेण संयुतः ॥१॥
माषमात्रं ददेच्चैव इच्छाभेदि विरेचनम् ।
यथेष्टं रेचनं भूयात् पूज्यपादेन भाषितः ॥२॥

टीका—शुद्ध जमालगोटा, शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, इन तीनों को लेकर थूहर के दूध से घोंटे और उसमें सोंठ, बड़ी हर्र का बकला अदरख के रस के साथ मर्दन करके रख लेवे उसको एक मासे की मात्रा से देवे तो यथेष्ट इच्छानुकूल विरेचन होवे।

२६—द्वितीय इच्छाभेदिरसः

व्योषं गंधं सूतकं टंकणं च तेषां तुल्यं तिन्तड़ीबीजमेतत् ।
खल्वे यामं मर्दयेन्नागवल्लीपर्णैर्वल्लमात्रप्रवृत्तिः ॥
इच्छाभेदिं दापयेच्चाथ सेव्यं तांबूलांते तोयपानं यथेच्छं ।
यावत्कुर्याद् रेचनं तावदेव शूलेषदावर्तपांडूदरेषु ॥१॥

टीका—सोंठ, मिर्च, पीपल, शुद्ध पारा, सुहागा इन सबको बराबर बराबर और सबके बराबर तिन्तड़ीक के बीज ले। खरल में एक प्रहर तक पान के स्वरस में घोंट कर तीन तीन रत्ती के प्रमाण से देवे तथा ऊपर से एक पान का बीड़ा खावे। पश्चात् जितना पानी पीना होय पीवे इससे उत्तम विरेचन हो जाता है तथा सर्व प्रकार के शूल उदावर्त, पांडु-उदर रोग शान्त हो जाते है।

नोट—जितने बार दस्त लेना होय उतने बार पान का बीड़ा खाकर पानी पीवे।

२७—श्वासकासादौ गजसिंहरसः

रसलोहं शुल्वभस्म वत्सनाभं च गंधकं।
तालीसं चित्रमूलं च एला मुस्ता च ग्रन्थिकं ॥१॥
त्रिकटु त्रिफलायुक्तं जैपालं तु विडंगकम्।
सर्वसाम्यं विचूर्ण्यैव शृंगवेरद्रवैर्युतम् ॥२॥
चणप्रमाणवटिकां भक्षयेद्गुडमिश्रिताम्।
श्वासकासक्षयं गुल्मप्रमेहं तृड्जरागदम् ॥३॥
वातमूलादिरोगाणि हंति सत्यं न संशयः।
ग्रहणीं पांडु शूलं च गुदकीलं गूढगर्भकम् ॥४॥
गजसिंहरसो नाम पूज्यपादेन भाषितः।

टीका—शुद्ध पारा, लोह भस्म, ताम्रभस्म, शुद्ध विष, शुद्ध गंधक, तालीस पत्र, चित्रक, छोटी इलायची, नागरमोथा, पीपरामूल, सोंठ, मिर्च, पीपल, हर्र, बहेरा, आँवला, शुद्ध जमालगोटा, वायविडंग ये सब औषधियां बराबर २ लेकर अदरख के रस के साथ घोंट कर चना के बराबर गोली बनावे तथा पुराने गुड़ के साथ एक एक गोली प्रातःकाल और सायंकाल सेवन करे तो श्वांस, खाँसी, क्षय, गुल्म, प्रमेह, तृषा, ग्रहणी, शूल, पांडु, गुदकील (बवासीर का भेद) मूढ़गर्भ तथा अनेक प्रकार के वातरोग नाश हो जाते हैं इसमें कोई संशय नहीं है, ऐसा पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

२८—श्वासकासादौ सूतकादियोगः

सूतकं गंधकं भार्ङ्गी चामृतं चित्रपत्रकं।
विडंगरेणुका मुस्ता चैलाकेशरग्रंथिका ॥१॥

फलत्रयं कटुत्रयं शुल्वभस्म तथैव च।
एतानि समभागानि गुडं द्विगुणमुच्यते ॥२॥
सर्वेषां गुटिकां कृत्वा मात्रां चणकमात्रिकां।
एकैकां भक्षयेन्नित्यं तेषां चैव विचक्षणः ॥३॥
श्वासकासक्षये गुल्मे प्रमेहे विषमज्वरे।
तृष्णायां ग्रहणीदोषे शूले पांड्वामये तथा ॥४॥
मूढगर्भे वातरोगे कृच्छ्ररोगे च दारुणे।
कृमिरोगेषु मन्दाग्नौ मांसोदररुजासु च ॥५॥
कंठग्रहे हृद्ग्रहे हिक्कामूर्धरुजासु च।
अपस्मारे तथोन्मादे रक्तवृद्धौ च दारुणे ॥६॥
सर्वांगेषु च कुष्ठेषु सर्वस्मिन्नश्मरीगदे।
लूतायां सन्निपाते च दुष्टसर्पे च वृश्चिके ॥७॥
हस्तपादादिरोगेषु सर्वेषु गुलिका मता।
सूतकादिरयं योगः पूज्यपादेन भाषितः ॥८॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, भारंगी, शुद्ध विष, चित्रक, तेजपत्र, वायविडंग, रेणुका-बीज, नागरमोथा, छोटी इलायची, नागकेशर, पीपरामूल, त्रिफला, सोंठ, मिर्च, पीपल, ताम्रभस्म, इन सबको समान भाग लेकर कूट कपड़छन करके सब चूर्ण से दूना गुड़ लेकर एक चना के बराबर गोली बनावे और एक एक गोली प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करे, तो इससे श्वास, खांसी, क्षय, गुल्म, प्रमेह, विषमज्वर, तृष्णा, ग्रहणी, दोष, शूल, पांडु रोग, मूढ गर्भ, वातरोग, कठिन मूत्रकृच्छ्र, कृमिरोग, मंदाग्नि, नासिका रोग, कंठरोग, हृद्रोग, हिचकी शिरोरोग, अपस्मार, उन्माद, रक्तवृद्धि, सर्वाङ्ग में होनेवाला कुष्ठ रोग, पथरी रोग, मकड़ी के विष में, सन्निपात में, सर्प के काटने पर, बिच्छू के काटने पर, हाथ-पैर के किसी भी रोग में यह सूतकादि योग बहुत उत्तम है ऐसा पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

२६—क्षयकासादौ अग्निरसः

सूतं द्विगुणगंधेन मर्दयेत् कज्जलीं यथा।
तयोः समं तीक्ष्णचूर्णं कुमारीवारिणा द्रुतम् ॥१॥
सर्वस्य गोलकं कृत्वा ताम्रपात्रे विनिक्षिपेत्।
आच्छाद्यैरण्डपत्रेण यामार्द्धं चोष्णतां नयेत् ॥२॥

धान्यराशौ विनिक्षिप्य द्विदिनं चूर्णयेत्ततः ।
त्रिकटुस्त्रिफला चैलाजातीफललवंगकम् ॥३॥
चूर्णमेषां समं पूर्वरसस्यैतन्मधूयुतम् ।
द्विनिष्कं भक्षयेन्नित्यं स्वयमग्निरसोह्ययं ॥४॥
क्षयकासक्षयश्वासहिक्कारोगस्य नाशकः ।
ज्वरादितरुणे प्रोक्तान् चानुपानान् प्रयोजयेत् ॥५॥
सर्वकासेषु मतिमान् कासोक्तैरनुपानकैः ।
क्षयादिनाशको योगः पूज्यपादेन भाषितः ॥६॥

टीका—शुद्ध पारा तथा दूना गंधक लेकर कज्जली बनावे और दोनों के बराबर तीक्ष्ण लौहभस्म लेकर घीकुआरि के स्वरस में गोली बनाकर ताम्बे के पात्र में रख कर बंद करके डेढ़ घंटे तक आँच देकर गर्म करे और फिर उसी संपुट को धान्य की राशि में दो दिन तक रख देवे, पश्चात् निकाल कर सबको पीसकर चूर्ण बनाले तथा सोंठ मिरच, पीपल, त्रिफला, छोटी इलायची, जायफल, लवंग इनका चूर्ण पहले के रस के बराबर ही ले एवं घोंट कर तैयार करले। यह स्वयं अग्निरस तैयार हो गया समझो। इस चूर्ण को मधु के साथ सेवन करना चाहिये तथा ज्वर इत्यादि में जो अनुपान कह चुके हैं, खाँसी और श्वास में जो अनुपान कह चुके हैं उन्हीं अनुपानों से इनको भी देना चाहिये। यह क्षय आदि को नाश करनेवाला पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ उत्तम योग है।

३०—वाजीकरण रतिविलासरसः

हरजभुजगकांताश्चाभ्रकं च त्रिभागं
कनकविजययष्टी शाल्मली नागवल्ली ।
सितमधुघृतयुक्तं सेवितं वल्लयुग्मम् ।
मदयति बहुकांतं पुष्पधन्वा बलायुः ॥१॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध शीसा, कांतलौह भस्म ये तीनों बराबर बराबर लेवे तथा अभ्रक भस्म, तीसरा भाग ले और सबको घोंट कर तैयार कर लेवे, फिर शुद्ध धतूरा के बीज, विजया की पत्ती, मुलहठी, सेमल का मूसला एवं पान इनके साथ मिश्री तथा शहद के साथ साथ रत्ती प्रमाण सेवन करने से बहुत स्त्री वाले पुरुष को कामदेव तथा बल और आयु मदमत्त कर देते हैं अर्थात् वह क्षीण-शक्ति नहीं होता।

३१—वाजीकरणादौ लीलाविलासरसः

अहिफेनं वार्धिशोकं च त्रिसुगंधं च तत्समम्।
धूर्तबीजसमायुक्तं विजयाबीजतत्समम् ॥१॥
तद्रसैः भावनां कुर्याद्रसो लीलाविलासकः।
चणकप्रमाणवटिका दीयते सितखंडया ॥२॥
बहुमूत्रविनाशश्च शुक्रस्तंभं करोति च।
यामिनीमान-भंगं च कामिनीमदभंजनम् ॥३॥

टीका—शुद्ध अफीम, समुद्रशोष, छोटी इलायची, दालचीनी, तेजपात, ये तीनों बराबर तथा शुद्ध धतूरे के बीज और उसी के बराबर भांग के बीज लेकर धतूरा और भांग के स्वरस की भावना देकर चना के बराबर गोली बांधे। इस गोली को मिश्री के साथ देने से बहुमूत्र रोग शांत हो जाता है तथा वीर्य्य का स्तम्भ होता है और रात्रि का मान-भंग और कामिनी के मद का नाश होता है।

३२—आमदोषादौ उदयमार्तण्डरसः

हिंगुलं च चतुर्निष्कं जैपालं च त्रिनिष्ककं।
वत्सनाभं चैकनिष्कं त्रिकटु चैकनिष्ककं ॥१॥
हरीतकी चैकनिष्कं निष्कमेरंडमूलकं।
करंजबीजं निष्कं च नीलांजनमनःशिला ॥२॥
रसतुत्थं पिप्पली च वराटं शंखभस्मकं।
कनकं निम्बबीजं च प्रत्येकं च निशाद्वयम् ॥३॥
सर्वं च प्रतिनिष्कं च दिनं खल्वे विमर्दयेत्।
अजक्षीरेण संमिश्रश्चणमात्रवटीकृतम् ॥४॥
वटकं गुडमिश्रेण ऊषणेन समन्वितम्।
सेव्यश्चोष्णकीलाले चामदोषविरेचकः ॥५॥
पंचगुल्महरः शूलहरो वातविशोधनः।
रसोऽयं पूज्यपादोक्तः सर्वशीतज्वरापहः ॥६॥

OM

THE JAINA ANTIQUARY

An Anglo-Hindi quarterly Journal,

Vol. I.] December, 1935. [No. 3.

Editors:

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B., P.E.S.,
Professor of Sanskrit,
King Edward College, **Amraoti, C. P.**

Prof. A. N. UPADHYE, M.A.,
Professor of Prakrata,
Rajaram College, **Kolhapur, S.M.C.**

B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.,
Aliganj, Distt. Etah. U.P.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI,
Librarian,
The Central Jaina Oriental Library, **Arrah.**

Published at

THE CENTRAL JAIN ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription:

Inland Rs. 4. **Foreign Rs. 4-8.** **Single Copy Rs 1-4.**

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. I. No. III — ARRAH, (INDIA) — December, 1935.

Jaina Art in South India

(By Prof. Shripad Rama Sharma, M.A.)

The most distinctive contribution of Jainism to Art in South India was in the realm of Iconography. As with everything else in life the Jainas appear to have carried their spirit of acute analysis and asceticism into the sphere of art and arthitecture as well. There are minute details, for instance in the *Mānasāra*, a standard book on the subject in South India, according to which

"The image of a Jina should have only two arms, two eyes, cropped head; either standing with legs kept straight or in the *abhanga* manner; or it may be seated in the *padmāsana* posture, wherein also the body must be kept erect. The figure should be sculptured as to indicate deep contemplation; the right palm should be kept facing upwards upon the left palm held in the same manner (and both resting on the crossed legs). On the *Simhāsana* on which the image of the Jina is seated (and round the *prabhāvali*) should be shown the figures of Narada and other *rishis* hosts of gods (and goddesses), vidyādharas and others, as, either seated or standing in the air, and offering worship to the Jina.

"Below the *simhāsana* must be the figures of (other) Jinas in a worshipping attitude; these are the *siddhas* (or *adisidhas*?), the *sugandhas* (*sugatas*?), *Chahantu* (*chārhantas*, i.e., Arhantas?), *Jana* (*Jina*?) and *parśvakas*; these five classes are known by the name of *Pancha-parameshtins*. The complexions of these are respectively *spaṭika* (crystal), white, red, black and yellow. The central Jina figure should be shaped according to the *uttama-daśa-tala* measure, whereas those of the *devatas* and the twenty-four Tirthankaras surrounding him in the other (*madhyama* and *adhama*) *daśatala* measures. *The body should be perfectly free from ornament*, but on the right side of the chest (a little over the nipple) there should be the *Śri-vatsa* mark of golden colour.

"On the right and left side of the gate of the temple of Jina, there should be the *dwārapālakas* named *Chanda* and *Mahā Chanda* respectively."[1]

It becomes clear from this extract that there was a regular system of sculpture and architecture to which the workers were expected strictly to conform. "The excessive deference to ritual prescription, generally recognised as a defect in Hindu art" observes Smith, "is carried to such an extremity by the Jains that images differing in age by a thousand years are almost indistinguishable in style. The uniformity which runs though the centuries extends all over India, so that little difference between Northern and Southern productions is noticeable, and the genius of individual artists finds small scope for its display."[2] The best illustrations of this remark are undoubtedly the three wellknown colossi of South India, *viz.*, the statues of Gommata or Bāhubali at Śravaṇa Belgoḷa, Kārkal, and Yenūr or Venur. The last one is the smallest of the three (35 ft. high) and the first the biggest, rising to a height of 56½ ft. All the three are carved each out of a single block of gneiss, giving expression to the same ascetic ideal in the self-same manner, with the exception of the dimples in the cheeks of the Yenur colossus expressing "a deep, grave smile." They date respectivaly

1. *Mānsāra* ch. 55; cf. Gopinathrao, Travancore II, pp 118-19.
2. Smith, History of Fine Arts in India, pp. 267-68.

from about 983 A. D., 1432 A. D., and 1604 A. D.[1] All are set on heights of more or less prominence, visible from a considerable distance around; and despit their formalism "command respectful attention by their enormous mass and expression of dignified serenity.' That of Karkal is said to be 41 ft., 5 inches high, 10½ ft. thick, weighing about 80 tons.[2] "This is one of those colossal statues that are found in this part of the country," says Walhouse, "statues truly Egyptian in size, and *unrivalled through out India as d-tached works*.........Nude, cut from a single mass of granite, darkened by the monsoons of centuries, the vast statue stands upright, with arms hanging straight, but not awkwardly, down the sides in a posture of somewhat stiff but simple dignity."[3]

This figure of Gommata is indeed known only in South India, and statues of that size are very rare elsewhere.[4] Gommata, Bāhubali, or Bhujabali is supposed to have been the son of the first Tirthankara Vrishabha, who attained salvation in that position of *Kāyotsarga*. His feet are entwined with weeds and *Kukkuta-sarpas*. On the Chandragiri Hill at Śravana Belgola is also another statue that of Bharata, brother of Bāhubali, of great size, broken below the knees, yet standing erect:

> " A statue solid set
> And moulded in colossal calm."

In the Jaina cave at Bādāmi a similar figure is seem which, in the opinion of Fergusson, is much older (c. 600 A. D.) than the three great monoliths, but represents the same individual—the ideal ascetic who stood in meditation until the ant-hills arose at his feet and creeping plants grew round his limbs. "This Gomata, Gummata or Dorbali," he also says, "has no prominent place in the

1. Cf. Hultzsch, Jain Colossi in South India, Ep. Ind. VII, pp. 108-12. Ep. Car. II, Introd., p. 15.
2. Cf. Fergusson, A History of Indian and Eastern Architecture II pp. 72 3; Buchanan, Travels III, p. 83.
3. Cf. Sturrock, South Canara I, p. 86 ft.
4. At Nara in Japan is a bronze statue of Buddha 60 ft. high; and at Bāmiyān, a stone image, also of Buddha, 173 ft., high. See, Carpentier, Buddhism and Christianity, p. 15; Nariman. The Indian Daily Mail Annual, 1926, p. 12. Cf. At Gwalior, Smith, op. cit., pp. 268-70.

Śvetāmbara pantheon, though Pārśvanātha is with them occasionally represented in a similar position "[1]

The question naturally arises, as to how these huge images were moved to their present place. " The task of carving a rock standing in its place had it even been twice the size, the Hindu mind never would have shrunk from; but to move such a mass up the steep smooth side of the hill seems a labour beyond their power, even with all their skill in concentrating masses of men on a single point," says Fergusson.[2] Yet the fact remains that at least at Karkal the statue with its immense proportions was moved up a smooth and steep rock nearly 800 feet high. According to tradition, it was raised on to a train of twenty iron carts furnished with steel wheels, on each of which 10,000 propitiatory cocoanuts were broken and covered with an infinity of cotton; it was then drawn by legions of worshippers up an inclined plane to the platform on the hill-top, where it now stands.[3]

Folk-songs of South Kanara also throw some light upon this point, and seem to contain the soul of truth within their legendary exterior. They ascribe the erection of all the three statues to the familiar devil Kalkuda :—

The king of Belur and Belgula sent for Kalkuda the stone mason of Kallatta Mārnād (N. E. of Mangalore). *He put the thread on his shoulder to let people know his caste,* and held up an umbrella He made sharp his adze and put it on his shoulder. He made sharp his chisel and put it in a bag. He made sharp his axe and put it on his shoulder. He carried a cord and a pole for measuring. He dressed himself in his dressing-room, and then he dressed himself again. "I am going to the kingdom of Belgula," he said to his wife. He reached Belgula where he ascended twelve steps of stone. He passed by the gate. He passed by a *painted chāvadi.* He passed by a *pillar of precious stone,* and a large yard. There the king sat down on his *throne with*

1. Fergusson, op. cit., pp. 72, 73 no. 3 ; Ep. Car. II Introd., pp. 12-1.

2. " " " .

3. Thurston, The Castes and Tribes of Southern India II, pp. 422-23

pea cock's feathers. He held up his hands and saluted him: " Come Kalkuda, take a seat," said the king.

'Why did you send for me ?" asked Kalkuda. " *Now this is evening and the time to take one's food* : therefore take five *seers* of rice, and go to your lodging; I shall tell you your work tomorrow morning, and then you must work well," said the king.

Next morning the king directed him to do *fine work, such as a basti* (temple), *with 1,000 pillars, aud with 120 images.* Seven temples with seven idols; a small temple inside and a garden outside: an elephant in the outer yard, *and also a large idol called Gummada.* Work such that only one door was opened when a thousand doors were shut, and that the thousand doors are opened when a single door was shut;—*a building for dancing* and *another for dancing-girls,* and also others for lodgings;—an elephant that seemed to be running;—a fine horse and a lion.

" *I want to choose my own stones,*" said Kalkuda.

" *Go there to a large rock,* and get the stones you like," said the king.

" He went to a large rock called *Perya Kalluni and remembered the gods on the four sides.* He found the cleft in the stones and put his chisel there, and then he applied his axe. The stone was separated, *just like flesh from the blood.* He then did fine work, and built the *basti* of a thousand pillars, etc.[1]

Then the song proceeds.—" *It is a year and six months since I came.* I must go to my native country. Therefore, I beg leave," said Kalkuda.

The king presented him with a cot to lie down on, a chair to sit on, five torches for light, a stick to walk with, clothes up to the shoulders, and betel leaves to fill his mouth.

Then Kalkuda's son, seeing his own father's work said: " *All the work is done well, except the image of a frog which is not done well.* Its eyes are not done well. Its paws are not well done. Its eyes are not done well. Its paws are not well done Its legs are not properly done."

1. Burnell, The Devil Worship of the Tuḷuvas, Ind. Ant. XXV, MS. 25.

"*Rāma, Rāma, Brêmêtti*" exclaimed Kalkuda, "*Many have seen and examined my work; many have been satisfied with it.* You were born but yesterday, and are only just grown up, *still you have found out a mistake in my work: If the king heard of this he would tie me to an elephent's leg* and beat me with horse-whips. *He would dishonour me, and then what would be the use of my life?* So saying Kalkuda *put down his tools* and *took out a knife from his girdle* and *cut his own throat*. Thus did he kill himself.

"*Father, although you are dead....I will not leave your tools,*" said the son.........*And he worked at Belgola better than his father had done.* He built the seven temples; he established a *Brahma* (?)[2] etc.

* * * *

Bairana-sūda (Bairāsu Wodeya ?) *King of Kārkal, heard the news, sent for him, and told him to work in his kingdom.........* *He made a basti with a thousand pillars, 120 images, a dancing room, a lodging for dancing-girls, etc.*

"Go to a rock on dry land and *make a Gummatasāmi* there," said the king. *He made the Gummatasāmi.* He made a pillar called *Banta Kamba*, a pillar of *Mahārnavami*. He made a garden inside the temple.

"You people, bring fifty cocoanuts in a basket, and betel-nut on a fan; *call together the 5,000 people of Karkal, and raise the Gummatasāmi,*" he said. *But they could not do it.*

"*Very well,*" *said Kalkuda* (the younger), *and he put the left hand under the Gummata and raised it, and placed it on a base, and then he set the Gummata upright.*'

This interesting legend makes it clear that the Jainas employed Brāhmanical architects and sculptors as well. In the sequel we are told that the King of *Karkal* said, "*I will not let Kalkuda, who has worked in my kingdom, work in another country;*" and he cut off his left arm and right leg. In spite of this, however, Kalkuda

2. This is evidently a reference to the Brahma-deva Pillar, or Mānastambha on the Chandragiri Hill, which is a beautiful work of art. Cf. Ep Car. II Introd., p. 24.

went to Timmajila,[1] King of Yeṇūr, and *did fine work with only one arm and one leg*. His sister, *Kallurti* (another devil worshipped in South Kanara) is said to have taken full revenge for the ill-treatment of her brother to which the fall of the Kārkal Wodeyars is attributed.[2] The legend also amply illustrates the life of a sculptor, his skill, his sense of honour, his hereditary attachment to his vocation, his small remuneration, as well his hardships which often disabled him for life, though his indefatigable enthusiasm for his task was more than could be curbed by such calamities. But in spite of all this we cannot fail to notice that lack of versatility in expression, which resulted in repeating the same acts and same acts and same forms over and over again at Beḷguḷa, at Kārkal, and also at Yeṇūr, almost like a machine turning out stereo-type blocks. "Numberless images might be figured," says Smith, "without adding anything to the reader's knowledge of Indian art. They differ from one another merely in the degree of perfection attained in mechanical execution."[3] There is in the Madras Museum, a Jaina image on the base of which are written the words that King Saḷva Deva, 'a great lover of *Sahitya* (literature), 'made (the image) according to rule.'[4] There are innumerable such images made of metal, stone, or even gems. "The Jainas," as Walhouse has remarked, "delighted in making their images of all substances and sizes, but almost always, invariable in attitude, whether that be seated or standing. Most of the images belong to the Digambara sect or school, and are nude. Small portable mages of the saint are made of crystal, alabaster, soap-stone, blood-tone, and various other materials; while the larger are carved rom whatever kind of stone is locally available." He also men-ions a life-size brass image of Śantiśwara at Yeṇūr, "erect and nshined in burnished silver and brass-work variegated with red

1. Evidently, Timmarāja who erected the Yeṇūr colossus. He must therefore have belonged to the Ajila or *Ajalar* family. See, Sturrock, op. cit., p. 55.

2. Burnell, op. cit, p. 224.

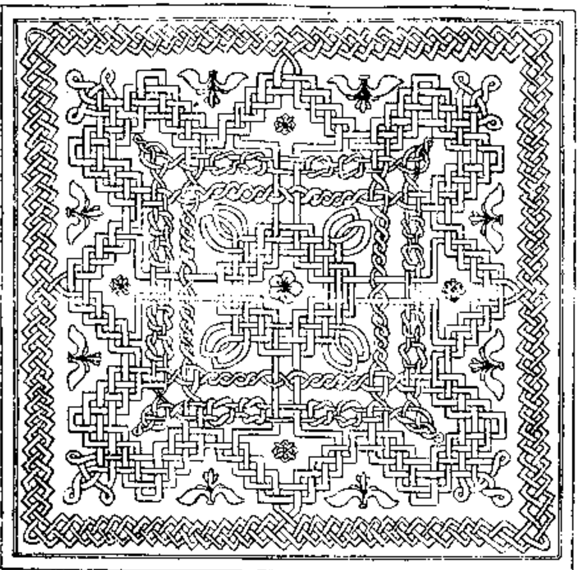
3. Smith, op. cit, p. 268.

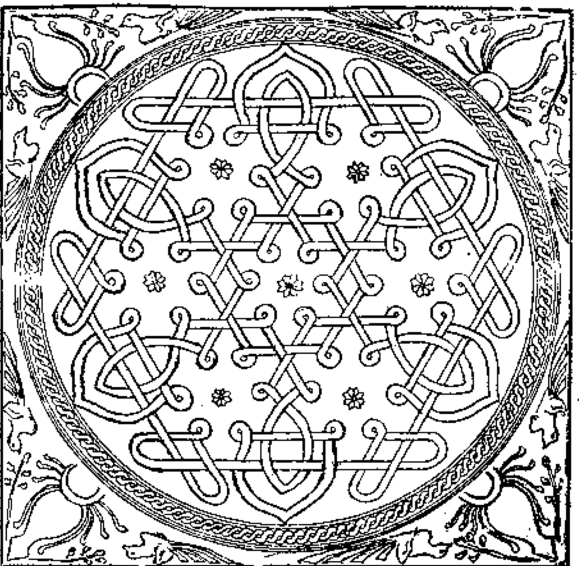
4. Rangacharya, Inscriptions of the Madras Presidency, II, 325

ornaments."[1] Each Tirthankara is distinguished from another by his colour, his *chinnha* and *lānchhana* and the *Yakshas* and *Yakshinis* who attend on him; the Svetambara images differ from the Digambara particularly in the nudity and absolute lack of ornament in the latter.[2] But, in the words of Mr. Nanalal C. Mehta, "Somehow or other the aesthetic element was over-shadowed by other considerations, and size rather than strength in sculpture, elaboration of detail more than the beauty of form or outline in building, and narration more than accomplished expression in pictures become the dominant qualities of Indian art as developed under the austere influence of Jainism ".[3]

Another peculiar contribution of the Jainas, not only to S uth Indian, but also to the whole of Indian or even Eastern art, is the free-standing pillar, found in front of almost every basti or Jaina temple in South India. "In the whole range of Indian art,' observes Smith, "there is nothing, perhaps, equal to these Kanara pillars for good taste. A particularly elegant example, 52½ ft., in height, faces a Jain temple at Mudbidrê. The material is granite, and the design is of singular grace (c. 11th or 12th cent. A. D.)".[4] There are about twenty such pillars in the District of South Kanara alone, which made many other distinctive contributions to Jaina art, as we shall notice in the course of these pages. There are two kinds of such pillars in South India, namely, the *Brahma-deva-stambhas* and the *Mānastambhas*. The former bear figures of the Brahmanical god Brahma; the latter are taller and have a small pavilion at the top on the capital.[5] We have already referred to the *Tyagada Brahma-deva-pillar* at Chandragiri which is considered 'a beautiful work of art'. The fine *Māna-stambha* in front of the Parsvanatha Basti at Sravana Belgola is distinguished by a *śikhara* over the cell which is always surmounted by a small dome, "as is universally the case with every *vimāna* in Dra-

1. Walhouse cited by Smith, op. cit., pp. 238, 268.
2. Burgess, Digambara Jain Iconography, Ind. Ant. XXXII, p. 459 f.
3. Mehta, Studies in Indian Painting, p. 22.
4. Smith, op. cit., p. 22.
5. Ep. Ind. VIII, p. 123.





मूड़बिद्री के चन्द्रनाथ-चैत्यालय के खंभों में खुदी हुई हस्तकला के नमूने

(श्रीयुत एस० चन्द्रराज के सौजन्यसे)

vidian architecture, instead of with the *āmalaka* ornament of the Northern *śikharas*."[1]

These *stambhas* or detached pillars are quite different from the *dīpa-stambhas* or lamp-posts of Hindu temples, and in the opinion of Fergusson, "are the lineal descendants" of the Buddhist ones which bore either emblems or statues-generally the former or figures of animals. "Pillars are found of all ages in India," he says, "from Aśoka pillars down to the Jainas. They might be compared to the Egyptian obelisks—but when we look at the vast difference between their designs, it becomes evident that vast ages must have elapsed before the plain straight-lined forms of the obelisks could have been changed into the complicated and airy forms of the Jaina *stambhas*".[2] Mr. Walhouse remarks, "The whole capital and canopy (of Jaina pillars) are a wonder of light, elegant, lightly decorated stone work; and nothing can surpass the stately grace of these beautiful pillars, whose proportions and adaptations to surrounding scenery are always perfect, and whose richness of decoration never offends."[3]

Apart from these pieces of individual statuary or architectural work, the Jainas distinguished themselves by their decorative sculpture, and attained a considerable degree of excellence in the perfection of their pillared chambers which were their favourite form of architecture. These took various shapes and gave full play to a variety of designs, differing according to the locality, the nature of the climate or the substance available out of which to execute their artistic ideals Dr. Coomaraswamy finds fault with Fergusson for his "sectarian classification" which he says "is quite misleading;" "for, just as in the case of sculpture there are no Buddhist, Jaina, or Brāhmaṇical styles of architecture, but only Buddhist, Jaina and Brāhmaṇical buildings *in the Indian style of the period*."[4] Without entangling ourselves in this controversial question, we might accept the geographical classification of Dr. Coomaraswamy as an "adequate" (though not "the only")

1. Fergusson, op. cit., p. 75.
2. *Ibid*., pp. 81-83.
3. Walhouse, Ind, Ant. V. p. 39.
4. Coomaraswamy, History of Indian and Indonesian Art, pp. 106-7.

oelassification, for our purposes. "The three most clearly differentiated types are," according to him, "the *Northern* marked by the curvilinear *śikhara* the *Southern*, with a terraced pyramidal tower, of which only the dome is called the *śikhara* and the *Central*, combining both types with peculiarities of its own." These three types are thus designated in the *Śilpa-śastras* :

A. *Nāgra*—mainly, North of the Vindhyas.

B. *Vêsara*—Western India, the Deccan and Mysore.

C. *Drāvida*—Madras Presidency and North Ceylon.[1]

It is to be understood that these are the most predominent characteristics of each area, but not the monopoly of any particular zone. For instance, in a Ratta inscription of Saundatti that king Rājā "caused to be erected at Kalpôlê a temple of Jina, wonderful to be beheld, the diadem of the earth, *having three pinnacles* (*śikharas*) unequalled so that Brahma, Vishnu and Śiva were charmed with it;" he also built "a place of retreat for the high-minded devotees of the god Santinatha (Jina) *adorned with golden pinnacles* and arched portals, fashioned like a seamonster, and pillars of honour, etc."[2]

A more peculiar type of Jaina temples is found in South Kanara, below the *ghats* on the West Coast. Apart from the *Betta* or shrines consisting of an open court-yard surrounded with cloister round about the colossi, are the temples of Mudbidrê, belonging mostly to the time of Vijayanagar Kings,—with their sloping roofs of flat over-lapping slabs, and a peculiar type of stonescreen enclosing the sides, recalling a Buddhist railing—resemble Himalayan structures, rather than anything else more familiar in India.[3] The

1. Cf. *Ibid.*, pp. 106-7.

2. Fleet, Ratta *I*nscriptions, JBBRAS X, p. 235.

3. Cf. Coomaraswamy, op. cit., pp. 118-19; Fergusson, op. cit., p. 75 f. This ressmblance with Nepalese or Himalayan architecture is generally explained by saying that "similar conditions produced similar structures"; but those who say this forget or are unaware of the existence of a number of Nepalese *jogis* at Kadri (Mangalore) from unknown times, in the vicinity of whose *Matha* are a number of tombs said to be those of Gorakh-Nath and his followers from the Himalays. If this fact does not wholly explain, it certainly lends support to the hypothesis of actual Northern influence.

influence of this style is seen not merely in South Kanara, but also further South along the coast. Mr. Logan observes, "The Jains seem to have left behind them one of their peculiar styles of temple architecture; for the Hindu temples, and even the Muhammedan mosques of Malabar, are all built in the style peculiar to the Jains, as it is still to be seen in the Jain bastis at Mudbidrê and other places in the South Canara district" How the Muhammedans came to adopt this style for their mosques, he explains by stating that some of the original nine mosques were built on the sites of temples (or bastis) and perhaps the original buildings were retained or they set the model to later mosques.[1]

Of the various styles we can only choose a few typical instances, and dwell more on the peculiarities of the consolidated Jaina art as a whole.

The *bastis* on the Chandragiri Hill (Śravaṇa Beḷgoḷa) are fifteen in number. They are all ofthe Dravidiam style of architecture and are consequently built in gradually receding storeys each of which is ornamented with small simulated cells. No curvilinear *śikhara*, such as is universal with the Northern Jainas, occurs among them, and their general external appearance is more ornamental than that of the Northern Jaina temples.[2] Quite in contrast to these are the bastis of Mudbidre.

The external plainness of the Jaina temples of South Kanara gives no clue to the character of their interiors. In the words of Fergusson, "Nothing can exceed the richness or the variety with which they are carved. No two pillars are alike, and many are ornamented to an extent that may almost seem fantastic. Their massiveness and richness of carving bear evidence to their being copies of wooden models."[3]

This last observation is fully confirmed by an inscription in Coorg, above the ghats, which definitely speaks of a *basadi* made of wood to serve as model for another to be later on constructed

1. Logan, Malabar, pp. 88 618 ; cf. Fergusson, op. cit., pp. 7, 68-9.

2. Cf. Fergusson, op, cit. I., p. 172 ; *Ibid* II, p. 74.

3. *Ibid.*, pp. 78-9 ; Sturrock, op. cit., p. 85.

in *stone*. Its estimated cost was 330 *honnu*.[1] The wooden model must easily have been dispensed with in cases of material which was as tractable as wood. For instance, at Bārkur. Buchanan observed a *basti*, built by the Wodeyars, about which he remarks—"The workmanship of the pillars and carving is superior to anything that I have seen in India, *probably owing to the nature of the stone which cuts better than the granite in common use, and preserves its angles better than the common pot-stone, of which many temples are constructed*."[2] The variety of material used for temple structure, naturally varied with the locality. There is a Jaina temple in Belgaum with pillars of black Belgaum porphyry which is said to take a high polish and is strongly magnetic.[3] At Ellora, in one of the Jaina caves, a shrine has two round pillars of polished red stone which give a hollow metallic sound when tapped with the fingres.

The plans of these *bastis* are everywhere the same, with but slight variations accordihg to size. They begin with spacious, well lighted porches or *mandapas*—of which there are three in larger temples, (known respectively as *Tirthankara.*—*Gaddige*, —and *Chitra-mantapas*), and two in smaller ones (called *Tirthankara*, and *Namaskara-mandapas*)—leading to a cell in which the images of one or more Tirthankaras are placed.[4] A special type of the smaller shrines common in Mysore is what is called the *Trikutāchal* with three *garbha-girihas*, three *sukhanāsis*, and a *Navarangi* or porch. Shrines of this type are taken as good specimens of the Hoysaḷa style, two examples of which are: the Jaina *basti* at Markuḷi (a small village 3 miles east of Ambuga on the Mysore Arsikere railway-line) and the Śantinatha temple of Jinanātha-pura (a mile north of Sravana Belgola). The latter is said to be the most ornate temple in the whole of Mysore State.[5]

1. Cf. Rice, Coorg Inscriptions, Ep. Car, I, 10, p. 56.
2. Buchanan, op. cit. III, pp. 132-33.
3. Cf. Belgaum, Bom. Gaz. XXI, p. 540.
4. Fergusson, op. cit., p. 79; cf. Madras Ep. Rep. 1916-17, pp. 113-14.
5. Mysore Archæological Report, 1925, p. 1: Ep. Car. II Introd., pp. 32-33.

Another variety of smaller temple is that found at Guruvayanakêrê in South Kanara. It is a five-pillared shrine, in front of the larger temple to which it belongs. Fergusson has observed that four pillared shrines are not uncommon in the Southern temples, but five pillars is peculiar,—and also having access to the upper chambers (which in this case are three in number).[1] The Mêguti temple at Aihole, in the Bijupur District, is also said to be "*somewhat peculiar*, the shrine being surrounded by eight small rooms (8 ft. wide) in place of a *pradakshina* passages"[2] But by far the best model of a Jaina temple is that of the *Chaturmukhbasti* or the four-faced temple, found at Karkal and Gersoppa; a plan of of the latter is given on the page opposite. The following description of the former by Walhouse is also worth reproduction :—

"On a broad rocky platform below the hill on the side next the town stands a remarkable Jain temple, much differing from the ordinary Hindu style; square with a projecting columned portico facing each of the four quarters. The columns, quadrangular for a third part of their height, pass into rounded sections, separated by cable bands, and have the sides and sections richly discorated with deities, and most graceful and intricate arabesque designs, rosettes and stars, leaf and scroll work, in endles combination, all made out of the carver's brain, wrought almost as finely as Chinese ivory work. The friezes and pediments round the porticoes and temples are ornamented in like manner, and frequently a stone in the wall displays some quaint wonderfully well-cut device; a hundred-petalled flower disc, two serpents inextricably intertwined, or a grotesque head surrounded with fruitage. The temple is roofed with immense overlapping flagstones, and bore some sort of cupola now ruined in the centre. On the massive folding doors of one of the portals being rolled back, a strange sight is disclosed. In a large square recess immediately facing the entrance stand three life-sized images of burnished copper, the counterparts of the great statue on the hill above, each

1. Fergusson, op. cit., p. 79.

2. *Ibid.* I., p. 356; cf. Havell, Ancient and Mediaeval Architecture of India, p. 68.

resembling each, and looking weird and unearthly in the gloom of the adytum as the light through the opening doors falls upon them. A like triad stands within each of the other three entrances."[1]

Details of the interiors of other Jaina temples also reveal an almost confusing variety of figures, decorations, and symbols. To give but one illustration, in the Mārkuḷi temple, already referred to, the main image of *Adiśvara* is seated in *Yogamudra*, palm on palm crossed legs in the front. Behind him is a *prabhavāli* built against the wall. On either side are standing figures of Bahubali and Parśvanātha with a serpent of five hoods over the heads of the latter, Bāhubali is flanked by two small figures one with six hands and another only with two. Of the six hands and another only with two. Of the six hands of the former, three hold respectively an *ankuśa* a *kalaśa*, and a trident; the rest hold fruit. Another seated male figure has four hands holding an *ankuśa*, *akshamālā*, and fruit in the three with the fourth hand in *Varada-hasta* pose. There is also a female figure with twelve hands: Four on the right hand four on the left holding each a *chakra* or disc; two with a thunderbolt, and the remaining, with a lotus and *varada-hasta*. On the ceiling are lotuses and other flowers.[2]

Often on the pillars of Jaina temples are curious figures like that of the giraffe or the interlaced basket work of which Fergusson finds parallels in Irish manuscripts and crosses, as well as in America and the valley of the Danube in Europe.[3] The number of pillars also is sometimes far in excess of mere architectural needs, as in the case of the Thousand Pillar Basti of Mudbidrê. "It is very extensive, magnificient, containing on and about a thousand pillars and no two aliko. In the prophylaeum are several of great size, the lower halves square, the upper round and lessening, recalling Egyptian forms, and all covered with a wondrous wealth of sculptured gods, monsters, leaf and flower-work and astonishing arabesque interlacement cut with admirable clearness. One quadrangular face bears a hymn graven curiously in twenty-

1. Cf. Sturrock, op. cit., p. 90.
2. Cf. Mysore Archæological Report, 1925, p. 2.
3. Cf. Fergusson, op. cit., p. 82.

five small compartments, each containing four compound words, which may be read as verses in all directions, up or down, along or across. On the outer pediment there is a long procession of various animals, living and mythical, among them the centaur and mermaid and an excellent representation of a giraffe."[1] The two specimens of wood-carving, *viz.*, the *Panchanāri-turaga* and *Navanāri-kunjara*, are also from Mudbidre and belong to the Chouter's place there.

To these illustrations from Mysore and the West Coast we might add another from the Deccan to show that the love of profusion and variety was essentially the same, whether in the North or South differing only in the details of expression. The temple of Belgaum with its pillars of magnetic black porhyry has already been referred to. Its sculptures are no less interesting. The brackets of the pillars are ornamented with heads of cobras. In each of the eight architraves which support the dome of the temple are carved five small cells or *mandirs*, each containing a sitting Jina, and, between the cells are four attendants or supporters—standing figures each under a small canopy. On one carved slab is a *figure on horse-back with a high cap*, a canopy or umbrella over his head, and a woman behind him. Another is a fancy alligator or *makara*, a large-headed gaping and similarly mounted short legged dragon. In the centre of the dome is a beautiful pendentive boldly designed and well executed, but damaged at one point. The door leading from the hall to the inner temple has been very gracefully carved. On the centre of the lintel is a sitting Jina and above the cornice are four sitting men. On the neat side pillar colonettes are five bands with human groups in some of which the figures though little more than an inch high are in strong relief. Inside the bands of human figures is a band of rampant lions, their necks adorned with high frills. Outside the colonettes is a band of holy swans, another of lions, and a third of human figures, mostly on bended knees. The pillars of the inner temple or *shālā* are square and massive, relieved by having all the

1. Walhouse quoted by Sturrock, op. cit., p. 88.

chief fronts, the triangles on the base and neck, carved with flowers A richly carved door leads to the small ante-chamber in front of the shrine. On the under-side of the door cornice is carved a dancing figure between two musicians.[1]

It will be at once noticed that the austere asceticism which symbolised itself in the huge stoic and naked monoliths was also counter-balanced, if not more than counter-balanced by the abundance and variety of these sculptures which in a sense give expression to the later and emotionalised Jainism. There are not a few traces of the early tree and serpent worship of the Dravidians in Jaina sculptures; and the five, seven, or thousand headed *nāgā* is everywhere present in the Jaina temples. It is in fact, observes Fergusson, the *nāgā* that binds together and gives unity to the various religions of South India; and snake images are very frequent about Jaina temples particularly in Mysore and Kanara.[2] In the Chatur-mukha Basti at Gersoppa there is, among the various Digambara figures huddled together, one of Parśvanātha with a beautifully carved *śeshaphaṇa* as also in the exquisite seated marble figure still worshipped at Śravaṇa Belgoḷa. Hindu or Brāhmaṇical influence is also traceable in the sculptures of Indra or Śakra, Garuda, Saraswati, Laxmi, etc.,[3] striking examples of which are found in the figure of Laxmi bathed by two elephants at the entrance of the great enclosure round the Gummata at Belgoḷa, and in the huge seated figure of Indra which has given the name of Indra-sabhā to one of the most interesting caves at Ellora This naturally leads us to a consideration of Jaina excavations in South India, which are perhaps more numerous in the Bombay Division than anywhere else in the peninsula:—

"The varying practical requirements of the cult of each religion, of course, had an effect on the nature of the buildings required for particular purposes," observes Smith,[4] and the striking

1. Belgaum, Bom. Gaz. XXI, pp. 540-41.
2. Cf. Fergusson, op. cit. I, pp. 42-44 and 44 n 1; *ibid.* II, p. 79.
3. *Ibid.*, pp. 4-5; Bühler. Indian Sect of the Jainas, App. by Burgess, Jaina Mythology, p. 61 f.
4. Smith, op. cit., p. 9.

paucity of Jaina caves, as compared with either Buddhist or Brāhmanical ones, is a strong commentary upon those who adversely reflect upon the ascetic nature of the Jaina religion. The importance attached to the lay community, as well as the active part played in wordly life by the Jaina monks, must largely account for the fact that although like the Buddhists the Jainas had a monastic organisation "it never attained power like that of the Buddhist order".[1] As Burgess has pointed out, the Jaina caves in Western India do no exceed 4 per cent. of the whole. The figures given by him are: Buddhist 720; Brāmaṇical 160; and Jaina only 35. The earliest of these belong to the 5th or 6th Century A.D. and the latest perhaps to the 12th century A. D. They are all Digambara, and include one or two very fine specimens. Like the Brahmanical caves they are also built after the plan of the Buddhist *vihāras*, probably "as a means of pressing their candidature for a larger share of popular favour."[2] *Chotā Kailās* or smaller Kailās, at Ellora, is a curious example of the imitation of the works of one sect by the votaries of another "For there can be no doubt," says Burgess, "this was undertaken in imitation of the great Brāmaṇical temple of Kailāsa, but on a much smaller scale." He also adds, "these two temples cannot be far distant in date" (9th cent. A.D.)[3]

By far the most interesting caves of the Jainas in this part of the country are of course, the gr ups called the Indra Sabhā and Jagannātha Sabhā. They constitute a maze of excavations leading from one into another, and Havell observes.—"The name of the two temples, and the orientation of their shrines indicate that unlike most of the other shrines at Ellora, it was not the *tamasic* aspect of the *Trimūrti* that was here invoked, but the blessings of the Rain God, represented by Vishnu the preserver and his *śakti*, Laxmi, the bringer of prosperity. Only as the temples belonged to the Jaina sect they appealed specially to their saints, the Tirthankaras, to whom analogous divine powers were attri-

1. Cf. *Ibid.*, p. 11.
2. Burgess. Cave Temples of India, pp. 170-71.
3. *Ibid.*, pp. 495-96

buted. With this qualification of the symbolism of the structure and ornament has the same significance as in Brāhmanical and Buddhist temples."[1]

The entrance of the Indra Sabhā is completely sculptured out of a living rock, like the Kailās temple which it resembles in many respects, though on a considerably smaller scale. Immediately within the walls is the Jaina equivalent of Śiva's Nandi shrine. The cubical cell is of the Brahma type, and stands for the four-headed Brahma symbol as seen at Elephantā, though the four sides are sculptured with the figure of Mahāvira. The main block of Indra Sabhā consists of a two-storeyed temple, out into the rock for a depth of over 100 ft. "Perhaps the most remarkable of the sculpture of the Indra Sabhā," observes Havell, "is the strikingly beautiful and original façade of the side chapel on the western side of the main temple, the richness of which contrasts so admirably with the larger surfaces of the grand chhaja shading the the main front and the magnificent profile of the elephants kneeling above it."[2]

The figure of Indra himself is sculptured on the left of the main temple, seated on a sleeping elephant. Similarly seated under a tree, carved with infinite care and accuracy with birds, fruits and leaves brought into remarkable relief, is Indrāni in the opposite corner facing her Lord. This goddess, unlike Indra, is seated on a crouching lion whose head is completely damaged. She is not the only goddess in the group. There is also four-armed Devi with two discs in the upper hands, and a *vajra* in her left, resting on her knee. To her left is another goddess with eight arms seated on a pea-cock; evidently Saraswati. Some of the remarkable things to note are the dogs and deer at the foot of Mahāvira's throne in the Jagannātha group. There are numerous other figures common to other Jaina temples, but the magnificent pillar carving with nude standing Digambaras on their inner face, is particularly note-worthy. (See photograph opposite.)

[To be Continued.

1. Havell, op. cit., p. 201. The Brāhmaṇical caves predominate at Ellora; they are 17. whereas Buddhist ones are 12, and Jina only five. All are situated within the radius of a mile.
2. Cf. Plate LX1, Havell, op. cit., p. 202.

A NOTE ON DEŚĪ-GAṆA.

Until before the time when the Jaina Order came to be divided into the two prime sections, *viz*, 'Digambara' and 'Svētāmbara' it was also known by the general names such as "'आर्हत', 'अनेकान्त' etc. In about 136 A. V., which is about 80-81 A.C., it was split up into the two sections named above;[1] whenceforth the Digambara section also came to be called as the "Mūla-Saṅgha" (मूलसंघ) especially in the Deccan and South India. The famous Koṇḍakundāchārya (कोण्डकुन्दाचार्य), who was also called Padmanandi (पद्मनन्दि)[2] is said to have been a leader of the Mūla-Saṅgha during his time.[3]. About 700 years after the Nirvāṇa of Śrī Mahāvīra (528-527 B.C.) *i.e.*, in about 172-173 A.C., this Mūla-Sangha again was divided into four sub-saṅghas, *viz.*, देवसंघ, नन्दिसंघ, सिंहसंघ and सेनसंघ by one Arhadbali Achārya who was the spiritual descendent of the great Koṇḍakundācharya, and perhaps then or gradually later on came into being further sub-divisions called 'gaṇa' (गण), such as 'बलात्कारगण', 'पुन्नाटगण' etc, and yet further ones called "gaccha" (गच्छ), such as सरस्वतीगच्छ, पारिजातगच्छ, etc., and still further ones called 'vali' (वलि)[4], such as पनसोगेबलि etc. As will be seen from the quotations given below, all these different sections, sub-sections, etc., such as संघ, गण, गच्छ and बलि did not (and even now do not) connote any difference whatsoever, in tenets or observance or anything else of the members of adherents of the respective divisions, but, as it is said, they were brought into operations merely as a set-off against the possible misunderstanding

---

1, छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो ॥ (दर्शनसार श्लोक ११)

2. पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः श्रीकोण्डकुन्दः । (श्रवण० शि० नं० ६४)

3. श्रीकोण्डकुन्दनामाभून्मूलसंघगणाग्रणी । (Ibid No. 69).

4. Be it noted once for all that this word 'वलि' is *not* the Sanskrit word 'वलि' meaning 'a fold', but a Sanskritised form of the Kanarese word 'बलि' (bali) which means 'a family', and of course 'a spiritual family' in this case.

or the like that might be brought about in future, when the religion was spread broadcast over the land.

'अर्हद्बलिः संघचतुर्व्विधं स
श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसंघं ।
कालस्वभावादिहजायमान-
द्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे ॥
....
तत्सेननन्दित्रिदिवेशसिंह-
संघेषु यस्तं मनुते कुदृक्सः ।
....
संघेषु तत्र गणगच्छवालत्रयेण
लोकस्य चक्षुषि भिधाक्षुषि नन्दिसंघे
देशीगणे धृतगुणोऽन्वितपुस्तकाख्य
गच्छे........................॥[1]
देवनन्दिसिंहसेनसिंघभेदवर्त्तिनां
देशभेदतः प्रबोधभाजि देवयोगिनां ।
वृत्ततः समस्ततोऽविरुद्धधर्मसेविनां
मध्यतः प्रसिद्ध एष नन्दिसंघ इत्यभूत् ॥
नन्दिसंघे सदेशीयगणे गच्छे च पुस्तके ।[2]

श्रीमूलसंघे ततो जाते नन्दिगणप्रभेदविलसद्देशीगणे विश्रुते ।[3]

Thus the *Deśīgaṇa* (देशीगण) is a section of the larger division called the Nandi Sangha (नन्दिसंघ). This *Deśīgaṇa* is variously called as देशीय, देशिय, देशिक, देशिग, देसिय, देसिग, महादेशि-गण in the several Kannaḍa inscriptions at Śravaṇabelgoḷa.[4] In the Sanskrit work called '**बाहुबलिचरित्र**', which however, has not yet been published, the following explanation is offered to account for the name देशी which this section came to be acquired :—

पूर्वं जैनमतागमाब्धिविधुवच्छ्रीनन्दिसंघेऽभवन्
सुज्ञानर्द्धितपोधनाः कुवलयानन्दा मयूखा इव ।
सत्संघे भुवि देशदेशनिकरे श्रीसुप्रसिद्धे सति
श्रीदेशीयगणे द्वितीयविलसन्नाम्ना मिथः कथ्यते ॥[5]

1. Śravaṇabelgoḷa Inscriptions. No. 254.
2. *Ibid*, No. 258. 3. *Ibid*, No. 64. 4. *Vide* Nos. 64 ; 70 ; 73 ; 117 ; 125 ; 126 ; 127 ; 128 ; 268 ; 351 etc.
5. Quoted in the Introduction (p. xxx) to " Dravya Saṅgraha " S,B.J.

Therefore the said गण seems to have been so called as its आचार्य became famous in every country (देशदेशान्तरे) they visited, perhaps on a religious mission to preach and spread Jainism. But this explanation seems to be lacking in historical sense in that it clearly seems to have been easily based on the actual and primary meaning of the word 'देश' which means 'a country'; or in other words this explanation is merely a ready-made enlargement of the literal sense of 'देश'. I cannot bring myself to accept this explanation, but shall offer mine own in instead, which, however, I leave to the readers to judge.

That portion of the Deccan that lay between the Western Ghaut Bālāghāṭ (बालाघाट)[1] the *Karṇāṭaka* country of the ancient and medieval times[2] and the river *Gōdāvarī* was called simply the *Dēśa*;[3] and the Brāhmaṇas, who were the inhabitants of this country of 'देश' are still known as 'देशस्थ' Brāhmaṇas. It is because a certain portion of the members of the नन्दिसंघ colonised or settled or otherwise dwelt in the said country of देश, I presume, their section must have come to be called देशीगण. For as we have seen above, there are other sections of "Mūla-Saṅgha," which are called the 'पुन्नाट–गण' and 'काणूर–गण'. Now in the former name, the word 'पुन्नाट'[4] is the name of a certain portion of South India, which now lies in the S W. of the Mysore State, and its capital was Kittipur कित्तिपुर or Kittur (कित्तूर) which is now included in the हेग्गडदेवनकोटे tālūka of the said state. The Greek geographer Ptolmey (150 A. C.) has mentioned the 'Pounnata' (or Pounata) as containing mines of the precious stone, known as 'beryl' (वैडूर्य). The पुन्नाट संघ of the Digambara Jainas was also known as कित्तूर संघ[5] Though it is not possible to say where the place called (काणूर)

1. The uplands of the present North-Kanara district (in Bombay Presy.) *Vide* "Bombay Gazeteer, Vol. XIII, pt. I p. 2.

2. *Vide* "Imperial Gazeteer" Bombay Prescy) vol. I, pp. 194—196.

3. महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष भाग १४ ('देश')

4. In the earlier times 'पुन्नाट' included also the present district of Coimbatore in the Madras Presidency.

5. Sravanabelgola Inscrips. No. 81.

was situated, it is quite clear at कारूरु[1] is and cannot but be the name of some certain locality, in that it contains the word 'ऊरु which is a Kanarese word meaning a town', a village etc., and having no sense else Therefore I believe that the गण called देशीगण must have acquired that name, undoubte ly on account of having been formed as such; or having had its habitation in, or having had some or other conspicuous ,connection with that portion of the Deccan known as देश.

M. GOVIND PAI.

1. 'काणूरु' is the name of the place and thus the form of the nominative singular, whereas 'काणूरु' is the genitive singular of the same. In the case of 'पुन्नाट' also, the nom. sg., from is 'पुन्नाट' (where the Kanarese suffix नाडु = a country) and the forms 'पुन्नाडु' and 'पुन्नाट' are each the Gen. sg. form; but as the said country has been termed in histories as पुन्नाट (though quite wrongly) following the terminology of the Greek Ptolemy, I have kept it as it is.

Opinions.

1. Mr. A. Banerji Sastri, Professor & Head of the Department of Sanskrit, Hindi, Bengali & Maithil, Patna College :—

"Appears to me to be a useful and promising undertaking. Jaina texts contain valuable material for the history of India and their publication in the pages of this Journal will be of great help to students of Indology. I hope the editors will keep this in view in their choice of materials."

2. Prof. E. J. Rapson, M.A., 8, Mortimer Road, Cambridge :—

"Please accept my best thanks for your kindness in sending me a copy of 'the Jaina Antiquary.' I wish this Journal all success."

3. Mr. Chintaharan Chakravarti, Kavyatirtha, M.A., Lecturer, Bethune College :—

"It is a fine publication and I wish it a glorious future. I have every hope that you would not spare any pains for keeping up the scholarly standard of the paper so that it may win the sympathy and respect of the world of scholars. The articles in the first number are all well-written and bespeak a bright future. I highly appreciate your idea of publishing old tents through the pages of your journal. The Descriptive Catalogue of Sanskrit MSS and the Pratimālekha Saṁgraha will be highly useful publications when completed."

4. Mr. S. C. Ghoshal, M.A., B.L., Saraswati, Kavyatirtha, Vidya-Bhushan, Bharati, Sadar Sub-Divisional Officer, writes from Cooch Behar. :—

"I welcome the appearance of the Bhaskara as there was no Journal of this nature specially devoted to antiquarian researches regarding Jainism. I find the articles interesting and illuminating, and wish every success to the undertaking."

5. Mr. V. S. Agrawala, Curzon Museum of Archæology, Muttra :—

"I am indeed grateful for your kindness in sending me the first issue of the Jain Antiquary, which, from its inception, forebodes such encouraging perfcrmance. It supplies a real want in the domain of Jainology and must very soon occupy its due place as the standard Quarterly Research Journal concentrating on all branches of Jain literature, art

and archæology. It was painful to see Jain sources languishing for want of a suitable medium of utterance, and you therefore deserve unanimous congratulation for having so admirably realized the needs of the time."

6. Prof. Otto Stein PH.D. writes from Prague (Zekoslovekia):—

"The Jain Antiquary is highly interesting and I will not fail to contribute."

7. Prof. Bibhuti Bhushan Dutta writes:—

"Kindly accept my best thanks for the first issue of the Jain Antiquary. It is very promising."

RULES.

1. The "Jaina Antiquary" (जैन-सिद्धान्त भास्कर) is an Anglo-Hindi quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e.*, in June, September, December, and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including postage) and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jain Sidhanta Bhavan, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, reviews, etc., type-written, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

(*N.B.*—Journals in exchange should also be sent to this address.)

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting, or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders, if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology:—

PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A.
B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI.

आरा जैन-सिद्धान्त-भवन की प्रकाशित पुस्तकें

———:*:———

(१) मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित ... २।)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक शास्त्र भाषा-टीका-सहित ... १)

(३) जैन-सिद्धान्त-भास्कर १म भाग की १म किरण... ... १)

„ २य तथा ३य सम्मिलित किरणें ... १।)

(४) भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची ।)
(यह अर्द्ध मूल्य है)

(५) भवन की संगृहीत अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची ... ।।।)

प्राप्ति-स्थान—

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)।

प्रकाशक तथा मुद्रक—बाबू देवेन्द्रकिशोर जैन,
श्रीसरस्वती प्रिंटिङ्ग वर्क्स, आरा।

श्री जैन सिद्धान्त भास्कर



The Jain Antiquary

An Anglo-Hindi Quarterly Journal.

D. N. Varma

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।



१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर अङ्गरेजी हिन्दी मिश्रित त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ इसका वार्षिक चन्दा देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबंधी तथा अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, जैन सिद्धान्त-भास्कर, आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरंत उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि "भास्कर" नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्तिविज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखनेवाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, श्रीजैन सिद्धान्त-भास्कर आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे हुए नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ "भास्कर" आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल मात्र जैन-तत्त्व के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.
प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम.ए.
बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.
पण्डित के. भुजबली, शास्त्री



(श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा का मुख-पत्र)

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

अर्थात्

प्राचीन जैन-इतिहास, साहित्य एवं शोध-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग २] [किरण ४



जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १)

विक्रम-सम्वत् १९९२

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

ग्रन्थमाला-विभाग—

अंग्रेजी-विभाग—

|| श्रीजिनाय नमः ||



THE JAINA ANTIQUARY.
जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग २ | मार्च, १९३६। फाल्गुन वीर नि० २४६२ | किरण ४

भास्कर की वर्ष-समाप्ति

(ले०—श्रीयुत पं० हरनाथ द्विवेदी)

वरवीर-धर्म-धुरधारी "निर्मल" निधिपति अपनाकर,
सहृदय सुविज्ञ सम्पादक-मण्डल-अविरल-बल पाकर ।१।
इतिहास-पुरातत्त्वों का शुचि-शुभ्र सार विकसाकर,
पाठक पवित्र-प्रेमी को प्रोज्ज्वल कर से हुलसाकर ।२।
जिनधर्म-चक्रधारी-सम "चक्रेश" चारु महिमाकर-
मंजुल-सुछत्र-छाया में शोभन यह वर्ष बिताकर ।३।
लेखक-ललाम के अनुपम लेखन-प्रदीप दीपित कर,
श्री "शान्ति"—सुधा-मानससर के हंस-वंश-अवतर कर ।४।
छबि-धाम "लाल छोटे" की वर वृहत् लालिमा लाकर
सुख से निजतेज प्रसारा, "भास्कर" ने तम विनशाकर ।५।

अमरकीर्तिगणि-कृत षट्कर्मोपदेश

(ले०—श्रीयुत प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम.ए., एल.एल.बी.)

उक्त ग्रन्थकर्ता व ग्रन्थ का ऐतिहासिक परिचय पूर्व लेख में कराया जा चुका है। यहाँ इसके विषय आदि का परिचय कराया जाता है। ग्रन्थ का विषय नाम ही से स्पष्ट है। इसमें गृहस्थों के लिये नित्य पालने योग्य छह कर्मों का उपदेश दिया गया है। ये छह कर्म हैं देवपूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। इन्हीं का विवरण ग्रन्थ की चौदह सन्धियों में किया गया है। तेरह कडवकों की प्रथम सन्धि का कवि ने षट्-कर्म-निर्णय नाम दिया है। इसमें पूर्वोक्त कवि-परिचय के पश्चात् देवपूजा के हेतु सच्चे देव की परीक्षा की गई है। कवि का कहना है कि 'देव की जब परीक्षा करके पूजा की जायगी तभी उससे पुण्य होगा; बिना परीक्षा की पूजा से दुर्गति ही बढ़ेगी'[1]। 'दृढ़ मिथ्यात्व में फँसे होने के कारण देव की परीक्षा न जान कर मूर्ख सभी को देव मानने लगता है तथा अपने चित्त को एक जगह कहीं भी नहीं लगाता। सब वस्तुओं में विष्णु का वास बताता है, फिर पीछे उन्हीं को लात लगाता है। आठ मूर्त पदार्थों में ईश्वर का भाव भाता है और तत्काल ही उनका अविनय करता है। विष्णु को नमस्कार करता है तथा सूकर और मच्छ को मारता है—उन्हें विष्णु की मूर्ति समझ कर पाप का विचार नहीं करता'[2]। महाराक्षस और भूत जो अशुचि-रूप हैं तथा क्षेत्रपाल, बेताल आदि इनकी सेवा से क्या होना है? ये तो हिंसा के घर हैं और दुष्कर्मों के बांधनेवाले हैं। चंडी आदि सब योगिनी मद्यपान और पशुभक्षण करनेवाली हैं; उन्हीं निर्दयी योगिनियों को देवता मानकर निर्लज्ज संशय-विद्ध मन से, उनकी वंदना करता है। गौ आदि तिर्यंच जीवों के अङ्गों को मुख से नमस्कार करता है जिनसे पाप का प्रसंग होने वाला है। बड़, पीपल, जामुन, नीम ऊमर, देहली, दूब, जल, जलचर तथा कंजिनी आदि

---

१ देउ परिक्खिउ पुण्णहं कारणु। अपरिक्खिउ दुग्गइ-वित्थारणु। १, ६, १

२ दिढ-मिच्छत्त-सहावारूढउ। तहो परिक्ख अमुणंतउ मूढउ।
सयल वि देव सहावें मंतइ। एक्कहिं कहिं मि ण चित्तु णिवत्तइ।
सव्वहिं वत्थुहिं विण्हु पसंसइ। पच्छा ताइं मि पायहिं फंसइ।
अट्ठहिं मुत्तिहिं ईसरु भावइ। तक्खणि ताइं मि अविणउ दावई।
विण्हु णवइ सूवरु तिमि मारइ। तहो मुत्तिउ पाविउ ण विचारइ।

गृहस्थी के उपकरणों और जीवों के संहार करनेवाले आयुधों आदि सभी को देवता मान कर उनको विनय से नमस्कार करने लगता है। इन नाममात्र के देवताओं का प्रेरा हुआ, मूर्ख गुरुओं द्वारा धोखे में डाला जाकर, भ्रमता फिरता है। जो देव देखा उसी से लग गया; उचित अनुचित की कुछ खोज ही नहीं करता। जब हाथ में अक्षमाला लेता है तब अपने मन में शंका उत्पन्न करता है कि यह देव नहीं है। जो प्रिया के प्रेम में आसक्त है, विषयों में प्रमत्त है, देव होकर भी नाचता फिरता है, जो भयानक है (दारुवणु ?), दुराग्रही है, वह शुभ प्रभु कैसे हो सकता है ? अवश्य वह लोगों को ठगता है[४]। जो गोपियों के नाम से जाना जाता है उसे लोग पुरुषोत्तम कैसे कहने लगे ? जिसका मन एक ग्वालिन के देखने से ही विचलित हो जाय, देवत्व उसके पास भी कैसे फटक सकता है ? गौतम ऋषि की भार्या में जिसका मन विस्मित हो गया वही सहस्रनयन सुरपति बन गया ? चन्द्र बृहस्पति की भार्या पर आसक्त हो गया, लोगों ने उसे कलंकित मात्र कहकर रहने दिया। यदि देव भी प्रिया व सुत के मोह में पड़कर मनुष्यों के समान आचरण करते हैं और क्रोधातुर व कामातुर हुए, दुष्कर्मों में लिप्त, संसार में घूमते फिरते हैं, तो फिर मनुष्यों और देवों में तो कोई अन्तर ही दिखाई नहीं देता ? पुण्य का कारण फिर क्या ठहरा ? जो स्वयं पापकर्म करते हैं वे दूसरों को कैसे पुण्यकर्म में लगा सकते हैं ? जिनके चित्त में सदा संशय विलास कर रहा है, उनमें तो कोई वीतराग-गुण दिखाई नहीं देता'[५] इत्यादि।

---

३ घत्ता—मह-रक्खस-भूवइं, असुइ-सरूवइं, खेत्तवाल-वेयालइं।
कह एयइं देवइं, हुंति असेवइं, दुक्कम्मइं हिंसालइं ॥९॥
चंडिय-पमुहउ जोइणि-सारउ। मज्ज-पाण-पसु-कवलण-यारउ।
देवय मण्णिवि वंदइ णिग्घिणु। णिघिणाइ संसय-सल्लिय-मणु।
गो-पमुहाइं तिरिक्खहं अंगइं। सुहिण णमंसइ पाव-पसंगइं।
वडु पिप्पलु जंबू णिंबुंवरु। देहलि दुब्ब-इक्खु जलु जलयरु।
कंजिणि-पमुहइं घर-उवयरणइं। आउहाइं जीवहं संघरणइं।
इय सव्वइं देवइं मण्णंतउ। विणयें णवकारइं विरयंतउ।
णामाहास-देव-मइ-पेरिउ। हिंडइ जड-गुरुहिं अवहेरिउ।
जो जो देउ णियइ तहो लग्गइ। जुत्ताजुत्तु किंपि ण हु मग्गइ।
देव ण णियमणि संसउ भावहिं। अक्खमाल जावहिं करुठा वहिं।
४ घत्ता—पिय-पेम्मासत्तउ, विसय-पमत्तउ, देव हविवि जो णच्चइ।
दारुवणु कयग्गहु, कह सो सुहपहु, लोयहं अवसु पवंचइ ॥१०॥

इस प्रकार मिथ्या देवों का निराकरण करके संधि के शेष भाग में सच्चे देव का निर्णय किया गया है। 'जिसके क्रोध, लोभ, मद, आलस्य, जरा, भय, विस्मय आदि दोष नहीं, जिसके न गले में मुंडमाला है, न कर में कपाल है; न कंठ में वासुकि है, न सिर पर गंगा है, न त्रिशूल है, न खट्वांग है, न धनुष है, न अर्धनारी-रूप शरीर है; जिसके न लीला-विलास है, न स्वयं गाता है, न नाचता है और न रोष-तोष उपजाता है, न सन्तुष्ट होकर आधे क्षण में राज्य देता और न रुष्ट होकर पकड़ता और मारता; जो केवल जीवों की दया तथा अपने और पराये हित में मग्न है, वही देव नमस्कार करने योग्य है। दूसरे देवों के साथ देख परख कर वही वीतराग कहा जा सकता है[१]"।

दूसरी सन्धि से नवमी सन्धि तक कवि ने क्रमशः जल, सुगन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल इन अष्ट द्रव्यों द्वारा देव-पूजा करने का माहात्म्य बतलाया है, और प्रत्येक के फल के उदाहरणस्वरूप एक एक कथा दी है। तदनुसार इन सन्धियों का

जो गोविंदिं णामेहिं वि तक्किउ। सो पुरिसुत्तमु कह जणि कोक्किउ।
गोविहि दंसणि जो वियलिय-मणु। परिभमेइ तहो कहिं देवत्तणु।
जो गोत्तम-कलत्त-विंभियमइ। सहसणयणु संजायउ सुरवइ।
चंदु विहप्पइ-भज्जासत्तउ। भणिवि कलंकिउ जणि वि गुत्तउ।
देव वि पुणु जइ मणुआयारिहिं। वत्तहिं पिय-सुय-मोहुग्गारिहिं।
देव वि जइ कोहाउर कामिव। भवि भमंति दुक्कम्मोहामिय।
ता मणुवहं देवहं वि ण अंतरु। दीसइ पुण्णहेउ काइं मि थिरु।
पावयम्मु जे सइं उप्पायहिं। पुण्णकम्मि किह ते परु लावहिं।
ताहं ण वीयराय-गुणु दीसइ। संसउ जाहं चित्ति णिरु विलसइ।

१ जस्स कोहो ण लोहो ण मोहो भओ। णालसो णो जरा णो पिहा विंभवो।

× × × × × × × ×

मुंडमाला गले णो कवालं करे। वासुई णत्थि कण्ठे ण गंगा सिरे।
णो तिसूलं ण खट्टंगयं णो धणू। अद्धणारी णरा दीसए णो तणू।
जो ण लीला-विलासो सयं गायए। णच्चए रोसतोसं समुप्पायए।
देइ रज्जं खणद्धे ण संतुट्ठओ। गिण्हए मारए जो पुणो रुट्ठओ।

× × × × × × × ×

घत्ता—जीव-दयासत्तउ, स-पर-हियत्तउ, सो पुणु देउ णमिज्जइ।
इयरेहिं परिक्खिउ, देवेहिं लक्खिउ वीयराउ पभणिज्जइ॥१२॥

कवि ने क्रमशः (२) जलपूजा कथा वर्णन, (३) गंधपूजा-फल-कथा-वर्णन, (४) अक्षत पूजा-विधान-कथा प्रकाशन, (५) पुष्पपूजा-फल-निर्णय वर्णन, (६) नैवेद्य पूजा-फल-कथा-वर्णन, (७) दीपक-प्रबोधन-पुण्यकथा वर्णन, (८) धूपपूजा-कथा-वर्णन, और (९) फल-पूजा-कथा-वर्णन, नाम दिये हैं। कथायें साधारण प्रचलित व्रत-कथाओं के समान ही हैं, पर कहीं कहीं इनमें बड़ी रोचक और मर्म की बातें कह दी गई हैं। उदाहरणार्थ अक्षत-पूजा-विधान-कथा में राजा और एक शुकी की बातचीत हुई है। प्रसङ्ग ऐसा है कि राजा के बाग में एक सुन्दर आम का झाड़ था। वहीं एक शुक और शुकी का जोड़ा रहता था। शुकी को गर्भ-समय उस आम के मौर खाने का दोहला उत्पन्न हुआ। यह आम बड़ी सावधानी से रखाया जा रहा था—कोई पक्षी भी उसके पास फटकने नहीं पाता था। तो भी अपनी प्रिया के प्रेमवश तोता अपने जीवन को संकट में डाल रोज उस आम की मौर ले आता था। आखिर एक दिन रखवाले ने जाल डालकर इस तोते को फँसा लिया और राजा के सम्मुख उपस्थित किया। राजा मौर के नष्ट होने से बड़े रुष्ट थे, इससे तोते को उन्होंने मार डालने का विचार किया, पर इतने ही में वहाँ वह शुकी आ गिरी और बोली 'राजन् इसने मेरे लिये यह साहस किया था, इसलिये इसकी जान छोड़िये और मुझे दण्ड दीजिये'। राजा ने तोते से पूछा 'रे तोता! तूने समझदार होकर भी ऐसी गलती क्यों की? क्यों तूं इस मादरजात के बहकावे में आकर ऐसा अपराध कर बैठा?' इसके उत्तर में तोता तो न बोलने पाया, शुकी बोल उठी—

'हे राजन्, लोग दूसरों पर तो बड़े जल्दी हँसने लगते हैं पर स्वयं अपनी कमजोरी पर ध्यान नहीं देते अरे, स्त्री के लिये ही तो मनुष्य सब सुखों के देने वाले अपने माता-पिता तक को दूर छोड़ देता है। स्त्री के लिये वह धर्म छोड़कर दिनरात कुकर्म करता है। स्त्री के लिये ही वह समरांगण में भिड़ता, दूसरों को मारता और स्वयं मरता है। स्त्री के लिये तो वह देव, गुरु व सज्जनों तक की निर्लज्ज होकर चोरी कर डालता है। स्त्री के लिये वह कुल-परम्परा को छोड़कर निन्दनीय व्यसनों में पड़ जाता है, और बड़प्पन, सुहृत्ता, प्रसिद्धि, शील आदि गुणों तक को तिलाञ्जलि दे देता है। स्त्री के लिये ही वह अपने ऊपर दूसरों का ऋण चढ़ा लेता है और अपने जीवन को तृण के समान गिनने लगता है। और, हे देव! तुम भी तो अपनी भार्या के लिये जान निछावर करने के लिये तैयार हो गये थे, फिर एक बेचारे पक्षी को आप क्या दोष देते हैं। अपनी प्रिया के मोह में तो बड़े बड़े विद्वान् भी मूढ़ हो जाते हैं'।[१]

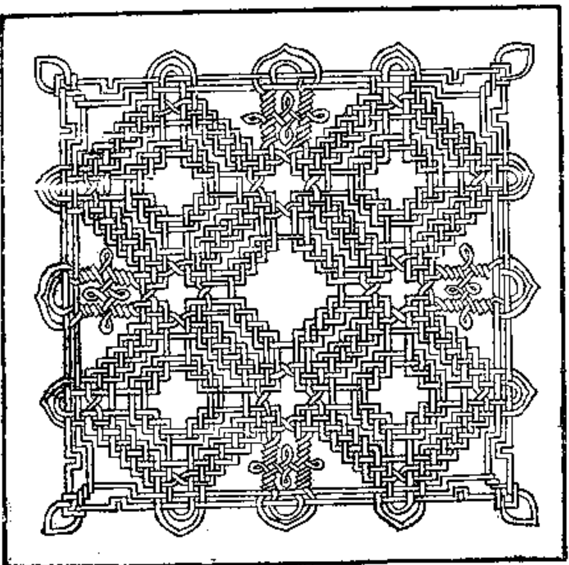
१ ता जंपेइ कीरि णिवइ इत्थ संधु लोउ।
पर उवहसइ मुणइ णाहु किंपि णियय-गोहु॥

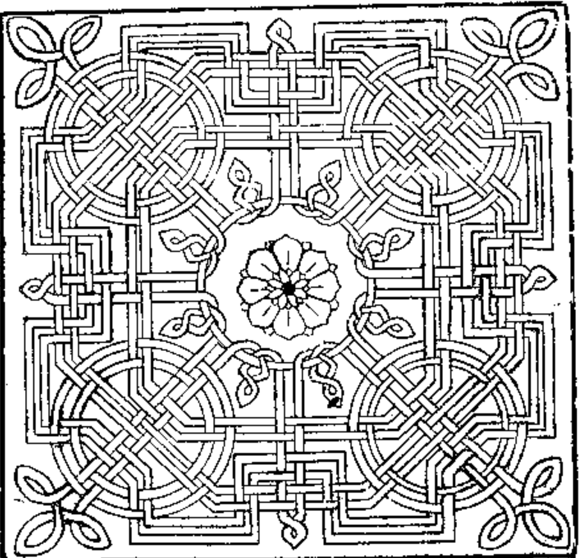
तीसरी सन्धि में तपस्या में प्रवृत्त एक सुन्दरी और उसके रूप पर आसक्त एक विद्याधर के भाव और क्रियाओं की विषमता का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

'जैसा जैसा उस सुन्दरी का ध्यान लगता जाता था, वैसा वैसा यह विद्याधर उसको अपना रूप बतलाने का प्रयत्न करता था। जैसे जैसे उसके ध्यान के अन्त होने का लक्षण नहीं दिखता था वैसे वैसे यह उसके गात्र की ओर घूर घूर कर देखता था। वह अपने मन में परमाक्षर 'ओं' का चिन्तन कर रही थी, तब यह अपने मन में रतिसुख का विचार कर रहा था। जैसे जैसे वह अपने शील को सम्हालने में लगती थी वैसे वैसे ये सविकार मन से देखते थे। वह गुरु के वचनों को छोड़ने के लिये तैयार नहीं थी, ये प्रेम के मारे बेहाल थे। वह अपनी प्रतिज्ञा भंग नहीं करती थी, ये नाना प्रकार के हावभाव दिखा रहे थे। वह द्वंद्व-भावना को छोड़ रही थी, ये गिड़गिड़ा कर बोल रहे थे। वह कर्मों के क्षय की भावना भा रही थी, तब ये उसके चारों ओर चक्कर काट रहे थे। वह भावनाओं में लीन थी तो ये कामबाण से तड़प रहे थे। और जैसे जैसे वह तत्त्वों के विवेचन में संलग्न होती थी वैसे वैसे ये हज़रत पृथ्वी पर पड़े अपने आपको भूल रहे थे'[७]।

महिलहिं कज्जि सव्व सुक्खयरइं। णरु दूरम्मि चयइ णिय पियरइं।
महिलहिं कज्जि करेइ कुकम्मइं। अहणिसु दूरोसारिय धम्मइं।
महिलहिं कज्जि भिडइ समरंगणे। परु मारइ मरेइ सइं तक्खणे।
महिलहिं देउ गुरु वि (पुणु) सज्जणु। मूसइ चोरु जेम अइणिग्घणु।
महिलहिं कज्जि कुलक्कमु वज्जइ। णिंदियाइ वसणाइं पउंजई।
महिलहिं कज्जि गुरुत्तु खुहित्तणु। मुवइ पसिद्धि सीलु विवसत्तणु।
महिलहिं कज्जि चडावइ पररिणु। णिय-जीविउ अवगण्णइ जिह तिणु।
तुहुं मि देव णिय-भज्जा-कारणि। जं जीविउ चएहि तुट्ठउ मणि।
तं पक्खिहिं मि दोसु किम दिज्जइ। पिय मोहें विउसु वि मोहिज्जइ ॥४,४॥

७ जइ जइ झाणि किं पि आहासइ। तह तह सो णं मुत्ति पयासइ।
जइ जइ सा ण झाणु परिसेसइ। तह तह सो तहो गत्तु गवेसइ।
जइ जइ सा परमक्खरु चिंतइ। तह तह सो रइसुहु मणि चिंतइ।
जइ जइ सा ससीलु संभालइ। तह तह सो सवियारु णिहालइ।
जइ जइ सा गुरु-वयणु ण छंडइ। तह तह सो णेहें अवरुंडइ।
जइ जइ सा स-पइज्ज ण भंजइ। तह तह सो बहु भाव पउंजइ।





मूडबिद्री के चन्द्रनाथ-चैत्यालय के खंभों में खुदी हुई हस्तकला के नमूने

(श्रीयुत एस० चन्द्रराज के सौजन्य से)

ग्रन्थ की दशवीं सन्धि में जिनपूजा पुरंदरविधि-कथा कही गयी है, उपवासविधि बतलाई गई है और जिनपूजन व व्रत-उद्यापनविधि का विवरण है। इस सन्धि के साथ षट्कर्मों में से प्रथम देवपूजा का उपदेश समाप्त होता है।

ग्यारहवीं सन्धि में दूसरे और तीसरे गृहस्थकर्म अर्थात् गुरु-उपासना और स्वाध्याय का उपदेश दिया गया है, 'गुरु के उपदेश से ही ज्ञान मिलता है, इसलिये गुरु की सेवा करनी चाहिये; बिना सूर्य-प्रकाश के कहीं लोक के पदार्थ दिखाई देते हैं' ?[८] गुरु कैसा होना चाहिये ? 'जो मन की शंकाओं का निवारण कर सके, शीलवान् हो, शुद्ध निष्ठावान् हो, जिसका चारित्र ही भूषण हो, दूषणों का जिसके त्याग हो, वही गुरु उत्कृष्ट है,।[९] 'जो इन्द्रियों के विषय-विकारों में भूला हो, वह गुरु तो सच्छिद्र नाव के तुल्य है। मोह, प्रमाद और अहंकार में जो मता हुआ है वह विकलत्व अर्थात् ब्रह्मचारीगुरु कैसे बनाया जा सकता है ? गृह, कलत्र, मित्र और संपदा में जो बँधा है वह मोहांध कैसे गुरु होगा ? जो मद्य पिये और मांस भोजन करे वह निर्लज्ज कैसे गुरु माना जा सकता है ? जो जीवों की रक्षा न करे, न मन में शुद्ध आचार भावे वह पापी गुरु, अन्धों को अन्धे के समान अपने शिष्यों को स्वर्ग के दर्शन कैसे करा सकता है ?'[१०]

अतएव उत्कृष्ट गुरु का सदैव विनय करना चाहिये। विनय बड़ा ही अच्छा गुण

जह जह सा दुविहासा मेल्लइ । तह तह सो स विलक्खु पबोल्लइ ।
जह जह सा कम्मक्खउ भावइ । तह तह सो चउपासिउ धावइ ।
जह जह सा भावणउ वियप्पइ । तह तह सो सरजालें कंपइ ।
जह जह सा तच्चक्खु विवेयइ । तह तह सो महि पडिउ ण चेयई ।

८ जाणिज्जइ सा गुरु-कहिय, तेण गहिज्जइ सुगुरु-वासणा ।
रवि-उज्जोवइं विणु हवइ, किह लोयम्मि पयत्थ-पयासणा ॥११,१॥

९ मण-संदेह-णासणो, सील-भासणो, विहिअ-सुद्ध-णिट्ठो ।
जो चारित्त-भूसणो, चत्त-दूसणो, सो गुरु वरिट्ठो ॥११,१॥

१० इंदिय-विसय-वियारहिं भुल्लउ । सो गुरु वणिय-तरंडहु तुल्लउ ।
मोह-पमाय-मएहिं पमत्तउ । किह सो गुरु किज्जइ वियलत्तउ ।
घर-कलत्त-सुहि-संपय-बद्धउ । किह सो गुरु हवेइ मोहंधउ ।
मज्जु पियइ करइ मंसासणु । किह सो गुरु भणिज्जइ णिग्घिणु ।

घत्ता—जो जीउ ण रक्खइ पावमई, सुद्धायारु ण णियमणि भावइ ।
सो गुरु अंधहं अंधु जिह, सीसहं केम सग्गु संदावइ ॥११,१॥

है—'विनय से बहुत पुण्य होता है और छोटे बड़े सभी प्रसन्न होते हैं। विनय से देवता आपत्ति का नाश कर देते हैं और दुष्ट भी शान्त हो जाते हैं। विनय से सब विद्यायें सिद्ध होती हैं, ग्रहों की पीड़ा रुक जाती है, लोक में प्रसिद्धि होती है, लक्ष्मी कभी साथ नहीं छोड़ती। विनयी मनुष्य का सब लोग आदर करते हैं और दुर्जन भी भाई बन जाता है। विनय से दान, शील, तप सहज ही सधते हैं और कोई शत्रु नहीं बनता। विनय से सब लोग वश में हो जाते हैं। विनय ही एक ऐसा कर्म है जिसका कभी कोई विरोध नहीं करता। विनय सब कल्याणों का करनेवाला, और नरकों की दुर्गति को टालनेवाला है। परोक्ष विनय का ही फल सुनो। द्रोणाचार्य का विनय एक भील ने किया था जिससे प्रतिदिन धनुर्विद्या का अभ्यास करते करते उसे शब्द-वेधी बाणकला सिद्ध हो गई थी'।[११]

गुरु-उपासना का विषय इस संधि के सात कडवकों में समाप्त होकर आठवें कडवक से स्वाध्याय का उपदेश प्रारम्भ होता है। स्वाध्याय पाँच प्रकार का है, वाचना, पृच्छना अनुप्रेक्षा, आज्ञा और उपदेश। अब कौन सा शास्त्र स्वाध्याय के लिये उपयुक्त गिन जाय? कवि उत्तर देते हैं "जिसमें पूर्वापर विरोध न हो, दया के बहाने भी पशु के मारने और उसका मांस खाने की बात न हो, जहाँ लोकविरुद्ध आचरण और मलिन क्रियाओं का उपदेश न हो, तथा जहाँ कुदान और कु-परिग्रहण का आदेश न हो और पापों के साधनों की पुष्टि न की गई हो वही आगम सचमुच में सर्वोत्कृष्ट है[१२]। ऐसे आगम का

---

११ विणउ विसेस-पुण्ण-उप्पायणु। विणएं रंजिज्जइ लहु-गुरयणु।
विणएं देव वि आवइ णासहिं। विणएं दुट्ठ वि सेस पणासहिं।
विणएं विज्जउ सयल वि सिज्झहिं। विणएं गह-पीडाउ णिरुज्झहिं।
विणएं लोय पसिद्धि पवड्ढइ। विणेएं लच्छिय कहव ण मुच्चइ।
विणएं णरवरु होइ कयायरु। विणएं दुज्जणु जायइ भायरु।
विणएं दाणु सीलु तउ सुहयरु। विणएं कोवि ण जायइ तहु परु।
विणएं वसि हवेइ सयलु वि जणु। विणउ इक्कु अविरुद्धउ कम्मणु।
विणउ सयल-कल्लाणहं कारणु। विणउ णरहं दुग्गइ-णिण्णिवारणु।

घत्ता—णिसुणि परोक्खय-विणय-फलु, दोणायरिउ भिल्ल पणवंतहु।
सद्दे वद्दु संजाउ तहो, दिणि दिणि धणुहब्भासु कुणंतहो॥११,३॥

१२ पुव्वावर-विरोह-परिचुक्कउ। सो आयमु परमत्थ गुरुक्कउ।
जेत्थु दयाभासे वि ण हम्मइ। पसु तहु कप्पिउ मंसु ण जिम्मइ।

× × × × × × × ×

नित्य स्वाध्याय करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इससे बुद्धि बढ़ती है। बुद्धि-हीन मनुष्य की बड़ी दुर्दशा होती है; उसकी सब क्रियाओं का फल उलटा ही होता है "वह धूर्त पिशाचों की मीठी मीठी बातों में फँस जाता है और फिर भ्रमता फिरता है। वह तीर्थों में भटकता है, पानी में डूबता है तथा कामक्लेशों द्वारा अपने शरीर को दण्ड देता है। इस प्रकार वह बहुत से त्रस और स्थावर जीवों का घात करता है पर पुण्यहेतु कुछ नहीं साधता। जिस प्रकार कोशे का कीड़ा अपनी ही क्रिया से अपने आपको बंधन में डाल लेता है वैसे ही यह जीव दुष्कर्मों को अपनी ओर आकर्षित करता है"[१३]। इस सन्धि में या आगे की सन्धियों में कोई कथानक नहीं हैं। इस सन्धि को कवि ने 'गुरूपासना-स्वाध्याय-निर्णय-प्रकाशन' नाम दिया है।

बारहवीं सन्धि में चौथे कर्म 'संयम' का उपदेश है। इसके लिये इन्द्रिय-संयम की सबसे प्रथम आवश्यकता है। "एक ही स्पर्श इन्द्रिय के सुख की लालसा के कारण बन के हाथी को भी दृढ़ बन्धन में पड़कर ताड़नादि दुःख भोगना पड़ता है। रसना इन्द्रिय के लोभ से दुस्तर समुद्र में रहनेवाला मत्स्य भी गल-द्वारा फँसा लिया जाता है। घ्राण इन्द्रिय में आरक्त भौंरा कमल के भीतर मरता है, नयन इन्द्रिय के वशीभूत होकर मूढ़ पतंग एक क्षण में दीपक के तेज से भस्म हो जाता है, और श्रवण इन्द्रिय के वश में पड़कर गान में आसक्त हुआ हरिण व्याध-द्वारा तुरन्त मार डाला जाता है। एक एक इन्द्रिय के दोष से ये सब जीव इस प्रकार विनष्ट हो जाते हैं; फिर जो मनुष्य पाँचों इन्द्रियों के सुखों की अभिलाषा करता है; वह तो भव भव में दुःख सहेगा ही। सर्प, सिंह, हाथी, क्रूरग्रह, रूठे हुए व्यंतर, कुपित नरेश्वर तथा अन्य दुर्जन भी जीव को वह दुःख नहीं दे सकते जो इन्द्रियों के विषय देते हैं। ये तो जीव का एक ही जन्म में विध्वंस कर सकते हैं, किन्तु वे जन्म जन्मान्तर में भी पिंड नहीं छोड़ते"[१४]।

जेत्थु ण लोय-विरुद्धायरणइं । पयडिज्जहिं बहु-मल-वित्थरणइं ।
जेत्थु ण दुट्ठाणइं पडिगाहणु । ण वि पोसिज्जइ दुरिय-पसाहणु ॥११, ८॥

१३ बुद्धि-हीणु जणु धुत्त-पिसायहिं । गहिलउ हिंडइ किय-सुहिवायहिं ।
तित्थइं अवगाहइ जले बुड्डइ । काय-किलेसहिं णियतणु दंडइ ।
तस थावर बहु जीव विराहइ । पुण्ण-हेउ ण वि काइं उ साहइ ।
कोसियारु जिह अप्पउ वेढइ । तिम स जीउ दुकम्मइं कड्ढइ ॥११,९॥

१४ वण-करि फासिंदिय-सुह-गिद्धउ । सहइ बंधु ताडणु दिढबद्धउ ।
रसणिंदिय-लुद्धउ दुत्तरि जलि । तिमि बज्झउ गलेण णिब्भर गलि ।

पर इन्द्रियां बेचारी अपने ही बल पर कुछ नहीं कर सकतीं। "जैसे अन्धा मनुष्य, एक स्थान पर खड़ा, अपने काम की अभिलाषा रखता हुआ भी, बिना दर्शक के कहीं जा नहीं सकता, उसी प्रकार बिना मन के व्यापार के इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय विषय सुखों का रस नहीं चख सकतीं। जैसे जड़ कट जाने पर बड़े बड़े पत्तोंवाला वृक्ष, जैसे राजा के बिना चतुरंग सेना, जीव के बिना सारा कलेवर और सम्यक्त्व के बिना व्रतों का विस्तार निरर्थक है, उसी प्रकार मन के बिना ये प्रबल इन्द्रियाँ भी कुछ नहीं कर सकतीं। पर यह मन ही तो सुख और दुख के भावों से बँधे हुए त्रैलोक्य के जीवों के लिये बड़ा दुर्जय है। सब को दिखता है कि मन चंचल है, पर जिनदेव को छोड़ कर और कोई उसे काबू में नहीं ला सका। तिलोत्तमा को रस से नाचती और हावभाव विभ्रम प्रकट करती हुई देखकर चतुरानन का चित्त भी चलायमान हो गया, ब्रह्मा का भी कामोन्माद बढ़ गया। मन में काम-विकार से संतप्त होकर हरि गोपियों में अनुरक्त हुए भटकने लगे। ऋषि के आश्रम में तरुणी से मोहित मन होकर शिव सौ गुना नाचने लगे और गौतम ऋषि की भार्या में आसक्त होकर इन्द्र का चित्त चल पड़ा और वे सहस्राक्ष बन गये।"[१५] इस दुर्जय मन को ही वश करना बड़ा भारी और सच्चा संयम है।

घाणिंदिय-रत्तउ इंदिंदिरु । पंकइ मरिवि जाउ सय सक्करु ।
णयणिंदिय-वसेण खणि दड्ढउ । सलहु दीव-तेएण विमूढउ ।
सवणिंदिय-वसु गेयासत्तउ । वाहें मारिउ हरिणु तुरंतउ ।
इक्केक्कइं इंदियइं वि दोसें । इय सयल वि विणट्ठ कयतोसें ।
जो णरु पंचेंदिय-सुह-लालसु । दुक्खु सहइ सो भवि भवि सालसु ।
तं ण दुक्खु कवि केसरि कुंजर । कूरग्गह सरोस तह विंतर ।
कुविय णरेसर अवर वि दुज्जण । एय-जम्म-विद्धंसण-कियमण ।
जीवहु दिंति विसय जं भवि भवि । उप्पण्णइं सरीर तह णवि णवि ॥१२,१॥

१५ अंधु जेम आयट्टइं वज्जिउ ठाणट्ठिओ । अच्छइ चलणहु सक्कइ जइ वि सकज्ज-पिओ ।
मण-वावार-विमुक्कइं तिह पुण इंदियइं । विसय-सुक्खु ण वियाणइं अवसु अतिंदियइं ॥
छिण्ण-मूलु जिह तरु वड्ढिय-दलु । णिवइ-हीणु जिह चउरंगु वि बलु ।
विणु जीवें जिह सयलु कलेवरु । विणु सम्मत्तें जिह वय-वित्थरु ।
तिह मण-वज्जियाइं सुसमत्थइं । पंचेंदियइं हवेइं णिरत्थइं ।
मणु दुज्जेउ हवइ तिजयत्थहं । जीवहं सुह-दुह-भावावत्थहं ।
मणु चंचलु इह सव्वहं दीसइ । जिण मुएवि अण्णहं कहु सीसइ ।
णियेवि तिलोत्तम सरसु णडंतिय । विब्भम हाव भाव पयडंतिय।

इसके पश्चात् दयाधर्म की प्रशंसा और उसके पालन का उपदेश है। फिर सात मिथ्यात्वों के उल्लेख और उनके त्याग के उपदेश, तथा सम्यक्त्व के ८ मूल गुणों के धारण की प्रेरणा के साथ संधि समाप्त होती है। इस संधि का नाम कवि ने 'सम्यक्त्व-शुद्धि-प्रकाशन' रक्खा है।

तेरहवीं सन्धि में भी संयम का उपदेश चालू है। यहां अहिंसा, अचौर्य, सत्य, शील और अपरिग्रह इन पांच अणुव्रतों का, दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थ-दण्ड-व्रत इन तीन गुण व्रतों का, तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग-परिमाण और अतिथि संविभाग इन चार शिक्षाव्रतों का, और फिर निशिभोजन त्याग का उपदेश है। निशिभोजन त्याग को कवि ने व्रतों का सार कहा है और इस पर उन्होंने बड़ा जोर दिया है। जो इसे पालन नहीं करते उन पर इस जन्म और अगले जन्म में बड़ी बड़ी आपत्तियाँ आती हैं, पुत्र कलत्रादि सब दुराचारी हो जाते हैं, तथा जो इसे पालते हैं उनके सुखों का पारावार नहीं है, ऐसा कहा है। फिर मौनव्रत का उपदेश है। मल-मूत्रोत्सर्ग, भोजन, स्नान व देववन्दन क्रियाओं में मौन रखना चाहिये। इसके पश्चात् समाधिमरण के उपदेश के साथ सन्धि समाप्त होती है और संयम कर्म का उपदेश पूरा होता है। इस सन्धि को कवि ने 'संयम कर्म' कहा है।

अन्त की चौदहवीं सन्धि में तप और दान कर्मों का उपदेश है। तप बाह्य और अभ्यन्तर रूप से दो प्रकार का है और प्रत्येक के छह छह भेद हैं, इस प्रकार तप बारह प्रकार का है। बाह्य तप के अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस-परित्याग, विविक्त-शय्यासन और कायक्लेश, तथा आभ्यन्तर तप के प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान भेद हैं। इनका वर्णन प्रथम आठ कडवकों में समाप्त होकर छठवें अन्तिम कर्म दान का उपदेश प्रारम्भ होता है। दान का माहात्म्य बड़ा भारी है—"वह गृहस्थधर्म का सार कहा गया है। दान से पापों की अवधि टलती है तथा ऋद्धि और पुण्य उत्पन्न होते हैं। दान सब कल्याणों का भाजन है, तीनों लोकों को हिला देनेवाली शक्ति है, भोगभूमि के सुखों का विस्तार बढ़ानेवाला है, लोक का अद्भुत वशीकरण है और गौरव का हेतु है। दान जाति और कुल के नाम को जगा देता है, सुपात्रों से संयोग

चलिय-चित्तु चउराणणु आयउ। बंभु पवड्ढिय-कामुब्भावउ।
मणि भणसिय-वियार-संतत्तउ। हरि हिंडइ गोविहिं अणुरत्तउ।
रिसि आसम मोहिय तरुणिहिं मणु। हरु दारुवणु पणच्चिउ सयगुणु।
गोत्तम-रिसि-भज्जहिं आसत्तउ। हरि सहसक्खु आउ चल-चित्तउ॥१२,२॥

जोड़ देता है, दुर्गति का समूल नाश कर देता है और शुभगति को सामने ला देता है। एक दान से ही सज्जनता का पोषण होता है और वैरी का भी मन संतुष्ट हो जाता है। दान कामधेनु है, कल्पवृक्ष है, चिन्तित फल देनेवाला चिन्तामणि है। दान स्पष्ट फल देने वाला सिद्धमंत्र है और पाप के मैल को धोने के लिये बीजाक्षर है"[१६]। यह दान आहार, औषधि, अभय और शास्त्र ऐसा चार प्रकार से सुपात्र और कुपात्र का विवेक करके देना चाहिये।

ग्रन्थ को पूरा करते हुए कवि ने उक्त छह कर्मों की महिमा गाई है—"इन छह कर्मों से ही श्रावक की पहिचान होती है, दिन भर के किये हुए पाप विलीन हो जाते हैं, सम्यक्त्व की शुद्धि होती है, गृहस्थी के काम काज से चित्त को कुछ विश्रान्ति मिलती है, जैनधर्म जाना जाता है, नर-जन्म में गणना होती है, उपसर्ग आने से रुकते हैं, ऋद्धि आने में चूकती नहीं, दुष्कर्म टूट जाते हैं, प्रमाद छूट जाता है, मन में शक्ति उत्पन्न हो जाती है, स्वर्गगति मिलती है, लोक में प्रसिद्धि होती है, त्रिभुवन में हलचल हो जाती है, बड़े बड़े पुरुष वशीभूत हो जाते हैं, देव भी आज्ञाकारी बन जाते हैं, सब वाञ्छायें पूरी होती हैं, देव दुंदुभि बजाते हैं, केवल ज्ञान उत्पन्न होता है और अविचल सुख की प्राप्ति होती है। जो मनुष्य निःशल्यमन और संसार की बाधाओं से विरक्त होकर षट् कर्म का पालन करेगा वह स्थिर दृष्टि से उसी मोक्षमार्ग का दर्शन पा जायगा जिसे जिनेश्वर भगवान् ने ही देख पाया है।"[१७]

---

१६ दाणु कहिउ गिह-धम्महं सारउ। दाणु होइ दुरियावहि-वारउ।
दाणु परिद्धि-पुण्ण-उप्पायणु। दाणु सयल-कल्लाणहं भायणु।
दाणु तिलोयहं खोहहु कारणु। दाणु भोअ-महि-सुह-वित्थारणु।
दाणु लोअ-वसियरणु णिरुत्तउ। दाणु गुरुत्तहि हेउ पउत्तउ।
दाणु जाइ-कुल-णामुज्जोयणु। दाणु सुपत्त-संग-संजोयणु।
दाणु होइ दुग्गइ-णिण्णासणु। दाणु अवसु सुहगइ-उब्भासणु।
दाणु इक्कु सुयणत्तणु पोसइ। दाणु वि वइरिय-मणु संतोसइ।
दाणु वि कामधेणु सुरवर-तरु। दाणु वि चिंतामणि चिंतियवरु।
दाणु वि सिद्धमंतु पयडिय-फलु। दाणु वि बीयक्खरु हयकलिमलु॥१४,६॥

१७ छक्कम्महिं सावहु जाणिज्जइ। छक्कम्महिं दिणि दुरिउ विलिज्जइ।
छक्कम्महिं सम्मत्तु विसुज्झइ। छक्कम्महिं घरकम्मु णिरुज्झइ।
छक्कम्महिं जिणधम्मु मुणिज्जइ। छक्कम्महिं णरजम्मु गणिज्जइ।

इस प्रकार यह अमरकीर्तिगणि का षट्कर्मोपदेश पूरा होता है। यहाँ जो विवरण दिया गया है उससे ग्रन्थ के विषय का, कर्ता की भाषा-शैली का तथा काव्य के गुणों का परिचय पाठकों को मिल जायगा। ग्रन्थ के कर्ता काष्ठा संघ के थे, पर ग्रन्थ भर में ऐसी कोई बात कम से कम मेरी दृष्टि में नहीं आई जो दूसरे किसी भी संघ के अनुयायी को अग्राह्य हो। पूजा के अष्ट द्रव्यों का क्रम तक कर्ता ने सर्वमान्यतानुसार ही रक्खा है। ग्रन्थ उद्धार के योग्य है। इति शम्।

छक्कम्महिं उवसग्गु ण ढुक्कइ। छक्कम्महिं रिद्धिहिं ण वि चुक्कइ।
छक्कम्महिं दुकम्मइ तुट्टहिं। छक्कम्महिं पमाय विहट्टहिं।
छक्कम्महिं पसत्ति मणि जम्मइ। छक्कम्महिं सुरणयरिहि गम्मइ।
छक्कम्महिं पसिद्धि जणे लब्भइ। छक्कम्महिं तिहुवणु खणि खुब्भइ।
छक्कम्महिं वसि जायइं णरवर। छक्कम्महिं देव वि आणायर।
छक्कम्महिं वंछिउ संपज्जइ। छक्कम्महिं सुरदुंदुहि वज्जइ।
छक्कम्महिं उप्पज्जइ केवलु। छक्कम्महिं लब्भइ सुहु अविचलु।

घत्ता—छक्कम्मइं जो णरु सलमणु, भविउ मवाहि-विवज्जिउ पालइ।
सो जिणणाहे दीसियउ, मोक्ख-मग्गु थिर-दिट्ठि णिहालइ॥१४,१७॥



विजयनगर-साम्राज्य और जैन-धर्म

(ले०—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

जब सन् १३२७ में मुहम्मद तुग़लक ने 'होय्सल' राज्य को समूल नष्ट कर उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया तब दक्षिण भारतीय भिन्न भिन्न राज्य सजग होकर दो वीर योद्धाओं के नेतृत्व में संगठित हुए। इस संगठन का परिणाम यह हुआ कि इन शूरवीरों ने कुछ ही समय के बाद एक नवीन राज्य की नींव डाली। इस नवीन राज्य की राजधानी विजयनगर ही बनी। उल्लिखित वीरों के नाम क्रमशः हरिहर और बुक्क थे। ये दोनों सहोदर भाई थे। इन भाइयों ने दक्षिण भारत में बड़े वेग से बढ़ती हुई यवन-शक्ति को बड़ी वीरता से रोका। इसी समय वहाँ यवनों ने बहमनी राज्य को स्थापित कर गुल्बर्गा को इसकी राजधानी बनाया। उस समय दक्षिण में यही दो राज्य प्रधान थे और सदैव इनमें एक दूसरे के प्रति पारस्परिक संघर्ष चलता था। लगभग सन् १४८१ में बहमनी राज्य बरार, गोलकुण्ड, बीजापुर आदि भिन्न भिन्न प्रदेशों में पाँच भागों में विभक्त हुआ। विजय नगर का कलह बीजापुर के आदिल शाहों के ही साथ चलता रहा। पूर्वोक्त पाँचों महम्मदीय राज्यों में पारस्परिक द्वेष एवं नोक-झोंक चलते रहने के कारण प्रायः विजयनगर को ही विजयी बनने की सुविधा मिल जाती थी। अन्त में मुसलमानों ने अपनी इस भूल को समझ लिया। फलतः इन लोगों ने संगठित होकर सन् १५६५ में तालिकोट के मैदान में लड़कर दक्षिण भारत से सदा के लिये हिन्दू-साम्राज्य की जड़ ही उखाड़ डाली। इस युद्ध में यवनों ने विजयनगर के तत्कालीन शासक रामराय को मारकर उनकी सुन्दर राजधानी विजयनगर को तहस-नहस कर डाला। लोक विश्रुत, हिन्दुओं की भूतपूर्व राजधानी विजयनगर का ध्वंसावशेष देखकर आज भी सहृदयों की आँखों से प्रवाहित अश्रुधारा रोके नहीं रुकती।

यह हुआ विजयनगर साम्राज्य का संक्षिप्त इतिहास। अब मैं अपने पाठकों का ध्यान प्रकृत विषय की ओर आकृष्ट करता हूँ। विजयनगर राजवंश में वीर बुक्कराय को जैन धर्म कभी नहीं भूल सकता। क्योंकि इन्होंने अपने शासनकाल में एक अमूल्य उपकार के द्वारा जैनधर्म को एक प्रकार से चिरऋणी बना दिया है। इस बुक्कराय (प्रथम) ने उन दिनों जैन और वैष्णव-सम्प्रदाय में धधकती हुई विद्वेषाग्नि को बुझा कर शान्ति-स्थापना-द्वारा अपनी अमिट धार्मिक मैत्री दुनिया को दिखा दी थी। यह शासक सर्वधर्म-

भास्कर २



एलोरा का अलंकृत स्तम्भ

(दक्षिण भारतीय कला)

समदर्शी थे इसके लिये यही एक पूर्वोक्त उदाहरण पर्याप्त समझा जायगा। यह समुज्ज्वल एवं लोकहितकर गुण सभी शासकों में होना परमावश्यक है। किन्तु मुझे यहां कहना पड़ता है कि साम्प्रदायिकता के रंग में सराबोर होकर कई शासक इस अनुकरणीय गुण को भूल जाते हैं यह खेद की बात है। खैर इस महत्वपूर्ण शासकोचित सद्गुण का विवरण इस प्रकार है:—

वहाँ के वैष्णवों ने जैनियों के धार्मिक अधिकार में कुछ हस्तक्षेप किया। जैनियों ने निरुपाय हो कर वैष्णवों के इस धर्मसम्बन्धी हस्तक्षेप का अनौचित्य दिखाते हुए राजा बुक्क राय के पास जा उनसे न्याय भिक्षा मांगी। राजा बुक्क ने जैनियों का हाथ वैष्णवों के हाथ में रखकर शपथपूर्वक यों फैसला किया—"धार्मिक विषयों में जैन और वैष्णव सम्प्रदाय में कोई भेद नहीं है। जैनियों को पूर्ववत् पञ्चमहावाद्य और कलश का अधिकार रक्षित रहेगा। जैनधर्म की वृद्धि और ह्रास वैष्णवों को अपनी ही वृद्धि और हानि समझनी चाहिये। श्रीवैष्णव मेरा यह उल्लिखित शासन मेरे राज्य के सभी देवालयों में स्थापित कर दें। बल्कि सूर्य-चन्द्र के अस्तित्व के साथ अर्थात् जब तक सूर्य और चन्द्रमा का अस्तित्व रहे, मेरे वैष्णव-समुदाय जैन-धर्म की रक्षा करते रहेंगे। यह विवरण श्रवण बेलगोल के नं० १३६ (३४४) वाले शक सम्वत् १२९० के शिलालेख में अङ्कित है। इस शिलालेख में यह भी उल्लेख मिलता है कि श्रवण बेलगोल में २० वैष्णव अङ्गरक्षकों की नियुक्ति के लिये प्रतिवर्ष प्रत्येक जैनी के घर से एक एक हण* संगृहीत किया जाय और इस द्रव्य का अवशिष्ट भाग वहां के जैन-मन्दिरों के जीर्णोद्धार-कार्य में व्यय किया जाय। और इस कर-संग्रह के व्यवस्थापक तिरुमले तातय्य रहें। साथ ही साथ शिलालेख में यह भी लिखा मिलता है कि इस राज-शासन का उल्लङ्घन करनेवाले राज, संघ एवं समुदाय के द्रोही करार दिये जायँ।

बुक्क राय के इस पक्ष-पात-शून्य फैसले से वैष्णव होते हुए भी इनकी प्रजा-प्रियता पद-पद पर प्रदर्शित होती है। वास्तव में यह एक आदर्श शासक थे।

लगभग शक सम्वत् १३३२ के श्रवणबेलगोलस्थ नं० ४२८ (३३७) के शिलालेख से ज्ञात होता है कि देव राय महाराय की रानी भीमादेवी पण्डिताचार्य की शिष्या थीं और इन्होंने मंगायि में श्रीशान्तिनाथ तीर्थङ्कर की बिम्बप्रतिष्ठा करायी थी। यह देव राय प्रायः प्रथम देव राय ही होंगे। मालूम होता है कि भीमादेवी जैनधर्मावलम्बिनी थीं। श्रवणबेलगोल के शक सम्वत् १३४४ लेख नं० ८२ (२५३) में हरिहर (द्वितीय) के सेनापति इरुगप्प ने श्रवणबेलगोल में जो भूदान किया था उसका वर्णन मिलता है। यह इरुगप्प देव राय द्वितीय

* उस समय का प्रचलित मुद्राविशेष।

के समय में भी मौजूद थे। इनके द्वारा नानार्थ-रत्नमाला नामक एक संस्कृत पद्यात्मक कोष रचे जाने की बात मिलने से यह ज्ञात होता है कि यह इरुगप्प संस्कृत के भी एक अच्छे मर्मज्ञ विद्वान् थे। इन्होंने विजयनगर में भी श्रीकुन्थनाथ तीर्थङ्कर का एक मन्दिर निर्माण कराया था। हरिहर राय (सन् १३३६—१३५०) ने तुलु जैनराजाओं को जो वंश-परम्परा से राज्य शासन करते चले आते थे निष्कण्टकता एवं निर्भीकतापूर्वक शासन करने का अधिकार दे दिया था। बल्कि इन आदर्श-शासक हरिहर राय की ओर से तुलु जैन राजाओं को अपने जैनराज्य में सभी अधिकार मिले थे। द्वितीय हरिहर राय (सन् १३७९—१४०४) ने जिस प्रकार कद्रे के मञ्जुनाथ, कान्तावर के कान्तेश्वर आदि जैनेतर देवस्थानों को जागिर दी थी उसी प्रकार मूड़बिद्री के जैनगुरुबसदि को भी दी थी। शक सम्वत् १३२९ के मूड़बिद्री के गुरुबसदि के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि द्वितीय बुक्क राय ने इस बसदि (मन्दिर) को भूदान दिया था। सुप्रसिद्ध देव राय द्वितीय (सन् १४२१—१४५१) ने हट्टंगडि के चन्द्रनाथ देवालय, मूड़बिद्री के त्रिभुवनतिलक चैत्यालय वारंग के नेमिनाथ मन्दिर आदि इस जिले के कई जैनचैत्यालयों को जागीर दी थी—यह बात वहाँ के भिन्न भिन्न शिलालेखों से सिद्ध होती है।

खिस्त शक १४३१—३२ में कार्कल के शासक भैरवराय के सुपुत्र वीर पाण्ड्य ने कार्कल में जो लोक-विख्यात बाहुबली स्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी उस प्रतिष्ठा-समारोह में द्वितीय देव राय भी सम्मिलित हुए थे। वीर पाण्ड्य ने आपका बड़ा सम्मान किया था। विजयनगर के एक शासन से विदित होता है कि उक्त देव राय ने विजयनगर में भी पार्श्वनाथ स्वामी का एक मन्दिर बनवाया था। इनके समय में विजयनगर-साम्राज्य बहुत ही उन्नतावस्था में था। इटली के पर्यटक निकोलोकोन्टो और पर्शिया के राजा ककलियन के राजदूत अब्दुल रज़ाक इन दोनों ने देव राय के राज्यविभव को अपने अपने यात्रा-विवरणों में बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया है। उस समय विजयनगर राजधानी साठ माईल के घेरे में फैली हुई थी। इनके यात्राविवरण से यह भी विदित होता है कि द्वितीय देव राय का राज्य कृष्णानदी से कन्याकुमारी तक विस्तृत था एवं तत्कालीन विजयनगर के शासक भारतीय राजाओं में अधिक शक्तिशाली थे।

अस्तु, इसी राजवंश के द्वितीय विरूपाक्ष राय (सन् १४६५—१४७९) ने भी मूड़बिद्री वाले त्रिभुवनतिलक चैत्यालय को जागीर दी थी। चिट्ट पाडि के बल्लाल के सहोदर भाई के घर पर के एक शासन से ज्ञात होता है कि सलुववंशीय नरसिंह के छोटे भाई इम्मडि नरसिंह ने सन् १४९० में चिट्ट पाडि के हलर बसदि (मन्दिर) में जागीर दी थी।

प्रख्यात दानवीर कृष्णदेव राय (सन् १५०६—१५३०) के द्वारा मूडबिद्री के गुरुबसदि* एवं चंगलपट्ट के त्रैलोक्यनाथ जिनालय को वृत्ति दी गयी थी।

यों तो विजयनगर-साम्राज्य के स्थापनाकाल से ही दक्षिण भारत में हिन्दू संस्कृति की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है, पर इन कृष्णदेव राय के शासन-समय में तो वह हिन्दू संस्कृति अत्युन्नतावस्था को प्राप्त हो गयी थी। उत्तर भारत में विक्रमादित्य का नाम जैसी श्रद्धा के साथ लिया जाता है वैसे ही दक्षिण भारत में इन कृष्णदेव का नाम लोग बड़े आदर के साथ स्मरण करते हैं। विजयनगर राजवंश के अन्यान्य छोटे-मोटे राजाओं ने भी जैनदेव-मन्दिरों को समय समय पर वृत्ति प्रदान कर सम्मानित किया है। यही तक नहीं इस वंश के राजाओं से जैन कवियों को भी अन्यान्य साहाय्य-द्वारा पर्याप्त प्रोत्साहन मिला है। प्रथम हरिहर (सन् १३३६—१३५३) के शासनकाल में मुगुलिपुर के स्वामी प्रथम मंगरस ने खगेन्द्रमणि-दर्पण का प्रणयन किया था। धर्मनाथ पुराण के रचयिता मधुर द्वितीय हरिहर (सन् १३७७—१४०४) के राजसभा-पण्डित थे। बिलिगे तालुक के एक शासन से विदित होता है कि शब्दानुशासन के कर्त्ता भट्टाकलंक के गुरु भट्टाकलंक ने प्रथम श्रीरंग राय (सन् १५७३—१५८४) की राजसभा में उनकी प्रेरणा से सारत्रय एवं अलंकारत्रय को पढ़कर कीर्त्ति समर्जित की थी। इस शासन से यह भी ज्ञात है कि शब्दानुशासनकर्त्ता भट्टाकलङ्क प्रथम वेङ्कटपति राय (सन् १५८६—१६१७) के शासनकाल में जीवित थे।†

इस दिग्दर्शन से यह बात जानने में अब जरा भी सन्देह नहीं रह जाता है कि विजयनगर के साम्राज्य-शासन-समय में जैनी सुखपूर्वक निर्बाधरूप से अपने धर्मकर्म का पालन करते थे।

बल्कि दक्षिण कन्नड़ जिले में शासन करनेवाले अजिल जैन राजवंश के एक विशेष वक्तव्य (कैफियत) से पता लगता है कि इस वंश का सम्बन्ध विजयनगर-साम्राज्य से भी था। इसका विवरण यों है :—

इस वंश के पूर्वज तिम्मण्ण अजिल के मरणोपरान्त इस राजवंश में केवल दो स्त्रियाँ रह गयी थीं। इनमें से एक विधवा और दूसरी कुमारी थी। ये दोनों सगी बहनें थीं। तिम्मण्ण अजिल के शत्रुओं ने इनके मर जाने पर इनकी सभी चल अथवा अचल सम्पत्तियों को लूट-खसोट कर दोनों स्त्रियों को निस्सहाय बना दिया। ऐसी दशा में इन दोनों ने विजयनगर-साम्राज्य के शासक के पास जा अपना पूर्व परिचय-प्रदानपूर्वक

* उल्लिखित प्रमाणों के लिये "द० कन्नड जिल्लेय प्राचीन इतिहास" देखें।

†"कर्णाटक कविचरिते" के २य भाग की अवतरणिका देखें।

अपनी दयनीय दशा का कच्चा चिट्ठा कह सुनाया। विजयनगर के साम्राज्य-शासक ने इनकी दुरवस्था पर तरस खा इन्हें आश्वासन एवं अभयदान देकर अपने यहाँ रख लिया। बल्कि उनके वंश का प्रकृत पता लगा कर उस स्वभाव-सुन्दरी उक्त कुमारी से अपनी शादी भी करली। इस नवविवाहिता स्त्री के गर्भ से विजयनगर-साम्राज्य-शासक को तिम्मण्ण राय और कामि राय नामके दो पुत्ररत्न उत्पन्न हुए। इन दोनों लड़कों के रक्षण, भरण एवं पोषण बड़ी सतर्कता के साथ हुए। बाद इन दोनों भाइयों के तरुण हो जाने पर इनकी मौसी विधवा ने राजा से निवेदन किया कि हमसबों ने अत्यन्त अपमानित होकर आपकी शरण ली थी। हम सबों के सौभाग्योदय से आप जैसे माननीय सहृदय शासक की छत्रछाया में रहकर इस समुन्नतावस्था को प्राप्त करने की सुविधा उपलब्ध हुई। अब मुझे इन दोनों बच्चों को साथ लेकर अपनी जन्मभूमि का दर्शन की हार्दिक उत्कण्ठा हो रही है—आशा है कि आप मेरी यह विनीत प्रार्थना स्वीकृत करेंगे। राजा ने यह प्रार्थना सहर्ष कबूल करली। और इन दोनों लड़कों को उस विधवा के साथ उनकी जन्मभूमि को भेजकर मंगळूरु प्रान्त के कुछ हिस्से बड़े लड़के तिम्मण्ण राय और कुछ हिस्से छोटे लड़के कामि राय को देकर इन्हें अपने अपने प्रान्तों का शासक बना दिया। बल्कि अधिक स्नेह-भाजन होने की वजह से अपने छोटे लड़के इन कामि राय को कुछ अधिक हिस्सा दिया। इसके बाद बड़े लड़के तिम्मण्ण राय वगारु में और छोटे कामि राय नन्दावर में भिन्न भिन्न दो राजधानी बनाकर सुख से रहने लगे। बड़े तिम्मण राय का वंश अजिल और छोटे कामि राय का वंश बंग के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन दोनों के वंशज आज भी मौजूद हैं। अभी तो ये जैनी हुई हैं किन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि यह वंश पहले हिन्दू था।*

अन्त में मैं विजयनगर के सम्बन्ध में सुहृद्वर बाबू हीरालाल जी एम०ए०,एल०एल०,बी० का मत नीचे ज्यों का त्यों उद्धृत किये देता हूँ:—

"इस वंश के नरेश यद्यपि हिन्दू थे पर जैनधर्म की ओर उनकी दृष्टि सहानुभूति-पूर्ण रहती थी। इसका बड़ा भारी प्रमाण बुक्क राय का वह शिला लेख है जिसमें उनकी बड़ी सहृदयता के साथ जैनियों और वैष्णवों के बीच सन्धि स्थापित करने का विवरण है। विजयनगर के हिन्दू नरेशों के समय में राज्यघराने के कुछ व्यक्तियों ने जैनधर्म स्वीकार किया था। उदाहरणार्थ हरिहर द्वितीय के सेनापति के एक पुत्र व 'उग' नामक एक राजकुमार जैन धर्मावलम्बी हो गये थे।

('मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैनस्मारक' की भूमिका पृष्ट १४)

* इस वंश का वह विशेष वक्तव्य (कैफियत) "सुवासिनि" सम्पुट ४ संचिके १ में देखें।

निसिधि के सम्बन्ध में दो शब्द

(ले०—प्रो० श्रीयुत ए० एन० उपाध्ये)

कनड़ी और संस्कृत के अनेक जैन शिलालेखों में 'निसिधि' शब्द पाया जाता है। किन्तु उसका अक्षर-विन्यास (spelling) सर्वत्र एक सा नहीं है। कनड़ी के शिलालेखों में उसके भिन्न भिन्न रूप पाये जाते हैं यथा 'निषिदि' 'निषिधि' 'निसिदि' निसिधि' 'निसिद्धी' 'निसिधिग' और निष्ठिग।[1] उत्तर कर्नाटक में आजतक भी 'निसिद्दी' शब्द प्रचलित है। संस्कृत के शिलालेखों में उसके 'निषिधि' 'निषद्यका' और 'निषद्या'[2] रूप पाये जाते हैं। इसके रूपों की विभिन्नता मूल शब्द तथा उसकी बनावट के ऊपर प्रकाश डालने के लिये किसी को भी लालायित कर सकती है।

अनेक शिलालेखों के अध्ययन करने से इस शब्द का अर्थ बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। मृत्यु के बाद बनाये जानेवाले उस ढांचे या मकान को 'निषद्या' कहते हैं जो संभवतः उस स्थान पर बनाया जाता था जहाँ किसी पूज्य साधु ने अपने अन्तिम श्वास पूरे किये थे या जहां पर उसका शरीर जलाया जाता था अथवा जहाँ पर उसकी अस्थियाँ गाड़ी जाती थीं। इस प्रकार की समाधियाँ प्रायः चबूतरे के रूप में पाई जाती हैं। चबूतरे के चारों कोनों पर चार खम्भे होते हैं और उन पर एक गुम्बजदार भारी छतरी होती है जो पत्थर या ईंटों से बनायी जाती है। कभी कभी केवल चबूतरा ही होता। चबूतरे पर मृत-साधु के पदचिह्न और कहीं कहीं मूर्ति[3] भी अङ्कित होती है। अधिकतर पदचिह्नों के पास एक शिलालेख[4] रहता है उससे मृतसाधु का परिचय तथा उसके अन्तिम हालात मालूम होते हैं और स्मारक के निर्माता का भी पता चलता है।

बहुत से जैन ग्रन्थों में धरातल में ऊंचे चौरस स्थानों[5] का (seats) वर्णन मिलता

---

१ इ० सी० २, नं० ६४, १२६, २७२, ६२, १५ १६, ८५, ९१, १०३, १०४, ११२, २७३, ११७, ११८, ६५ आदि।

२ इ० सी० २. नं० ६६ इसमें 'निषिद्यालयम्' वाक्य आया है; ९५, ६३, २५४।

३ उदाहरण के लिये—कोप्पल में चन्द्रसेन निसिदि—जयकर्नाटक, X, १० और कागवाड़ा में नागचन्द्र—निसिदि, जिनविजय XXVI

४ बेल्गोल के ऐसे बहुत से शिलालेख।

५ देखो, निसीहिया का वर्णन, भगवती-आराधना, गाथा १९६४—६७ (कोल्हापुर संस्करण पृष्ठ ५७२ से), शास्त्रसारसमुच्चय पृष्ठ १७० से (बेलगाँव संस्करण)।

है। इन पर बैठकर जैनसाधु सल्लेखना धारण करते थे। कोप्पल तथा जैनों के अन्य पवित्र स्थानों पर इस प्रकार की वेदिकाएं आज भी सुरक्षित हैं। जो शब्द अप्रसिद्ध होते हैं उनकी व्याख्या की आवश्यकता होती है। जब हम संस्कृत में 'निषद्यका' और 'निषद्या' तथा कनड़ी में निषिदि और निषीदी रूप देखते हैं तब हमें इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि यह शब्द 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'सद्' धातु से बना है और उसके दो रूप निषद्या और निषीदिका—अवश्य प्रचलित होने चाहिये। जिनका अर्थ-आसन, बैठने का स्थान, विश्रामस्थल और 'कुछ धार्मिक क्रियाओं के काम में आनेवाला स्थान विशेष' आदि होते हैं। आजकल जो निशियां मिलती हैं वे भी किसी न किसी साधु के वासस्थान हैं जहाँ उन्होंने मृत्यु के पूर्व अपने दिन बिताये थे या अन्तिम समाधि धारण की थी। इससे भी हमारी उक्त धारणा की पुष्टि होती है।

किन्तु 'निषिधि' 'निसिधि' 'निसधिग्' और 'निसीधि' इन रूपों में आये हुए 'ध' को कैसे समझाया जाय? इस शब्द के प्राकृत रूप पर ध्यान देने से 'ध' की समस्या सरलता से हल की जा सकती है। प्राकृत में 'निषीदिका' का 'निसीहिया' रूप बनता है। साधारणतया 'ह' 'ध' के तुल्य हो सकता है। यद्यपि 'द' का 'ह' हो जाना स्वाभाविक नहीं है। किन्तु इस प्रकार के उदाहरण पाये जाते हैं जैसे ककुद्=ककुह[१]। जैनग्रन्थों में जैनसाधुओं के जीवनी तथा स्मारकों के वर्णन में 'निसिधि' शब्द का प्राकृत रूप बहुधा पाया जाता है यथा[२], "निसेधिकी—निषीदस्थानम्, आह च जीवाभिगम मूल टीकाकृत-निसेधिकी निषीदस्थानमिति"। कुछ स्थलों पर इसका अर्थ स्वाध्यायशाला भी पाया जाता है। अस्तु, इस शब्द का संस्कृत अनुवाद पूर्ण उपयुक्त नहीं है, शायद टीकाकार भी इसके विषय में संदिग्ध था और इसीलिये अपने से प्राचीन लेखक का उद्धरण देकर वह अपने उत्तरदायित्व से बच जाता है। आधुनिक कनड़ी लेखक मुख्यतया जैन, संस्कृत शब्दों के अपभ्रंश के लिये सर्वदा प्राकृत-व्याकरण का आश्रय लेते हैं। फलस्वरूप के प्राकृत 'निसीहिया' रूप के साथ—जो कि उनकी दृष्टि में था—उन्होंने कनड़ी के शिलालेखों में 'ध' को स्थान दे दिया। किन्हीं किन्हीं रूपों में 'ढ' भी पाया जाता है। निषद्या और निषीदिका (प्रा० निसीहिया) इन दो रूपों की गड़बड़ी का ही यह परिणाम है। जैसा कि संस्कृत के 'सुगति' और 'सद्गति' इन दो रूपों की गड़बड़ी से 'सुगई'[३] रूप भी पाया

१ हेमचन्द्र का प्राकृत-व्याकरण १—२२५।

२ राय प्रसेनीयसुत्त, सूत्र नं० २८ में 'निसीहिय' शब्द आया है और उस पर मलयगिरि की टीका में यह वाक्य है—आगमोदयसमिति का संस्करण पृ० ६१।

३ उत्तराध्ययन २८, ३ में सुगई प्रयोग पाया जाता है।

जाता है। जब किसी शब्द का मूल दृष्टि से ओझल हो जाता है तब उसके स्थान में कोई भी अशुद्ध रूप प्रचलित होने लगता है। कनड़ी का 'निष्टिग'[1] और संस्कृत 'निसिधि' इसी कोटि के रूप हैं।

खारवेल के शिलालेख की पन्द्रहवीं पंक्ति में 'निसीदिय' शब्द आता है। यथा—'अरहतनिसीदियसमीपे'। वहाँ यह शब्द स्पष्ट रूप से 'अर्हन्' के अग्निसंस्कार के स्थान पर बनाये गये स्मारक को बतलाता है। इस स्मारक का आकार शायद बहुत कुछ प्रांतीय बनावट के ऊपर निर्भर है। दक्षिण भारत में ऊँचा चौकोर चबूतरा बनाया जाता है। यह बात विचारणीय है कि खारवेल के शिलालेख के 'निसीदिय' को स्तूप समझना उपयुक्त होगा या नहीं? कुछ शिलालेखों से यह स्पष्ट है कि निषीदिका का बड़ा आदर था और उस स्थान पर पूजा और प्रतिष्ठा[2] भी होती थीं।[3]

---

१ इ० सी० २, नं० ६५।

२ इ० सी० २, नं० ११७, ११८, १२८ इत्यादि।

३ भण्डारकर प्राच्य-विद्यामन्दिर पूना की पत्रिका जिल्द १४ भाग ३—४ से पं० कैलाशचन्द्र शास्त्रीद्वारा अनुवादित।



श्रीऋषभदेव भगवान की जीवनी के साधन

(ले०—श्रीयुत मुनि हिमांशुविजय, न्याय-काव्य-तीर्थ)

आधुनिक शैली पर तीर्थंकरों के चरित्र लिखने की आवश्यकता है—सो भी प्रथम तीर्थंकर की अत्यधिक। यहां पर श्वेताम्बर जैन-साहित्य में ऋषभदेव-संबंधी उल्लेखों को उपस्थित किया जाता है।

श्वेताम्बर जैन ग्रन्थ

श्वेताम्बर ग्रन्थों को मैं दो भाग में विभक्त करता हूं; एक तो भगवद्भाषित और गणधर-रचित आगम-ग्रन्थ और दूसरा आगम से भिन्न ग्रन्थ जो भिन्न भिन्न आदर्श आचार्यों से लोकहित के लिये लिखा गया है।

आगम-ग्रन्थ

मूल आगमों में किसी तीर्थंकर का चरित (जीवनी) एक ही साथ में एक ही जगह पर प्रायः नहीं आता है। कहीं किसी तीर्थंकर की कुछ बात तो कहीं अन्य तीर्थंकर की बात, और कहीं सब तीर्थंकरों की दीक्षा-सम्बन्धी, आयुष्य-सम्बन्धी, माता-पिता-सम्बन्धी बात, ऐसे भिन्न भिन्न द्वारों में (प्रकरणों में) विकलित (त्रुटित) रीत्या तीर्थंकरों के चरित्र आते हैं; इसी लिये जब तक सभी आगमों का पूरा परिशीलन न किया जाय तब तक पूरा पता नहीं चल सकता है।

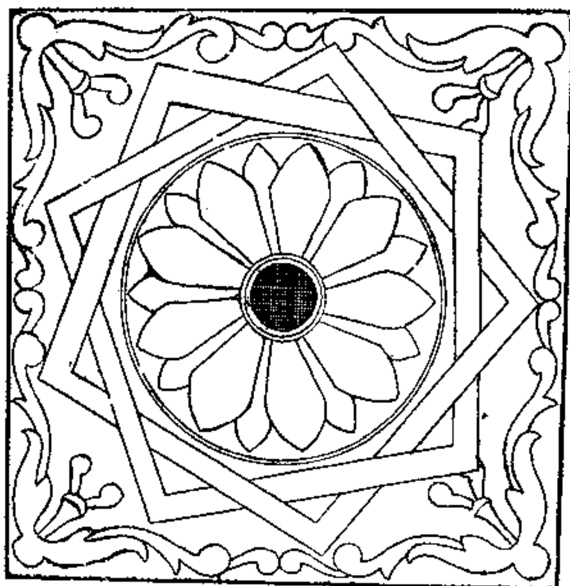
समवायांग

४५ आगमों में समवायाङ्ग चौथा अंग (आगम) है। इसके ऊपर श्रीअभयदेव सूरि का विवरण है। यह श्रीआगमोदय-समिति सूरत से इस्वी सन् १९१८ में प्रकाशित हुआ है। इस आवृत्ति के अनुसार श्रीऋषभदेव और भरतादि के सम्बन्ध की बातें निम्न सूत्र और पृष्ठों में आती हैं।

सूत्र संख्या	पृष्ठ संख्या ※
,, २३	,, ४२
,, २४	,, ४३
,, २५	,, ,,
,, ५३	,, ७७
,, ७७	,, ८५ से ८७ तक
,, ८३	,, ८६
,, ८४	,, ९०
,, ८६	,, ९४
,, १३५	,, १०४से१०५ तक
,, १५६	
,, १५७	
,, १५८	

※ श्रीआगमोदयसमिति और देवचन्द लाल भाई पुस्तकोद्धार फंड के आगमों के पृष्ठों में एक ही तरफ पृष्ठ संख्या छपी है, इसलिये हमने भी दोनों तरफ की एकही पृष्ठ संख्या लिखी है।

सूत्र १५७ और १५८ की प्राकृत गाथा पहली से ९३ गाथा तक।



मूडबिद्री के चन्द्रनाथ-चैत्यालय के खंभों में
खुदी हुई हस्तकला के नमूने

(श्री एस० चन्द्रराज के सौजन्य से)

आवश्यक

(पूर्व भाग)

आवश्यक सूत्र पूर्व भाग श्रीभद्रबाहु स्वामी की निर्युक्ति श्रीमलयगिरि आचार्य के विवरण-युक्त श्रीआगमोदय-समिति सूरत से ई० सन् १९२८ में प्रकाशित हुई है। इसकी गाथाओं में कुलकर, नाभिराजा, भगवान् ऋषभदेव, भरतादि के साथ सम्बन्ध रखने वाली बहुत सी वार्ता आती है। इसी आवृत्ति के अनुसार स्थान पृष्ठादि निम्नरीत्या हैं:—

गाथा संख्या	पृष्ठ संख्या	विषय
१४९ से १६६ तक	पृष्ठ१५३ से १५७ तक	कुलकरों का अधिकार विस्तार से।
गाथा १६७ से १८८ ,,	,, १५७ ,, १९३ ,,	श्रीऋषभदेव भगवान् के पूर्व भव, सम्यक्त्व-प्राप्ति के उपाय, जन्माभिषेक और इक्ष्वाकु-कुल की उत्पत्ति इत्यादि का विस्तार से वर्णन।
,, १८८ ,, २१९ ,,	,, १९३ ,, २२१ ,,	भगवान् की बाल्यावस्था, युवावस्था, विवाह, राज्य-व्यवस्था, समाजव्यवस्था, शिल्प, कर्म, कला, शिक्षा और साधु-साध्वी आदि की संख्या।
,, २१९ ,, २४९ ,,	,, २१४ ,, २३२ ,,	भरत बाहुबलि प्रभृति पुत्रों को राज्य-भाग देना, दान, दीक्षा, तापस-प्रथा का प्रारंभ, नमि और विनमि की सेवा, एक वर्ष तक निर्जलाहार, तप, श्रेयांस के हाथ से पारणा, केवलज्ञान, भरत को चक्र की प्राप्ति होना तथा भगवान् की केवलोत्पत्ति, भरत-बाहुबलि का युद्ध, बाहुबलि को केवलज्ञानादि।
,, ३५० ,, ४३६ ,,	,, २३३ ,, २४७ ,,	मरीचि के त्रिदण्डि वेष-आचार का वर्णन, सांख्य-मत की उसके कपिलशिष्य से उत्पत्ति, ब्राह्मण शब्द की उत्पत्ति, प्राचीन वेदों की उत्पत्ति, भगवान का निर्वाणोत्सवादि, भरत राजा को आदर्श गृह में केवलज्ञानादि।

स्थानाङ्ग (दूसरा भाग)

यह तीसरा अङ्ग है। इसके ऊपर श्रीअभयदेव सूरि की टीका आगमोदय-समिति सूरत से ई० सन् १९२० में प्रकाशित हुई है। इसमें कहीं कहीं कुलकर, श्रीऋषभदेवादि के विषय में कुछ कुछ उल्लेख मिलता है।

सूत्र संख्या	पृष्ठ संख्या	विषय
सूत्र ५१५ से ५१७तक	पृष्ठ ४१९	विमल वाहन का शरीर प्रमाण, श्रीऋषभदेव का तीर्थ-प्रवर्तन समयादि।

जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति

(प्रथम भाग)

इस आगम में जम्बूद्वीप के वर्णन के अनन्तर भरतक्षेत्र का वर्णन करते हुए कुलकरों से लेकर भरत चक्रवर्ती के मोक्ष तक का वृत्तान्त विस्तार से लिखा है। इसके ऊपर श्रीशान्तिचन्द्र की विस्तृत और सुन्दर टीका है। मूल सूत्र के वृत्तान्त को टीका में बहुत विस्तृत किया है। यह प्रथम भाग देवचंद लाल भाई पुस्तकोद्धार-फंड सूरत से सन् १९२० में प्रकाशित हुआ है। इस प्रथम भाग में निम्न सूत्र और पृष्ठों में निम्नलिखित वृत्तान्त आता है।

सूत्र संख्या	पृष्ठ संख्या	विषय
सूत्र २८ से २९ तक	पृष्ठ ११२ से १३४ तक	सुमति आदि कुलकरों के नाम हकारादि नीति आदि।
,, ३० से ३३ तक	,, १३५ से १६४ ,,	भगवान् ऋषभदेवजी का जन्म, समाज, राज्यव्यवस्था, चार हजार क्षत्रियों के साथ दीक्षा-ग्रहण का वर्णन, भगवान् की मुनिचर्या का वर्णन, उनके गणधर-साधु आदि की संख्या, भगवान् का संहनन, कुमारावस्था आदि का काल, निर्वाण, इन्द्रादि-द्वारा निर्वाणोत्सव, और तीसरे आरे की पूर्ति।
,, ३४ से ४० तक	,, १६४ से १७८ ,,	चौथे, पाँचवे, छठे आरे का वृत्तान्त।
,, ४१ से ७१ तक	,, १७८ से २८१ ,,	भारतवर्ष का वर्णन, भरत नाम पड़ने का कारण, विनीता का वर्णन, भरत के राज्य का वर्णन, चक्र की प्राप्ति और पूजोत्सव, षट्-खण्ड की साधना का विस्तार से वर्णन, आपात किरातों के साथ युद्ध, अश्वरत्नादि १४ रत्नों की प्राप्ति, ऋषभकूट में अपना नाम लिखना, नमि-विनमि की साधना, पश्चिम दिशा की साधना, भरत चक्रवर्ती का विनीता में प्रवेश, भरत के चक्रवर्तित्व का अभिषेक, भरत चक्रवर्ती की राज्य-समृद्धि का वर्णन, भरत का केवलज्ञान, मुनि-वेष का ग्रहण और मोक्ष।

कल्पसूत्र

इस ग्रंथ की प्रसिद्धि श्वेताम्बर जैनों में और ग्रंथों की अपेक्षा से बहुत ज्यादा है; इसका कारण यह है कि प्रत्येक पर्युषणा महापर्व के समय इस ग्रंथ को मुनिराज आद्यन्त बाँचते हैं और श्रावक-श्राविकायें सुनती हैं। इस ग्रंथ को नौ भागों में विभक्त करके नौ व्याख्यानों में पूरा करने की प्रणाली है

इसके बनानेवाले उर्द्धरेता (महात्मा) महाज्ञानी चतुर्दश पूर्वधारी श्रीभद्रबाहु स्वामी हैं। इन्होंने* नवमें पूर्व में से उद्धार करके दशाश्रुत स्कन्ध के आठवें अध्याय के रूप में इस कल्पसूत्र को बनाया है। इसके अन्दर परमात्मा महावीर का आदर्श जीवन-चरित्र विस्तार से आता है। इसके सिवाय श्रीपार्श्वनाथ आदि का भी जीवनचरित्र संक्षेप से आता है "तेणं कालेणं तेणं समएणं उसमेणं अरहाकोसलिए चउउत्तरासाढे अभीइ पंचमे होत्था" ॥ सूत्र २०४ पृष्ठ २२१ से सूत्र २२८ पृष्ठ २४५ तक भगवान् श्रीऋषभदेव का जीवन-चरित्र इसमें आता है। श्रीविनय विजयोपाध्याय जी की रचित सुबोधिका टीका† के साथ यह कल्प सूत्र श्रीआत्मानन्द सभा भावनगर से सन् १९१५ में प्रकाशित हुआ है। इसकी टीका में भी भगवान् श्रीऋषभदेव का जीवन-चरित्र विस्तार से और सुन्दररीत्या आता है। नीचे लिखे हुए सूत्रों में और पृष्ठों में नीचे लिखा हुआ वृत्तान्त आता है :—

सूत्र संख्या	पृष्ठ संख्या	विषय
सूत्र २०४से २०९तक	पृष्ठ २२१से २३१ तक	श्रीऋषभदेव भगवान का च्यवन (गर्भ में आना), जन्मोत्सव।
„ २१०	„ २३१ से२३२ „	भगवान् के ऋषभादि पाँच नाम।
„ २११ से२१२ „	„ २३३ से २४० „	कुमारावस्था, पुरुषों को ७२ और स्त्रियों को ६४ कलाओं का उपदेश, राज्याभिषेक, दीक्षोत्सव, भगवान् की चर्या, केवलज्ञान।
„ २१३ से २२८ „	„ २४० से २४५ „	भगवान् के गणधर-साधु-श्रावक-श्राविकादि की संख्या, कुमारावास, राज्यपरिभोगादि के काल की संख्या, मोक्ष, युगान्तभूम्यादि, श्रीऋषभदेव और श्रीमहावीर के तथा आगम लेखन-काल में काल के अन्तर की संख्या।

श्रीआवश्यक सूत्र का भाष्य (प्रथम भाग)

यह भाष्य श्रीभद्रबाहु स्वामी के पहले का होना चाहिये, पहले लिखी हुई आवश्यक निर्युक्ति से यह भिन्न है। श्रीआगमोदय-समिति सूरत द्वारा यह ई० सन् १९१६ में प्रकाशित हुआ है। यह भाष्य निर्युक्ति और श्रीहरिभद्रसूरी की टीका के साथ छपा है। इसके अन्दर श्रीमहावीर स्वामी के तीसरे भव का वर्णन करते हुए "चइऊण देव लोगा इहचेव य भारहंमी वासंमी इक्खागकुले जाओ उसमसुअसु-ओमरीइती" ॥ गाथा १४८ पृष्ठ १०१ से लेकर "सेसाणं उन्मुअयणं संवेगो नाण दीक्खाय ॥" गाथा ४३६ पृष्ठ १६१ तक विस्तार से श्रीऋषभदेव का चरित्र आता है।

* संघ चतुर्दशपूर्वविद् युगप्रधान श्रीभद्रबाहु स्वामी दशाश्रुतस्कन्धस्याष्टमाध्ययनतया प्रत्याख्यानप्रवादाभिधाननवमपूर्वादुद्धृत्य कल्पसूत्रं रचितवान् ॥ सुबोधिका टीका पृष्ठ ८

† इसके ऊपर करीब ३० टीकायें संस्कृत में बनी हैं। और डॉ० याकोबी, तथा शुब्रिंग, आदि विद्वानों ने इसका अङ्ग्रेजी तथा जर्मन आदि भाषाओं में अनुवाद भी किया है।

इसके अलावा भगवती आदि सूत्र और उन पर भिन्न भिन्न भाष्य टीकाओं में श्रीऋषभदेव का चरित्र आता होगा परन्तु अपनी आँखों से देखे बिना नियत स्थानादि मैं कैसे लिख सकता हूं।

आगमों से भिन्न ग्रन्थ

आगमों से भिन्न ग्रन्थों के मैं पाँच भाग करता हूं, जिनमें भगवान् श्रीऋषभदेव के नामादि का उल्लेख आता है।

१ किसी विषय के ग्रन्थ में मंगलाचरण के तौर पर श्रीऋषभदेव का नाम तथा स्तुति हो। जैसे श्रीहेमचन्द्राचार्य के मुख्य शिष्य महान् नाट्यशास्त्रज्ञ श्रीरामचन्द्र-रचित 'सत्यहरिश्चन्द्र नाटक' परम श्रावक वाग्भट्टकृत 'वाग्भटालंकार' 'विजयशप्रस्त्यादि'।

२ जो ऋषभदेव-विषयक स्तोत्र स्तुति तथा महात्म्य वाले हों जैसे :— मानतुंग सूरिकृत 'भक्तामर'; महाकवि धनपाल की 'ऋषभपंचाशिका' इत्यादि।

३ जो आगम शैली के ग्रन्थ या टीकायें हों, जैसे 'प्रवचनसारोद्धार', कल्पसूत्रादि की सभी टीकाएँ विशेषावश्यभाष्य आदि।

४ जो रस और अतिशयोक्ति उपमा प्रभृति अलंकारादि काव्य गुणों से भरी हुई वर्णनशैली के काव्य हों, जैसे 'जैनकुमारसम्भव' नाभेयद्विसन्धान आदि।

५ जो ग्रन्थ ऋषभदेव-विषयक छोटी से लेकर बड़ी ऐतिहासिक बातों को रसमयी भाषा में प्रकट करने वाले हों। जैसे त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित्र आदि।

इन पाँच प्रकार के ग्रन्थों में से भगवान् की जीवनी लिखने के लिये आखीर के तीन प्रकार के ग्रन्थ ही विशेष उपयुक्त हो सकते हैं, इसी लिये इनके विषय में कुछ परिचय देना उचित होगा। इन ग्रन्थों की पृष्ठ विषयादि की सूची लेख की काया दीर्घ हो जाने के भय से मैं नहीं दूंगा।

प्रवचनसारोद्धार

प्रवचन यानी आगम उनका सार, यह ग्रन्थ आगम नहीं है परन्तु भिन्न भिन्न आगमों में आने वाले भिन्न भिन्न द्वारों (विषयों) का इस ग्रन्थ में प्राकृत भाषा में संग्रह किया है। बारमी शताब्दी के श्रीनेमिचन्द्रसूरि ने इस ग्रन्थ को लिखा है। इसके ऊपर प्रौढ विद्वान् श्री सिद्धसेनसूरि ने संस्कृत में विस्तृत टीका लिखी है। प्रस्तुत टीकायुक्त यह ग्रन्थ श्रीयुत देवचंदलाल भाई जैन पुस्तकोद्धार-फंड, सूरत से ई० सन् १९२२ में प्रकाशित हुआ है। इसमें चैत्यवन्दनादि २७६ द्वार (विषय-प्रकरण) हैं; जिसमें द्वार पृष्ठ नं० ८२ से लेकर सब तीर्थंकरों के आदि गणधर, आदि साध्वी वगैरों के नाम विषय (द्वार) नं० ३६ पृष्ठ नं० १०० तक आते हैं।

जैनकुमार-सम्भव

इस ग्रन्थ के कर्त्ता महाकवि श्री जयशेखर सूरि हैं। इस ग्रन्थ का नाम देने में कालिदास का अनुकरण है और कुमारसम्भव की तरह इसकी रचना भी कोमल एवं प्रौढ है, परन्तु श्रृङ्गार-बहुल वर्णन इसमें नहीं है। यह ग्रन्थ महाकाव्य की शैली का होने से रघुवंशादि की तरह, यमक, उदात्त, उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि आलंकारिक श्लोकों से भरा हुआ है। इसमें अयोध्या के तथा श्रीऋषभदेव भगवान् के जन्म आदि का काव्यदृष्टि से वर्णन किया है। श्रावक भीमसिंह माणेक बंबई वाले ने इसको गुजराती अनुवादसहित प्रकाशित किया है। इसका आदिम श्लोक यह है—

> अस्त्युत्तरस्यां दिशि कोशलेति, पुरी परीता परमर्धिलोकैः।
> निवेशयामास पुरः प्रियायाः, स्वस्या वयस्यामिव यां धनेशः ॥१॥

अलंकार

> संपन्नकामा नयनाभिरामाः, सदैव जीवत्प्रसवा अवामाः।
> यत्रोज्झितान्यप्रमदावलोका अदृष्टशोका न्यविशंत लोकाः ॥२॥ (जैनकुमार-सम्भव)

त्रिषष्ठिशलाका-पुरुषचरित

बारमी शताब्दी के सर्व-विद्या-विशारद श्रीहेमचन्द्रसूरि ने कालिदास जैसी अपनी प्रासादिक प्रौढ कविता में त्रिषष्ठिशलाका-पुरुष-चरित्र को पद्यबद्ध बनाया है। इसमें २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव और ९ बलदेव इन ६३ शलाका (उत्तम) पुरुषों के विस्तार से पूरे चरित्र हैं। अतएव इसका यथागुण नाम है, इस ग्रन्थ में सारा जैन इतिहास तथा तत्वज्ञान आ जाता है। यह ग्रन्थ करीब ३६००० श्लोक का है। इसके दश पर्व (भाग) पाड़े हैं। प्रथम पर्व में परमात्मा श्रीऋषभदेव तथा भरत चक्रवर्ती आदि की जीवनी विस्तार से करीब ५००० हजार श्लोकों में लिखी है। प्रथम पर्व के ६ सर्ग हैं। पहिले सर्ग में भगवान् के १२ पूर्व भवों का वर्णन, दूसरे में कुलकरों का वृत्तान्त, जन्मोत्सवादि, तीसरे में दीक्षामहोत्सव, केवलज्ञान, तीर्थप्रवर्तनादि का वर्णन, चौथे सर्ग में भरत चक्रवर्ती का दिग्विजय, भगवान् के ९० पुत्रों की दीक्षा आदि का वर्णन, पाँचवें में भरत बाहुबलि के युद्ध का वर्णन और छठ्ठे सर्ग में कैवल्यावस्था में भगवान् का विहार, अष्टापद ऊपर निर्वाणोत्सव, भरत का केवल ज्ञान आदि का वर्णन आता है। यह मूल ग्रन्थ श्रीजैनधर्म प्रसारक-सभा भावनगर से पूरा प्रकट हुआ है। इसके प्रथम सर्ग का इंग्लीश अनुवाद डा० प्रो० बनारसीदास जैन एम० ए०, ने किया है जो Jain Jataks के नाम से मोतीलाल बनारसीदास ने अपने The Punjab sanskrit depot Lahore से सन् १९२५ में प्रकट किया है। इसके परिशिष्ट पर्व का इंग्लीश और जर्मन अनुवाद छप चुका है और डा० मिस् जोन्सन (अमेरिकन विदुषी)

ने इसका इंग्लीश अनुवाद शुरू से करने का काम उठाया है, इसी लिये शिवपुरी में करीब छः महीने रह कर इसने मुनिराजों के पास एतद्विषयक अभ्यास किया था। सारे ग्रन्थ का गुजराती अनुवाद दो जगह से हुआ है—कुछ भाग का हिन्दी अनुवाद भी हुआ है। वर्तमान में उपलब्ध ऋषभचरित्रों की अपेक्षा इसमें विस्तार से चरित्र लिखा है। तुलनात्मक दृष्टि से श्रीजिनसेनाचार्य का महापुराण इसकी पद्धति का ग्रन्थ कहा जा सकता है। इसके अलावा भगवान् के चरित्र-विषयक हस्तलिखित ग्रन्थों के नाम और स्थान नीचे लिखे जाते हैं।

ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकर्ता	प्राप्तिस्थान
नाभेय नेमि द्विसन्धान-काव्य	श्रीहेमचन्द्राचार्य	पाटण प्राचीन भंडार नं०१,फवरीवाड़ा, पाटण
नाभिनन्दनोद्धार-प्रबन्ध	......	डेलाका भंडार अहमदाबाद
ऋषभोल्लास-काव्य	......	डेला का भंडार अहमदाबाद
भरतबाहुबलि-काव्य	......	श्रीविजयधर्म लक्ष्मी ज्ञान-मंदिर आगरा
बाहुबलिचरित्र	......	जैसलमेर (मारवाड़)
भरतचरित्र (प्राकृत)	......	डेक्कन कोलेज पूना
श्री[1] आदिनाथ-चरित्र (प्राकृत)	श्रीवर्द्धमान सूरि	

जैनेतर ग्रन्थ में ऋग्वेद, यजुर्वेद, महाभारत, मत्स्यपुराण, विष्णुपुराण, शिक्षात्रयी, न्यायबिन्दु प्रभृति में भगवान् श्री ऋषभदेव के सम्बन्ध में स्तुति अथवा नामोल्लेख आता है। भागवत में तो मैंने सब से ज्यादा देखा। पाँच वें स्कन्ध में अध्याय तीसरे (३) से लेकर नवमें (९) अध्याय तक श्रीऋषभदेव का तथा भरतका चरित्र है। इसके अतिरिक्त और भी बहुत श्वेताम्बर[2] जैन और जैनेतर ग्रन्थों में भगवान् के सम्बन्ध में बहुत कुछ आता होगा। एतद्विषयक विद्वानों से मेरी प्रार्थना है कि वे लोग अपने ज्ञान का लाभ जनता को दें। जो विद्वान् वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, पुराण व अन्य प्राचीन साहित्य का अध्ययन व अवलोकन करें, उन्हें उक्त प्रकार के उल्लेख नोट कर के प्रकाशित कर देना चाहिये।

नोट—१ बृहट्टिपनिका नामक प्राचीन प्रामाणिक सूची में इस ग्रन्थ का नाम है, जो जैन साहित्य-संशोधक भाग १ के दूसरे अंक में छपी है। २ यद्यपि मैं श्वेताम्बर दिगंबरादि भेदकारी नाम लिखना पसन्द नहीं करता हूं किन्तु प्रस्तुत लेख श्वेताम्बर ग्रन्थों के विषय में लिखा होने से यहाँ पर बारबार यह शब्द मजबूरन लिखना ही पड़ता है।



सिलार रट्टराज का नया शिलालेख और जैनधर्म

(ले०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन)

जैनधर्म क्षत्रियों का धर्म है। उसका प्रतिपादन और विकास क्षत्रियों द्वारा हुआ है। क्षत्रिय वंश के बड़े बड़े राजा और महाराजाओं ने उसकी शांतिकारिणी शरण में रह कर अपने नाम को अमर किया है। ऐतिहासिक काल के प्रसिद्ध सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य, ऐलखारवेल, अमोघवर्ष, कुमारपाल आदि भारतीय राजा जैनधर्मानुयायी थे और वे आज अपनी किसी न किसी विशेषता के कारण भारतीय इतिहास में अनुपम हैं। दसवीं शताब्दी में दिगम्बर जैनधर्म का प्रचार दक्षिण भारत में अच्छे पैमाने पर था। दक्षिण भारत में तब राष्ट्रकूट वंश के राजाओं की प्रधानता थी और उनको जैनधर्म से प्रेम था। दिगम्बर जैन मुनिजन राज्याश्रय को पाकर निश्चिन्तता-पूर्वक अहिंसामय धर्म का प्रचार तब कर रहे थे। किन्तु जैनधर्म का यह अभ्युदय पड़ोस के शैव लोगों को अखर गया और पारस्परिक ईर्ष्या-कलह का युद्ध छिड़ गया। ऐसे ही समय में एक सिलार वंश के राजा, जैनधर्म-भुक्त हुए थे। वह पहले शैव थे। इतिहास भी कल त कउन्हें शैव मान रहा था। किन्तु उनके नवीन लेखों के प्रकाश में आने से इस धर्मपरिवर्तन का पता चल गया है यह राजा वलिपट्टन के रट्टराज थे।

सिलार रट्टराज के तीन ताम्रपत्र मिले हैं, जिनमें से एक पर दोनों ओर लेख अङ्कित है। ये ताम्रपत्र कहाँ से मिले, इसका पता नहीं चलता। हाँ, यह स्व० प्रो० एस० आर० भाण्डारकर के पास थे और अब उनके भाई प्रो० डी० आर० भाण्डारकर ने उनको श्रीयुत हारणचन्द्र चकलादार को दे दिया है। चकलादार महाशय ने उनको पढ़ लिया है और उनका परिचय एक लेख-द्वारा कराया है। यह लेख कलकत्ते के 'इण्डियन हिस्टॉरीकल क्वार्टर्ली' नामक पत्र में (भाग ४ पृ० २०३—२२९) प्रकट हुआ है। उसी का सारांश धन्यवादपूर्वक पाठकों के अवलोकनार्थ यहां उपस्थित किया जाता है।

उपलब्ध लेख में सिलार महामण्डलीक रट्टराज के भूमिदान का उल्लेख है। यह राजा दक्षिण कोङ्कण देश के सिलारवंश से सम्बन्धित था। इसका एक पूर्व-लेख खारेपाटन से पहले मिला था, जिसे प्रो० कीलहॉर्न ने 'इपीग्रेफिया इन्डिका (भा० ३ पृष्ठ २९२) में प्रकट किया था। वह शक संवत् ९३० का है और प्रस्तुत लेख, अर्थात् जो प्रो० भाण्डारकर को मिला था अथ च जिसका उल्लेख यहाँ हो रहा है, उस पर शक सं० ९३२

अङ्कित है। इसलिये दोनों लेखों में केवल दो वर्ष का अन्तर है। दोनों लेखों के लेखक भी लौकपार्य नामक सज्जन हैं। वह सन्धिविग्रहिक-मंत्री देवपालके पुत्र थे। दोनों में साद्दश्य भी खूब है, परन्तु विलक्षणता भी कुछ कम नहीं है।

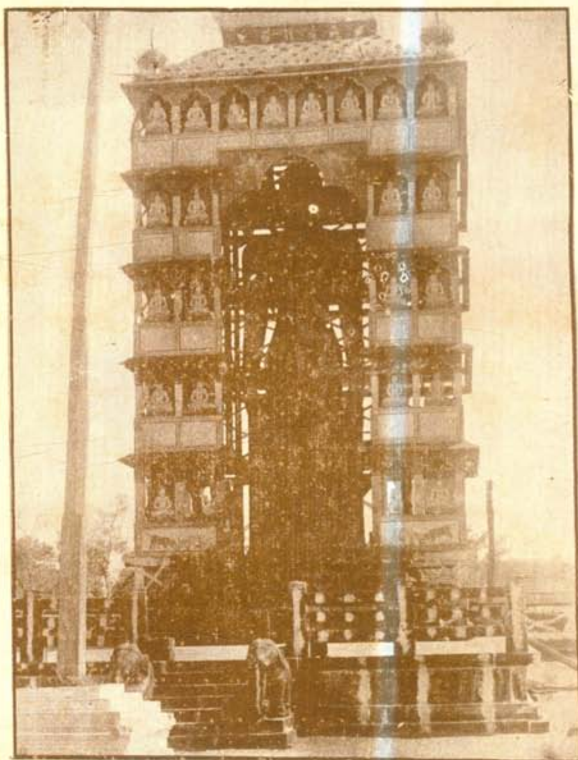
प्रस्तुत लेख का आरम्भ 'स्वस्ति' शब्द से होता है और मंगलाचरण के बाद ४—३२ पंक्तियों में रट्टराज के वंश का परिचय है, जो खारेपाटन के लेख के समान है। उससे इसमें कोई खास विशेषता है तो वह स्वयं रट्टराज के सम्बन्ध में है। इन दो वर्षों के अन्तर में उसके धर्मपरिवर्तन के साथ साथ राज्योत्कर्ष भी हो गया था। प्रस्तुत लेख के मंगलाचरण में एक उदारभाव स्पष्ट है। इसमें किसी खास देवता का स्तवन नहीं किया गया है। इसके प्रतिकूल खारेपाटन के लेख में स्पष्टतः 'ॐ नमः शिवाय' लिखा है। इस लेख में ब्राह्मणों का उल्लेख सामान्यरूप से किया गया है—गोत्र आदि लिखने की आवश्यकता नहीं समझी गई है। यद्यपि दान ब्राह्मणों के प्रति किया गया है, परन्तु किसी धार्मिक कार्य के लिये नहीं। इन सब बातों से रट्टराज के धार्मिक श्रद्धान में पड़ा हुआ अन्तर स्पष्ट है। मालूम होता है कि उसका विश्वास जैनधर्म के प्रति हो गया था, क्योंकि लेख का प्रारंभ 'स्वस्ति' शब्द से किया गया है, जैसे कि जैन लेखों में अक्सर होता है। इतने पर भी यद्यपि रट्टराज का अनुराग जैनमत की ओर हो गया था, परन्तु वह अपनी बहुसंख्यक ब्राह्मण-धर्मानुयायी प्रजा का दिल नहीं दुखाना चाहता था। इसीलिये उसने मंगलाचरण में किसी खास देवता का स्मरण नहीं किया है।*

रट्टराज के समय में दक्षिण भारत में जैनमुनियों द्वारा धर्मप्रचार खूब हो रहा था। राष्ट्रकूट वंश के राज्यकाल में जैनधर्म का सूर्य मध्याह्न में था। और सिलारवंश के राजा राष्ट्रकूटों के करद थे। जैनाचार्य श्रीसमन्तभद्र जी ने सिलारवंशी की एक दूसरी शाखा की राजधानी करहाड़ (Karhad) में पहुंच कर वहां के राजा को सम्बोधन किया था। इस आशय के दो श्लोक श्रवणबेलगोल की मल्लिषेण-प्रशस्ति में अङ्कित हैं।† राष्ट्रकूटों में

* लेख में श्लोक के प्रारंभिक शब्द स्पष्ट प्रकट नहीं होते और वर्तमान रूप में जैसे वे पढ़े गये हैं, उनसे उनकी व्याकरण की असम्बद्धता प्रकट है। सम्भव है, कि यहां वीतरागदेव का स्पष्ट उल्लेख हुआ हो।—अनु०

† इपी० इन्डिका, ३ पृष्ठ १८६ :—

'पूर्व्वं पाटलिपुत्र—मध्यनगरे भेरी मया ताड़िता,
पश्चान्मालव—सिन्धु—ठक्क—विषये काञ्चीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं सङ्कटं।
वादार्थी विचराम्यहन्नरपते शार्दूल-विक्रीड़ितं ॥७॥ इत्यादि।



कारकल के गोम्मटेश्वर
(दक्षिण भारतीय कला)

सम्राट् अमोघवर्ष जैनधर्म के एक महान् संरक्षक थे। उनका लगभग सन् ८१४—८७८ तक चौंसठ वर्ष का विस्तृत राज्यकाल था और इस बड़े राज्यकाल में जैनधर्म का चारो ओर खासा प्रचार हुआ था। राष्ट्रकूटों के पश्चात् चालुक्यों का अभ्युदय हुआ। रट्टराज का सम्बन्ध इनसे भी था। चौलुक्य अभ्युदय के प्रारंभिक काल में जैनधर्म का उत्कर्ष अक्षुण्ण बना रहा। (बम्बई गैजेटियर भाग १ खण्ड २ पृष्ठ २०८) किन्तु पूर्वोक्त ताम्रलेख के लिखे जाने के समय दक्षिण भारत के जैनों और शैवों में पारस्परिक स्पर्द्धा खूब चल निकली थी। चालुक्य जयसिंह द्वितीय सन् १०१८ में राज्याधिकारी हुए थे और वह पहले जैन थे। किन्तु अपनी पत्नी सुग्गलदेवी के प्रयत्न से वह शैव धर्मानुयायी हो गए थे। इतने पर भी कोल्हापुर में राज्य करनेवाले सिलारवंश की शाखा के राजाओं में जैनधर्म का विशेष प्रभाव कार्यकारी था।‡ सर्वोपरि जिस दक्षिणी मराठा प्रदेश में रट्टराज का राज्य था, वहां आजतक जैनधर्म का खूब प्रचार है।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि रट्टराज का जैनत्व उसके प्रस्तुत ताम्रलेख से स्पष्ट है, क्योंकि उसमें बिना किसी 'प्रणव' के केवल 'स्वस्ति' शब्द से ही—एक जैन ढंग पर उसका प्रारंभ हुआ है। जैन लेखों के प्रारम्भ में 'श्री' शब्द भी मिलता है, जैसे कि विजयादित्य के कोल्हापुर वाले लेख में है। (इपी० इन्डिका, भाग ३, पृष्ठ २०९) तिसपर यह भी संभव है कि जिन पाँच बड़े मठों के प्रति रट्टराज ने सम्बोधन किया है, उनमें से कोई जैन हों। (पञ्चमहामठ§ स्थान नगर हञ्जमान प्रधानामात्यवर्गः संविदितः।—पंक्ति३५) अतः उपर्युक्त बातों का लिहाज रखते हुए रट्टराज को उपर्युक्त ताम्रलेख लिखते समय जैनधर्मानुयायी हुआ, मानना अनुचित नहीं है।

रट्टराज के धर्मपरिवर्तन के साथ साथ उसके राज्याधिकार में भी अन्तर पड़ा था। खारेपाटन के अपने लेख में उसने राष्ट्रकूटवंशी राजाओं को मान्यता दी है; परन्तु उपरान्त में उनका स्थान चालुक्य तैलप को मिल गया है। चालुक्य तैलप ने राष्ट्रकूटों को परास्त कर दिया था। तैलप् के बाद उसका पुत्र सत्याश्रय राजा हुआ था और रट्टराज ने अपने को उसका करद लिखा है। (परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री सत्याश्रयदेवानुध्यात-मण्डलीकश्रीरट्टराज) किन्तु प्रस्तुत लेख में किसी के राज्याश्रय स्वीकार करने का उल्लेख नहीं है। रट्टराज का स्वयं अपना राज्य हो गया था और उसी राज्य के अन्तर्गत यह लेख लिखा गया था। (श्री रट्टार्यराजराज्ये) इससे स्पष्ट है कि रट्टराज ने चालुक्यों

‡ जर्नल ऑफ बम्बई ब्रांच ऑफ दी रायल ऐशियाटिक सो० भा० १३ पृष्ठ १७ व इण्डियन ऐण्टीक्वेरी भाग १२ पृ० १०२।

§ दक्षिण महाराष्ट्र देश में जैनों के पाँच मठों का अस्तित्व मिलता है।

की गुलामी का पट्टा उतार कर फेंक दिया था और वह एक स्वाधीन शासक बन बैठा था ? पश्चिमी चालुक्यों का तत्कालीन (शक सं० ६३०-६३२) इतिहास उसके संपूर्ण इस साहसी कर्म का रहस्य उघाड़ देता है। उससे प्रकट है कि सन् ६३० में राजराज केशरीवर्मन् ने सत्याश्रय को परास्त कर दिया था। किन्तु इतने पर ही इस युद्ध का अन्त न हो गया। पराजित सत्याश्रय पर राजकेशरीवर्मन् के उत्तराधिकारी राजेन्द्र चोलदेव ने भी धावा बोल दिया। इस लड़ाई में उसने सत्याश्रय के राज्य को तबाह कर दिया था। बच्चों, अबलाओं और ब्राह्मणों को तलवार के घाट उतारा था। इतने पर भी सत्याश्रय ने चोलों को सन् १००७ (शक सं० ६३०) में रणक्षेत्र से भगा मारा था। इस प्रकार यद्यपि सत्याश्रय ने अपने देश को शत्रुओं से रहित कर दिया था, परन्तु वह अधिक समय तक न जिया जो अपने राज्य की नींव सुदृढ़ कर पाता। और उसके उत्तराधिकारी भी अयोग्य निकले। इस परिस्थिति से रट्टराज ने लाभ उठाया और वह स्वाधीन शासक बन गया। स्वाधीनता भला किसे प्रिय नहीं है ? अब वह 'महामण्डलीक' कहलाने लगा था; उनका सन्धिविग्रहिक मंत्री देवपाल अब 'महाश्री' की उपाधि से विभूषित हो गया था। अतः रट्टराज का राज्याभ्युदय भी स्पष्ट है।

रट्टराज की राजधानी बलिपट्टन नामक महादुर्ग था; जिसकी स्थापना उसके पूर्वज धम्मियर ने की थी। वह समुद्रतट पर कहीं थी। उपरान्त इस पर उत्तरकोङ्कण के सिलार वंशी राजाओं का अधिकार हो गया था। प्रस्तुत लेख का पूर्वांश इस प्रकार है :—

१ "स्वस्ति (॥) श्रीर्=अपि विपुल=आसाद्=अभिम—
२ त—देवता—प्रसादेन। संसार—सा—
३ र—धर्म्म—क्रियावतां प्राणिनां स—
४ ततम्॥ आसीद्=विद्याधर=आधीसो
५ गरुत्मद्=दत्तजीवितः (।) जीमूतकेतोः स—
६ त्पुत्रो नाम्ना जीमूतवाहनः॥ ततः
७ सिलार—वंशो=भूत् सिहल—क्षमाभृतां वरः
८ —। प्रभूत—भूत—सौभाग्य-भाग्यवांस्=तत्र च=ओ—
९ र्जितः॥ नाम्ना सणफुल्लः ख्यातः कृ—
१० —ष्णराज—प्रसादवान्। समुद्र—तीर—सह्या—
११ —द्देश—संसाधको नृपः॥ तत्सुतो धर्म्मे—
१२ —व=आभून्=नाम्ना धम्मियरः परः॥ प्रता—
१३ —पवान्=महादुर्ग—बलिपट्टन कृत् कृती
१४ । तस्माद्=ऐयपराजो=भूद्=विजिगीषु—
१५ —र्=गुणान्वितः। भ्रातर=चन्द्रपुर—आसन्न—ना—

१६ –लिकेराम्बुना स यः ॥ बाभूव=आव (स) रसन्त—
१७ –स्मान्=नीति—शास्त्रार्थ—तत्त्ववित् । एक—मे—
१८ –त्र—प्रलआरि—काण्डश्=चन्ड—पराक्रमः ॥
१९ आदित्यवर्मा पुत्रो=भूत्=तेजस=आदित्यव—
२० –त्=ततः । तस्माद्=अवसर—आर्या भू=(ज्) जितारि—
२१ –र्=धर्म्मवान्=नृपः ॥ चेमुलय—चन्द्रपुर—ज—
२२ क्षमा—भृत्—साहाय्य—कारकात् । ततो=भू—
२३ –द्=इन्द्र (रा) (ज) स=त्याग=भोगवान्=अतिसुन्दरः ॥

दूसरे ताम्रपत्र पर :—

२४ (त) स्मात्=प्रभूतभाग्यो=भूद्=भी (मो) भी
२५ माभ—विक्रमः । तेजसा राह्व (व)
२६ व्=ग्रस्त—चन्द्रमण्डल—उज्ज्वलः=॥ त—
२७ –तश्=च्=आवसरो राजा जातो=तीव (व)
२८ विवेकवान् । प्राज्ञः प्राज्ञः पटुः
२९ सू (शू) रो धीरः परमरूपवान् । रट्ट—
३० –नाम्=आभवत्=तस्माद्=राजा पुण्यवतां व—
३१ –रः । नीतिज्ञो नीतिशास्त्र=आर्थ—वृद्ध—
३२ –सेवी जितेन्द्रियः ॥ तस्य महामण्ड—
३३ –लीक—श्री—रट्टार्य—राज—राज्ये । चन्द्रा=
३४ –र्क—प्रवर्द्धमाने पूज्ये श्री वलिपट्ट—
३५ ने ॥ पञ्चमहामठस्थान नगर ह—
३६ –जमान—प्रधानामात्य—वर्गाः संवि—
३७ –दितं (तः) ॥ शक नृप—काल—अतीत—सं—
३८ –वत्सर नवशतेषु, द्वात्रिंशद=अधि—
३९ –केश्व=अङ्कतो=पि ९३२ साधारण—स—
४० (म्व) त्सर=आंतर्गत—पुष्य—बहुल—प्रति—
४१ –पदिरवि—वारे उत्तरायण—संक्रा—
४२ –न्तौ समस्त—राज=आवली—समलङ्कृ—
४३ तः (त) श्री रट्टराजेन स्व हस्तेन हस्त—ओ—
४४ दकं कृत्वा ब्रा (ब्रा) ह्मण—सेनावई—नाग—
४५ –मैय—सुत—सङ्कमयैस्य कल्वाल—
४६ भक—ग्रामाद्=वेङ्गणाद्येन—इत्यादि…"

गत प्रथम एवं द्वितीय किरणों में प्रकाशित अपने लेखों के विषय में कुछ विशेष वक्तव्य

(ले०—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

भास्कर की १म किरण में प्रकाशित "नीतिवाक्यामृत और कन्नड़ कवि नेमिनाथ" तथा २य किरण में प्रकाशित "विदुषी पम्पादेवी" इन लेखों के बारे में मुझे इधर जो विशेष बातें मालूम हुई हैं उन्हें मैं नीचे उद्धृत किये देता हूँ, जिससे ऐतिहासिक विज्ञ-पाठकों की भ्रम-निवृत्ति हो। बल्कि इन विशेष बातों का संकेत मुझे सुहृद्वर विद्वान् महामहोपाध्याय, रायबहादुर नरसिंहाचार्य, एम० ए० ने किया है, अतः मैं आपका अनुगृहीत हूँ:—

(१) ई० सन् ११४८ में समाधिशतक की टीका लिखनेवाले मेघचन्द्र और ई० सन् १११५ में स्वर्गस्थ मेघचन्द्र ये दोनों भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं। एक दूसरे का पारस्परिक कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं ने जो इन्हें अभिन्न समझ रक्खा था वह पंडित नाथूराम प्रेमी जी-द्वारा लिखित 'आचारसार' के "निवेदन" के आधार पर। इसी प्रकार "शुभचन्द्र" को मैंने जो मेघचन्द्र का शिष्य लिखा, है इसका आधार भी प्रेमी जी का वही उक्त "निवेदन" है। वास्तव में शुभचन्द्र मेघचन्द्र के शिष्य नहीं हैं। साथ ही साथ शुभचन्द्र और मेघचन्द्र के शिष्य प्रभाचन्द्र का स्वर्गारोहण-समय श्रवणबेलगोल के ११७वें एवं १४०वें शिलालेखों से क्रमशः ई० सन् ११२३ और ई० सन् ११४५ प्रमाणित होता है।

(२) उक्त माननीय विद्वान् के संकेत करने एवं ग्रन्थान्त के गद्य के पुनरवलोकन से मुझे भी विश्वास हो गया है कि नेमिनाथ वीरनन्दी (मेघचन्द्र के शिष्य) का ही शिष्य है। किन्तु मेरे उक्त लेख में यह बात शब्द-प्रतिपाद्य नहीं थी। क्योंकि वहाँ मैंने लिखा है कि "इन्होंने (नेमिनाथ ने) ग्रन्थ के आदि और अन्त में मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव एवं वीरनन्दी सिद्धान्त-चक्रवर्त्ती को बड़ी श्रद्धा से स्मरण किया है।"

(३) नेमिनाथ के द्वारा स्मरण किये हुए माघनन्दी भट्टारक नयकीर्ति के शिष्य हैं न कि भानुकीर्त्ति के। (श्रवणबेलगोल के नं० ६६, पंक्ति १२०—१) साथ ही साथ शास्त्रसार के कर्त्ता माघनन्दी कुमुदचन्द्र के शिष्य हैं, इनका काल लगभग ई० सन् १२८२ है। (श्रवणबेलगोल ३४३)

(१) दूसरी किरण में प्रकाशित "विदुषी पम्पादेवी" यह लेख ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी के द्वारा संपादित "मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक" के आधार पर लिखा

गया था। नगर के ३७वें शिलालेख के अनुवाद की ब्रह्मचारीजी की पंक्तियाँ यों हैं :—

"पम्पादेवी महापुराण में विदुषी थी। यह इतनी विद्या-सम्पन्न थी कि इसे शासन-देवता कहते थे।" ....

"पम्पा देवी ने अष्टविधार्चना महाभिषेक और चतुर्भक्ति रची।" ब्रह्मचारी जी ने इन पंक्तियों से पम्पादेवी को विदुषी एवं ग्रन्थकर्त्री सिद्ध किया है। किन्तु उक्त शिलालेख (ई० सन् ११४७) से अष्टविधार्चना महाभिषेक और चतुर्भक्ति ग्रन्थ सिद्ध न होकर सेवाएं सिद्ध होती हैं। साथ ही साथ "नूतनातिमब्बे" का सम्बन्ध आपने जो पुत्री बाचलदेवी के साथ माना है वह माता पम्पादेवी से ही समन्वित सिद्ध होता है।

(२) विक्रम सान्तर की "त्रिभुवन-दानी" यह पद उल्लिखित नगर के शिलालेख (पं० ६३—४) से उपाधि सिद्ध होता है जिसे हमने ब्रह्मचारी जी के अनुवाद के आधार पर "विक्रमसान्तर महादानी रहा; इसी लिये यह जगदेक दानी भी कहलाता था" यों लिखा है।

(३) ब्रह्मचारी जी के म० व मै० प्रा० प्रा० जै० स्मारक में सान्तर, चट्टल, बाचल ये शुद्ध रूप 'सान्तार', 'चत्तल' एवं 'बाञ्चल' इन अशुद्ध रूपों में परिवर्त्तित हो गये हैं, अतः मेरे लेख में भी ये ही अशुद्ध रूप ज्यों के त्यों रह गये हैं।

(४) मैंने जो अपने लेख में वादीभ-सिंह का समय ११ वीं शताब्दी लिखी है, वह सामान्य दृष्टि से। यों तो नगर के ४०वें और ३७वें शिलालेखों से इनका समय ११वीं शताब्दी का अन्त और १२वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध अनुमित होता है। साथ ही साथ तीर्थहल्लि तथा नगर के शिला-लेख में दी हुई परम्परा से यह भी निश्चित होता है कि वादीभ-सिंह वादीभ राज के बाद के थे।

(५) चोल राजाओं में प्रथम राज-राज ने ई० सन् ९८५ से ई० सन् १०१२ तक राज्य किया था। वादीभ-सिंह इनके समय में नहीं रहे होंगे। द्वितीय राजराज ने ई० सन् ११४६ से ई० सन् ११७८ तक शासन किया था। अतः इसी राज के शासनकाल के आरम्भ में वादीभ-सिंह रहे होंगे।

(६) तिरुत्तक देवर के "जीवक-चिन्तामणि" ग्रन्थ में यह नहीं लिखा हुआ है कि वादीभ के द्वारा रचे गये ग्रन्थ का शेष भाग मैंने पूर्ण किया। साथ ही साथ तमिलु विद्वानों ने तिरुत्तक देवर का समय ई० सन् १० वीं शताब्दी निश्चित किया है। इस समय-संकेत से भी सिद्ध हो जाता है कि १ शताब्दी पूर्व के यह तिरुत्तक देवर १ शताब्दी बाद के वादीभ सिंह के ग्रन्थ का भाषान्तर नहीं कर सकते हैं। इसलिये पं० शंभुशरण त्रिपाठी का "तिरुत्तक देवर ने अपने जीवक-चिन्तामणि में लिखा है कि वादीभ के द्वारा प्रारम्भ किये हुए इस ग्रन्थ के शेष भाग को हमने पूरा किया" यह कथन सर्वथा निर्मूल है जो कि हम को भी खटका था।

देवचन्द्रकृत राजावली कथा की विषय-सूची

यह 'राजावली कथा' एक ऐतिहासिक ग्रन्थ मानी जाती है। बल्कि कई ऐतिहासिक विद्वानों ने इसके प्रमाणभूत उद्धरणों से अपनी कृति को समलङ्कृत किया है। पर है यह कन्नड़ भाषा में। अतः हिन्दी भाषा-भाषी इतिहासवेत्ताओं की कुछ जानकारी के लिये यहाँ इस ग्रन्थ के अन्तर्गत विषयों की सूची मात्र दिये देता हूँ। अवकाशानुसार इस ग्रन्थ के अन्तर्गत बातों पर भी प्रकाश डालने की चेष्टा की जायगी।

—के० बी० शास्त्री

प्रथम प्रकरण

(१ से ६ पृष्ठ तक)

१ मङ्गलाचरण।

२ पाठक विद्वानों से इसकी स्वीकृति की प्रार्थना एवं त्रुटियों को सुधारने के लिये अनुरोध।

३ 'राजावली कथा' के नाम की सार्थकता का स्पष्टीकरण।

४ लोकस्वरूप।

५ कालव्यवस्था।

६ मनुओं का विषय, आदि ब्रह्म (ऋषभ तीर्थङ्कर) की उत्पत्ति, सृष्टि-विषय।

७ वर्णाश्रम-धर्म-विवरण।

८ राजवंशोत्पत्ति।

९ भरतचक्रवर्त्ती का दिग्विजय, बाहुबलि-युद्ध एवं दीक्षा-ग्रहण।

१० मरीचिदीक्षा, कपिल-सिद्धान्त की उत्पत्ति।

११ अक्षय-तृतीया इस नामकरण का हेतु।

१२ श्रावणी कर्म का आदि कारण।

१३ शिवरात्रि शब्द की चरितार्थता।

द्वितीय प्रकरण

(७ से १३ पृष्ठ तक)

१ द्वितीय चक्रवर्त्ती सगर के साठ हजार पुत्र और भगीरथ आदि की कथा।

२ अत्रि आदि ऋषियों के समय में कपिलादि के सिद्धान्तों का वाद-विवरण।

३ षड्दर्शन की उत्पत्ति एवं नैयायिक दर्शन-विषय।

४ कणाद, मीमांसा, जैमिनि, सांख्य इन दर्शनों का विषय।

५ बौद्ध एवं चार्वाक दर्शन का विषय।

६ विष्णु कुमार मुनि के द्वारा वामनावतार।

७ जमदग्नि परशुराम का विषय।

८ सुभौमचक्रवर्त्ति-कथा, सौरधर्म की उत्पत्ति तथा विनायक (गणेश) चतुर्थी का हेतु।

९ मल्लिकार्जुन-पूजा का कारण और त्रिदेव के श्रेष्ठत्व की चर्चा।

तृतीय प्रकरण

(१३ से १८ पृष्ठ तक)

१ कर कराडु की कथा, पत्थर में खुदे हुए सर्प की पूजा का कारण, वामी (सर्पबिल) में पूजा-रूप में दूध-घी देने और नाग-चौथ मनाने का हेतु।

२ अनरण्य की सभा में देवता-विषयक चर्चा।

३ क्षीर कदम्ब की कथा, महाकालासुर एवं पर्वतक के चलाये हुए यज्ञ की चर्चा।

४ राम-कथा।

५ शिशुपाल-कथा।

६ कृष्णजन्म।

७ कंसनिधन।

चतुर्थ प्रकरण

(१८ से ३० पृष्ठ तक)

१ जनमेजय राजा की कथा, चन्द्रवर्द्धन महाराज की सभा में सुघटित स्पर्द्धा-विषयक चर्चा।

२ श्रेणिक-कथा।

३ अभय कुमार का जन्म एवं उनका कार्य।

४ वर्द्धमान स्वामी की कथा।

पंचम प्रकरण

(३० से ४७ पृष्ठ तक)

षष्ठ प्रकरण

(४७ से ७० पृष्ठ तक)

सप्तम प्रकरण

(७० से ८६ पृष्ठ तक)

अष्टम प्रकरण

(८६ से ११७ पृष्ठ तक)

नवम प्रकरण

(११७ से १४० पृष्ठ तक)

दशम प्रकरण

(१४० से २०१ पृष्ठ तक)

एकादश प्रकरण

द्वादश प्रकरण

त्रयोदश प्रकरण

नोट—इस राजावली कथा की मैसूर राजकीय प्राच्यपुस्तकागार की संगृहीत प्रति से प्रतिलिपि कराई गई है। भवन की इस प्रति के प्रारंभ में जो विषय-सूची दी गयी है, यह उसी का अनुवादमात्र है।



बाहुबलि-शतक

[रचयिता और प्रकाशक महेशचन्द्र प्रसाद, एम० ए०, देवाश्रम आरा १९३९, कागज और छपाई अच्छे हैं, बाहुबलिस्वामी का सुन्दर चित्र भी है, मूल्य सिर्फ दो आना]

मैसूर राज्य के हासन जिले में स्थित श्रवणबेलगोल जैनियों का एक प्रमुख तीर्थ स्थान है। यहां के विन्ध्यगिरि पर खड्गासन विराजमान बाहुबलिस्वामी की मूर्ति अपनी विशालता और कारीगरी के लिये भारत के इतिहास में प्रसिद्ध है। इसके कलाकौशल की प्रशंसा बड़े बड़े विद्वानों और गुणग्राहकों ने की है। लेखक को इस स्थान के दर्शन करने का सुअवसर श्रीमान् चक्रेश्वरकुमार जी, आरा, के साथ मिला। मूर्ति के दर्शन से प्रभावित होकर उन्होंने प्रस्तुत काव्य को रचा है, तथा कृतज्ञता-पूर्वक उसे अपने उपकारी को ही समर्पित किया है।

प्रस्तुत-काव्य बाहुबलिस्वामी की उक्त मूर्ति की १०५ दोहों में स्तुति है। पहले पांच दोहों में मंगलाचरण के पश्चात् कवि ने क्रमशः श्रवणबेलगोला, मैसूर, उक्त मूर्ति, उसकी स्थिति, उसके रूप और फिर उसके शिर, केश, मुख, भाल, भृकुटी आदि प्रत्येक अङ्ग की शोभा का सुन्दर वर्णन किया है। शैली प्राचीन है। अर्थ-सौन्दर्य के साथ शब्दालंकार की ओर कवि का ध्यान विशेष रहा है। इसी से स्तुति में स्थान स्थान पर कुछ जटिलता आगई है। शब्दों के खेल के कुछ उदाहरण देखिये:—

मूर्ति के वर्णन में कवि कहते हैं:—

जग तें पाहुत होत जब, जग में पाहुन होत।
जग् तें पाहन होत जब, जग में पाहन होत ॥१०॥

मुख की हास्य-मुद्रा का वर्णन है:—

हास नहीं, उपहास यह, कली बली का मानु।
कली-कलेजे को कली, तोड़ी कली समानु ॥४०॥

इनका अर्थ समझने के लिये थोड़ी देर सिर खुजलाना पड़ता है। पर कहीं कहीं वैसा ही शब्द-सौन्दर्य अर्थ की सुगमता के साथ भी मिलता है जैसे—

नहीं धरा पर कछु धरा, भरा क्लेस निहसेस।
धीर धराधर पै खड़े, यहै देत उपदेस ॥४०॥

निम्न दोहे में 'जगत्कर्ता' का उल्लेख शायद जैनियों को कुछ खटके—

धनि धनि मूरत की कला ! धनि धनि मूरतकार।
जग-करता करतार है, तुम करता-करतार ॥७५॥

यद्यपि काव्यशैली प्राचीन है तथापि उस में रेडियम का प्रकाश और मोटर की दौड़ भी दिख रही है, यथा—

नासहु तम-अग्यान तुम, प्रग्या-प्रभा प्रकासि।
जन-हित जनु कोउ दिव्य-रुचि, रुचिर रेडियम-रास ॥८७॥
बना सर्वदा ही रहै, तब सनेह पेट्रोल।
जातें पहुँचै मोक्ष को, आतम-मोटर पोल ॥८८॥

(रचना अवलोकनीय है)

—हीरालाल,

RISABH-DEVA.

(THE FOUNDER OF JAINISM)

[Author, C. R. Jain, Bar-at-law; Publisher, Jain-Mitra-Mandal, Delhi, 1935, price -/4/-]

Barrister C. R. Jain is well-known as the author of many books on Jainism and comparative religion. He wrote a big volume on the life of the first prophet of Jainism, Lord Rishabhadeva, several years ago. The present book is on the same subject in a much smaller and handy size. In eleven short chapters is described in a lucid style the previous ten lives of of Rishabhadeva, his birth and childhood, his family and public life, his renunciation omniscience and his preaching mission. We have then a chapter on the sixteen deams of his son and royal succesor Bharat, who sensed through them the deterioration of the coming age. Then follows an account of the strength of Rishabha's spiritual followers and his Nirvana. The whole account is strictly in accordance with the Jaina Puranas. The book ends with the 'Last Word' contributed by Mr. Kamta Prasad Jain who has drawn attention to several references to Rishabha and other Tirthankaras of the Jainas in non-Jain literature beginning with the Vedic age. In the Foreword and the Introduction added by the author himself attention has been drawn to the place and importance of Rishabha deva in Jainism and his mention in the Hindu Puranas. There are two illustrations in the book-one of the statue of Rishabhadeva in one museum in Paris (France) and the other of the assembly of Rishabhdeva's devotees after his omniscience, as preserved in the Jaina Siddhanta Bhavan Arrah. The learned author has presented subject in a readable, interesting form and the book deserves to be widely read by those interested in the lives of the Great Teachers of humanity who have lived in the past.

H. L. Jain

ग्रन्थमाला-विभाग

प्रशस्ति-संग्रह

(सम्पादक—के० भुजबली शास्त्री)

(क्रमागत)

नेल्लूर के शक वर्ष १२२१ (खीस्ताब्द १२९९) के एक शासन में "तस्याग्रजः सुतो मन्व-गण्डगोपालभूपतिः। प्रतापरुद्रभूपस्य प्रसादार्जितवैभवः" ऐसा उल्लेख मिलता है। इससे इस मन्वभूप का समय खिस्त शक १२९९ सिद्ध होता है। अतः कवि अमृतनन्दी का काल भी खिस्त शक १३वीं शताब्दी का अन्तिम भाग ज्ञात होता है। यह कवि प्रतापरुद्र के आश्रय में प्रतापरुद्रीय ग्रन्थ के रचयिता विद्यानाथ के समकालीन होंगे या कुछ इधर के।"

इन उल्लिखित दोनों उद्धरणों से इस ग्रन्थ के रचयिता यही अमृतनन्दी हैं तथा इनका समय भी यही १३वीं शताब्दी है यह बात प्रमाणित होती है।

---

(१०) ग्रन्थ नं० २१३/ख

केवलज्ञानहोरा

कर्त्ता—चन्द्रसेनमुनि

विषय—ज्योतिष

भाषा—संस्कृत

लम्बाई—१३॥ इञ्च   चौड़ाई—८॥ इञ्च   पत्रसंख्या*—३७१

प्रारम्भिक भाग—

अनन्तविद्याविभवं जिनेन्द्रं निधाय नित्यं निरवद्यबोधम्।
स्वान्तेऽहमिन्दुप्रभमिन्द्रवन्द्यं वक्ष्ये परां केवलबोधहोराम् ॥१॥
होरा नाम महाविद्या वक्तव्यञ्च भवद्धितम्।
ज्योतिर्ज्ञानकलासारं भूषणं बुधपोषणम् ॥२॥

---

* बीच बीच में कुछ सादे पृष्ठ भी हैं।

केवलज्ञानहोरायाः चन्द्रसेनेन भाषितम् ।
परोपदेशिकं ग्रन्थं (?) मया सप्तशतं (?) कृतम् ॥३॥
आगमः (?) सदृशो जैनः चन्द्रसेनसमो मुनिः ।
केवली (?) सदृशी विद्या दुर्लभा सचराचरे ॥४॥
श्रीमत्पञ्च गुरूंश्चतुर्विधसुराधीशार्चितान् संस्तुतान्
चातुर्वर्णजन(?) चतुर्गतिभवक्लेशापहारानपि ।
तत्वान् सप्तवरैकवाक्यनिरतान् दोषद्वयध्वंसकान्
आचार्यांश्च (?) उपासकान्सुमनसा वन्दामहे दिग्ग्रहान् ॥५॥
तन्मात्रवेदाम्बुधिबाणशैलशम्यन्तिचन्द्राश्वभवे ध्रुवाङ्काः ।
प्राच्यादिदिक्षु प्रथिता मुनीन्द्रैर्नष्टादिविज्ञानविधौ विधेयाः ॥६॥

× × ×

मध्यभाग (पृष्ठ १८४ पंक्ति ५)

तन्मात्रवेदाम्बुधिकामशैलशतांगनेत्रक्षितयो दुतान्ताः (ध्रुवांङ्काः) ।
प्रागादिदिक्षु प्रथिता मुनीन्द्रैर्नष्टादिविज्ञानविधौ विधेयाः ॥
पृच्छकदिग्दशगुणितं प्रहरयुतं त्रिगुणितं त्रिंशत् ।

समेतं विग्रुव (?) संप्रश्नाक्षरयुतं । वसु ७ । हृतं । तच्छेषं १ । अवर्ग २ । चवर्ग ३ टवर्ग ४ । तवर्ग ५ । पवर्ग ६ । यवर्ग ७ । सवर्ग कवर्ग । अथ । एकादिशून्यपर्यन्तं १ । अवर्ग २ । कवर्ग ३ । चवर्ग ४ । टवर्ग ५ । तवर्ग ६ । पवर्ग ७ । यवर्ग । शवर्ग । तद्वर्गशेषं । भेशबाण ५ । हृतं । वि । विषमाक्षरं । स । समाक्षरं । अल्याक्षरं । तदक्षर-शेषं । गिरिबाण ५७ । हृतं द्विवत । वि । पूर्वाक्षरं । सं । द्वितीयाक्षरं । एते अक्षरभेदाः । × × × × × × ×

× × ×

अन्तिम भाग—

× × × × × × हेहलिके ८५ । हुलिगोट्टु ८६ । हेरदवलि ८७ । हिरिगण ८८ । हलयाल ८९ । हालूरु ९० । होमारु ९१ । हाडूरु ९२ । हेवति ९३ । हेकंब ९४ । हुगरे ९५ । हरियट्टि ९६ । हुकेरि ९७ । हरिगे ९८ । हिप्परिगे ९९ । हुरुमुंजि १०० । कोडन हुब्बलि १०१ । हासदुर्ग १०२ । हिजयिडि १०३ । हुबलि १०४ । हुणिसिगे १०५ । हन गवाडे १०६ । हामाळि १०७ । सम्पूर्णम् ।

यादृशं पुस्तकं दृष्टं तादृशं लिखितं मया ।
अबद्धं वा सुबद्धं वा मम दोषो न विद्यते ॥१॥

हमारा ज्योतिषशास्त्र दो भागों में विभक्त है। एक गणित और दूसरा फलित या होरा-विज्ञान। प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम "केवलज्ञानहोरा" है। होरा की व्युत्पत्ति विद्वानों ने यों की है—"आद्यन्तवर्णलोपात् होरास्माकं भवत्यहोरात्रात्"—अर्थात् 'अहोरात्र' शब्द का आदिम अक्षर 'अ' और अन्तिम अक्षर 'त्र' इन दोनों के लोप कर देने से 'होरा'* शब्द व्युत्पन्न हुआ है। 'केवलज्ञानहोरा' इस नामसे बहुत से व्यक्तियों की यही धारणा है कि यह भी फलित ज्योतिष का एक मौलिक ग्रन्थ होगा। अवकाशाभाव से इसका विशेष परिचय इस समय यहाँ पर नहीं दिया जा सका। हाँ इस विद्या के मर्मज्ञ किसी सावकाश विद्वान् को इस पर कुछ विशेष प्रकाश डालने की चेष्टा करनी चाहिये। "दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ" में भी इसे ज्योतिषशास्त्र ही लिखा है। साथ ही साथ प्रेमी जी की इस पुस्तक में इस 'केवलज्ञानहोरा' की श्लोकसंख्या तीन हजार बतलायी गयी है। परन्तु प्रारंभिक "परोपदेशिकं ग्रन्थं ? मया सप्तशतं कृतम्" इस तीसरे पद्यभाग से इस ग्रन्थ की श्लोकसंख्या सात सौ सिद्ध होती है। किन्तु ग्रन्थ बहुत बड़ा है। न मालूम ग्रन्थकर्त्ता ने यह सात सौ संख्या किस बात की दी है।

इसके कर्त्ता चन्द्रसेनमुनि हैं। इन्होंने अपने इस ग्रन्थ के "केवलज्ञानहोरायाश्चन्द्रसेनेन भाषितम्" इस पद्यांश में इस बात को स्पष्ट कर दिया है। साथ ही साथ "आगमः सदृशो जैनः चन्द्रसेनसमो मुनिः। केवली (?) सदृशी विद्या दुर्लभा सचराचरे॥" इस पद्य में अपनी प्रचुर प्रशंसा भी की है। इधर उधर बहुत कुछ टटोलने पर भी इनके बारे में विशेष परिचय मैं नहीं मालूम कर सका। ग्रन्थान्तर्गत बातों से ज्ञात होता है कि आप ज्योतिषशास्त्र के एक अच्छे ज्ञाता थे। इसमें कोई शक नहीं कि आप कर्नाटकनिवासी एवं कन्नड़भाषी थे। क्योंकि अपने ग्रन्थ के संस्कृतबद्ध पद्यों (कर्णसूत्रों) को खुलाशा करने के लिये इन्होंने जहाँ तहाँ कन्नड़भाषा का भी अधिकतर आश्रय लिया है। भवन की यह प्रति श्रवणबेलगोल की कन्नड़ प्रति से उतारी गयी है, किन्तु है यह बहुत अशुद्ध। अतः यहाँ आपकी संस्कृत-रचनाशैली के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। किसी शास्त्रा-गार में इसकी कोई शुद्ध प्रति का अन्वेषण परमावश्यक है। इसमें जो प्रकरण† हैं उनमें कुछ का नीचे नाम-निर्देश किया जाता है:—

हेमप्रकरण, दाम्यप्रकरण, शिलाप्रकरण, मृत्तिकाप्रकरण, वृक्षप्रकरण, कार्पास-गुल्म-वल्कल-तृण-रोम-चर्म-पटप्रकरण, संख्याप्रकरण, नष्टद्रव्यप्रकरण, निर्वाहप्रकरण, अपत्य-

* ज्योतिषोक्त लग्न एवं एक राशि या लग्न के आधे भाग को भी होरा कहते हैं।

† ये प्रकरण किसी काण्ड या अध्याय के अन्तर्गत हैं।

प्रकरण, लाभालाभप्रकरण, मोक्षप्रकरण, स्त्रीसंभोगप्रकरण, भोजनप्रकरण, स्वप्नप्रकरण, सामुद्रिकप्रकरण, स्वरप्रकरण, वास्तुविद्याप्रकरण, शकुनप्रकरण, देहलीक्षुद्रीप्राप्रकरण, अञ्जनविद्याप्रकरण, विषविद्याप्रकरण। इसी प्रकार देशभेद, उपकरणभेद, शास्त्रभेद, रत्नभेद, पक्षिभेद, यन्त्रभेद, मन्त्रभेद, जातिभेद, मुद्राभेद आदि अनेक द्रव्यों के भेद भी इसमें दरसाये गये हैं। बल्कि मुद्राभेद नामक शीर्षक में विक्रम, चालुक्य, कादम्ब, युधिष्ठिरादिक अनेक ऐतिहासिक एवं पौराणिक प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम भी आये हैं।

---

(११) ग्रन्थ नं० २१४/ख

दानशासन

कर्ता—श्रीवासुपूज्य ऋषि

विषय—दानफलादिविवरण

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १३॥ इञ्च चौड़ाई ५॥। इञ्च पत्रसंख्या ५६

प्रारम्भिक भाग—

यस्य पादाब्जसद्गन्धाघ्राणनिर्मुक्तकल्मषाः।
ये भव्याः सन्ति तं देवं जिनेन्द्रं प्रणमाम्यहम्॥१॥
दानं वक्ष्येऽथ वारीव शस्यसम्पत्तिकारणम्।
क्षेत्रोप्तं फलतीव स्यात् सर्वक्षेत्रेषु समं सुखम्॥२॥
शुद्धसद्दृष्टिभिः शुद्धपुण्योपार्जनलम्पटैः।
सार्द्धं ब्रूयादिमं ग्रन्थं नेतरैस्तु कदाचन॥३॥

× × ×

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ २८ पंक्ति १४)

श्रीमत्त्रिलोकभवनान्तरसर्ववस्तुग्राहिप्रबोधनिटिलाक्षिमिषा[illegible]।
ज्ञानैकगोचरमशेषमुनीन्द्रवन्द्यमिन्द्रार्चितांघ्रिमर्हन्[illegible] ॥१॥

कर्महृद्धर्मकृत्पात्रं तस्य भेदानहं ब्रुवे।
पात्रे देयं न चान्यत्र क्षेत्रे कृष्यधिपो यथा ॥२॥
रत्नत्रयात्मको धर्मस्तमाचरति धार्मिकः।
धर्माभिवृद्धये स्वस्य धार्मिके प्रीतिमाचरेत् ॥३॥
पात्रभेदकथादक्षैः पात्रं पञ्चविधं मतम्।
तद्यथेति कृते प्रश्ने सूरिराह तदुत्तरम् ॥४॥
उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्यं मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम्।
निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदञ्च विद्धि ॥५॥
संगादिरहिता धीरा रागादिमलवर्जिताः।
शान्ता दान्तास्तपोभूषास्ते पात्रं दातुरुत्तमम् ॥६॥
निस्संगिनोऽपि वृत्ताढ्या निःस्नेहाः सुगतिप्रियाः।
अभूषाश्च तपोभूषास्ते पात्रं दातुरुत्तमम् ॥७॥
परीषहजये शक्ताः शक्ताः कर्मपरिक्षये।
ज्ञानध्यानतपःशक्तास्ते पात्रं दातुरुत्तमम् ॥८॥
प्रशान्तमनसः सौम्याः प्रशान्तकरणक्रियाः।
प्रशान्तारिमहामोहास्ते पात्रं दातुरुत्तमम् ॥९॥
धृतिभावनया युक्ताः सत्त्वभावनयान्विताः।
तत्त्वार्थहितचेतस्कास्तेपात्रं दातुरुत्तमम् ॥१०॥
परीषहजये शूराः शूरा इन्द्रियनिग्रहे।
कषायविजये शूरास्ते पात्रं दातुरुत्तमम् ॥११॥

× × ×

अन्तिम भाग—

मतं समस्तैऋर्षिभिर्यदादृतैः प्रभासुरात्मावनदानशासनम्।
मुदे सतां पुण्यधनं समर्जितं दानानि दद्यान्मुनये विचार्य्य तत् ॥
शाकाब्दे त्रियुगाग्निशीतगुणितेऽतीते वृषे वत्सरे
माघे मासि च शुक्लपक्षदशमे श्रीवासुपूज्यर्षिणा।
प्रोक्तं पावनदानशासनमिदं ज्ञात्वा हितं कुर्वताम्
दानं स्वर्णपरीक्षका इव सदा पात्रत्रये धार्मिकाः ॥

समाप्तमिदं दानशासनम्

ग्रन्थके अन्तिम पद्य से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि इस "दानशासन" के कर्त्ता वासुपूज्य ऋषि हैं। साथ ही साथ उक्त पद्य से यह भी विदित होता है कि यह ग्रन्थ शक सम्वत् १३४३ माघ शुक्ल दशमी को समाप्त हुआ था। ग्रन्थकर्त्ता ने अपने इस ग्रन्थ में गुरुपरम्परा, गण, गच्छ आदि की कुछ भी चर्चा नहीं की है। अतः इनके विषय में अधिक प्रकाश नहीं डाला जा सका। दाक्षिणात्य कतिपय शिलालेखों में "वासुपूज्य" यह नाम मिलता है अवश्य। पर प्रस्तुत वासुज्पूय के गणगच्छादि के न मालूम होने से नहीं कहा जा सकता है कि अमुक वासुपूज्य ही इस दानशासन के कर्त्ता हैं। अगर किसी विद्वान् को इन वासुपूज्यऋषि के गणगच्छादि विशेष बातों का पता ज्ञात हो तो उन्हें प्रकट कर देना चाहिये।

इनकी संस्कृत-रचनाशैली साधारणतया अच्छी है। प्रत्येक भाग की श्लोकसंख्या अलग अलग बता कर इस ग्रन्थ को इन्होंने निम्नलिखित भागों में विभक्त किया है:—

(१) अष्टविधदानलक्षण (२) उत्तमपात्रसामान्यविधि (३) अभयदानविधि (४) दानशालाविधि (५) क्रियाविधि (६) द्रव्यशोधनविधि (७) पात्रलक्षणविधि (८) करणत्रयलक्षिताहारदानविधि (९) भैषज्यदानविधि (१०) शास्त्रदानविधि।

---

(१२) ग्रन्थ नं० २१५/ख

भव्यकण्ठाभरणपञ्जिका

कर्त्ता—अर्हद्दास

विषय—देवगुरुशास्त्रादिलक्षण

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ६॥ इञ्च   चौड़ाई ६ इञ्च   पत्रसंख्या २३

प्रारम्भिक भाग—

श्रीमान् जिनो मे श्रियमेष दिश्याद्यदीयरत्नोज्ज्वलपादपीठम्।
करैर्नतेन्द्रोत्करमौलिरत्नैः स्वच्छत्वगादिव चालितं स्वैः ॥१॥
सदापि सिद्धो मयि सन्निदध्यात्स सिद्धिवध्वा सह सान्द्रसौख्यम्।
चर्वत्यजस्रं तनुमारुतान्तः संभोगभाविश्रमभीतवैद्यः ॥२॥

आचार्यवर्याश्चरितानि शिष्यानाचारयन्तः स्वयमाचरन्तः ।
षट्त्रिंशतापि स्वगुणैर्युतास्तैः सदापरात्माष्टगुणाभिलाषाः ॥३॥
तेऽध्यापकाः स्युर्ददते नितान्तं ये ब्रह्मचर्यव्रतपालिनोऽपि ।
दयाश्च चित्तेषु सरस्वतीश्च मुखेषु देहेषु तपःश्रियश्च ॥४॥
ते साधवो मे ददतु स्ववृत्तिं दयालवोऽपि व्रतदिव्यशस्त्रैः ।
अनंगराजं समरे निहत्य कुर्वन्त्यनंगोरुपदं स्वकीयम् ॥५॥
जिनागमक्षीरनिधिर्गभीरो विलोडितश्चेद्विबुधैर्विधानात् ।
ददाति रत्नत्रयमुज्ज्वलांगं तदा स तेभ्योऽप्यमृतं दुरापम् ॥६॥
श्रीगौतमाद्या जिनयोगिनो ये वीरांगदान्ता महितात्मवृत्ताः ।
तदीयनामाक्षररत्नमाला मदीयवाण्या मणिकण्ठिका स्यात् ॥७॥
अथाशरीरानुपमाम्बुजाक्षीमप्याशु वश्यां यदलं विधातुं ।
शतं सुवर्णाभिनवार्थरत्नैस्तद्भव्यकण्ठाभरणं तनिष्ये ॥८॥

× × ×

मध्यभाग (पूर्व पृष्ठ १४ पंक्ति ४)

श्रित्वादिमं (?) तापमितेषु बुद्ध्यानाश्रित्य मूलाच्च भजत्स्वमुक्त्वा ।
छायाद्रुवत्तस्य न रुट्परागस्तथापि ते दुःखसुखास्पदानि ॥१॥
तस्मिन्निदानीमिव सार्वभौमे देशे वसत्यप्यतिविप्रकृष्टे ।
चरन्ति ये ते सुखिनस्तदीयामाज्ञामनुलङ्घ्य परे सदुःखाः ॥२॥
जना गृहग्रामपुरीजनान्तषट्खण्डमात्रप्रभुशासनं चेत् ।
उल्लंघयन्तोऽप्युरुदुःखभाजस्तत्किं पुनस्सर्वजगत्प्रभोस्तत ॥३॥
सतो हितं शास्ति स एव देवः सदाप्य (?) ते शासनतत्फलेच्छाम् ।
कलस्वनं कर्णसुधारसौघं वमत्तयोवाद्यमपेक्षते किम् ॥४॥

× × ×

अन्तिम भाग—

अभ्यासहार्थाभिदयेति सर्वेऽप्याचार्य्यमुख्या गुरवस्त्रयोऽपि ।
असारसंसारविनाशहेतोराराधनीया अनिशं मया स्युः ॥१॥
सूक्त्यैव तेषां भवभीरवो ये गृहाश्रमस्थाश्चरितात्मधर्माः ।
त एव शेषाश्रमिणां सहाया धन्याः स्युराशाधरसूरिवर्याः ॥२॥
आराध्यमानामलदर्शनास्ते धर्मेऽनुरक्ताः शमिनां सदापि ।
एकं यथाशक्ति भजन्त्यशल्यमेकादशाणुव्रतिकास्पदेषु ॥३॥

ते पात्रदानानि जिनेन्द्रपूजाः शीलोपवासानपि चिन्वते च ।
न्यायेन कालादसतीश्वरोपभोगस्य शर्मानुभवन्ति चात्तम् ॥४॥
कर्तुं तपः संयमदानपूजास्वाध्यायमभ्याश्रितचारुवार्ताः ।
ते तद्भवं श्रीजिनसूक्तशुद्ध्या पत्नादिभिश्चाघलवं क्षिपन्ति ॥५॥
त एव मान्या भुवि धार्मिकौघा धर्मानुरक्ताखिलभव्यलोकैः ।
सुधानुरक्ता ह्यनुरागसूतिमाधारपात्रेष्वपि तन्वतेऽस्याः ॥६॥
इत्युक्तमासादिकसत्स्वरूपं संशृण्वतोऽत्रैव दृढा रुचिः स्यात्
सज्ज्ञानमस्याश्चरितं ततोऽस्मात्कर्मक्षयोऽस्मात्सुखमप्यदुःखम् ॥७॥
आप्तादिरूपमितिसिद्धमवेत्य सम्यगेतेषु रागमितरेषु च मध्यभावम् ।
ये तन्वते बुधजना नियमेन तेऽर्हद्दासत्वमेत्य सततं सुखिनो भवन्ति ॥८॥

इत्यर्हद्दासकृतभव्यकण्ठाभरणस्य पञ्जिका समाप्ताभूत् ।

इस "भव्यकण्ठाभरणपञ्चिका" के कर्त्ता कविवर अर्हद्दासजी हैं। अभी तक इनके तीन ही ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। बल्कि प्रस्तुत कृति को छोड़ कर शेष दो ग्रन्थ—"पुरुदेव-चम्पू" तथा "मुनिसुव्रतकाव्य" प्रकाशित हो भी चुके हैं। पहला ग्रन्थ "माणिकचन्द्र जैन-ग्रन्थमाला" बंबई से और दूसरा "मुनिसुव्रतकाव्य" संस्कृत हिन्दी-टीका-सहित "जैनसिद्धान्त-भवन" आरा से। इनकी कविता के बारे में यहाँ पर मैं विशेष कुछ न लिख कर सहृदय पाठकों से "मुनिसुव्रतकाव्य" को ही साद्यन्त एक बार पढ़ जाने का अनुरोध करता हूं। हमारे अर्हद्दास जी गद्य-पद्य दोनों के सिद्धहस्त लेखक हैं। आपकी सभी रचनायें माधुर्य और प्रासादादि काव्योचितगुणों से ओतप्रोत हैं।

आप विद्वद्वर आशाधर जी के शिष्य हैं। यह बात आपकी तीनों कृतियों के निम्न-लिखित अन्तिम पद्यों से स्वयं सिद्ध होती है :—

मिथ्यात्वकर्मपटलैश्चिरमावृते मे युग्मे दृशोः कुपथयाननिदानभूते ।
आशाधरोक्तिलसदञ्जनसंप्रयोगैः स्वच्छीकृते पृथुलसत्पथमाश्रितोऽस्मि ॥
(मुनिसुव्रतकाव्य)

सूक्त्यैव तेषां भवभीरवो ये गृहाश्रमस्थाश्चरितात्मधर्माः ।
त एव शेषाश्रमिणां सहायाः धन्याः स्युराशाधरसूरिवर्याः ॥
(भव्यकण्ठाभरपञ्जिका)

मिथ्यात्वपंककलुषे मम मानसेऽस्मिन् आशाधरोक्तिकतकप्रसरैः प्रसन्ने ।
उल्लासितेन शरदा पुरुदेवभक्त्या तच्चम्पुदम्भजलदेन समुज्जजृम्भे ॥
(पुरुदेवचम्पू)

प्रतिमा-लेख-संग्रह

(संग्राहक—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन)

मैनपुरी के मूर्ति-लेखों से प्राप्त परिचय (क्रमागत)

नं०	नाम आचार्य व भट्टारक	गुरुका नाम	संघ	गण	गच्छ	अन्वय	किस समय में उल्लेख मिलता है।	विशेष विवरण
२१	ब्रह्मजगल सिंह	भ० सुरेन्द्रभूषण	मूल	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द	सं० १७७२	
२२	भ० नन्ददेव ...	......	,,	...	...	...	सं० १७१०	
२३	,, देवकीर्ति	......	...	...	...	...	सं० १४५४	
२४	,, देवचन्द्र ...	......	...	...	...	...	सं० १५३०	
२५	,, देवेन्द्रकीर्ति ...	......	मूल	...	...	...	सं० १७१६	
२६	,, द्रुमकीर्ति ...	......	,,					
२७	,, देवेन्द्रकीर्ति ...	......	,,	...	...	...	सं० १७८३ ...	नं० २५ और यह शायद एक हैं।
२८	,, देवेन्द्रभूषण ...	भ० विश्वभूषण	,,	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द	सं० १७३४ ...	अटेर पट्टाधीश।
२९	मंडलाचार्यधर्मचन्द्र ...	,, प्रभाचन्द्र	,,	,,	,,	,,	सं० १४३६	
३०	भ० धर्मकीर्ति ...	,, ललितकीर्ति	,,	...	...	...	सं० १६६६ ...	सं० १६०१ में आचार्य लिखा है।
३१	,, ,, ...	......	,,	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द	सं० १६८६ से पूर्व	अटेर।
३२	,, नेमिचन्द्र ...	,, शुभचन्द्र	,,	,,	,,	,,	सं० १५२५ ...	इन्हीं शुभचन्द्र के उत्तराधिकारी भ० जिनचन्द्र थे, किन्तु इस लेख में उनको भ० नेमिचन्द्र का पट्टाधिकारी लिखा है।

क्र०	नाम आचार्य व भट्टारक	गुरु का नाम	संघ	गण	गच्छ	अन्वय	किस समय में उल्लेख मिलता है।	विशेष विवरण
३३	„ पद्मनंदि ...	......	„	...	...	...	सं० १५०१	
३४	प्रतिष्ठाचार्य भ० प्रभाचन्द्रदेव ...	......	„	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द	सं० १४१२	
३५	भ० पद्मनंदि ...	„ प्रभाचन्द्र	„	„	„	„	सं० १४५०	
३६	„ भानुकीर्ति ...	......	काष्ठा	...	...	...	सं० १६२८	
३७	„ भानुचन्द्र ...	......	मूल	...	...	...	सं० १५४८ ...	मुक्तासा में प्रतिष्ठा कराई।
३८	„ भुवनकीर्ति ...	......	„	...	...	...	सं० १५४८ ...	सं० १५३४ के लेख में भ० ज्ञानभूषण के गुरुरूप में उल्लेख है। यह भिन्न मालूम देते हैं।
३९	„ महेन्द्रभूषण ...	भ० जिनेन्द्रभूषण	„	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द	सं० १६२०	
४०	„ मलयकीर्ति ...	गुणभद्राम्नाये	काष्ठा	...	...	...	सं० १५३७ व १५४५	
४१	मलयकीर्ति आचार्य ...	......	„	...	...	...	सं० १५१० व १५२१	
४२	भ० महाचन्द्र ...	भ० शीलभूषण	मूल	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द	सं० १६७५	
४३	„ महीचन्द्र ...	„ महाचन्द्र	„	„	„	„	„	
४४	„ मुनीन्द्रकीर्ति ...	......	काष्ठा	पुष्कर	माथुर	लोहा	सं० १६५२ ...	बनारस में प्रतिष्ठा कराई।
४५	„ पद्मकीर्ति ...	......	„	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द		
४६	„ बलकीर्ति ...	......	मूल	...	...	...	......	उर्सरो ग्राम।
४७	„ रामसेन ...	......	„	...	...	...		
४८	आचार्य रत्नकीर्ति ...	भ० अभयनन्दिदेव	„	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द	सं० १६६२	
४९	रत्नकीर्ति मंडलाचार्य ...	„ जसकीर्ति	„	...	...	...	सं० १७५१	
५०	भ० राजेन्द्रकीर्ति ...	......	काष्ठा	...	...	लोहा०	सं० १६१०—१६३६	तदाम्नाये हरचंद्र या इन्द्रप्रस्थे (१६३५)

५१	,, राजेन्द्र भूषण ...	,, महेन्द्रभूषण	मूल	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द	सं० १६२०	
५२	,, ललितकीर्ति ...	......	,,	,,	,,	,,	सं० १६६६	
५३	,, लक्ष्मीभूषण ...	भ० सुरेन्द्रभूषण	,,	,,	,,	,,	सं० १८२८	अटेर ।
५४	,, लक्ष्मीसेन ...	,, गुणभद्र	,,	सेन	,,	,,	सोलहवीं शताब्दी	
५५	,, विजयकीर्ति ...	......	,,	...	...	...	सं० १६८८	
५६	विद्यानंदि मंडलाचार्य ...	जिनचन्द्राम्नाये	,,	बलात्कार	सरस्वती	कुंद०	सं० १५३७	
५७	भ० विमलेन्द्र कीर्ति ...	......	,,	...	...	...	सं० १६६६	
५८	ब्रह्मदीप ...	हेमचन्द्राम्नाये	काष्ठा	...	...	...	सं० १६४२	
५९	भ० विश्वभूषण ...	भ० जगद्भूषण	मूल	बलात्कार	सरस्वती	कुंद०	सं० १७६६	अटेर ।
६०	मंडलाचार्य विशालकीर्ति	,, महीचन्द्र	,,	,,	,,	,,	सं० १६७५	
६१	भ० विश्वसेन ...	......	,,	,,	,,	,,	सं० १४१६	अटेर ।
६२	,, सिंहकीर्ति ...	......	,,	...	...	...	सं० १५२६	सं० १५२५ ।
६३	,, समीरसिंहदेव ...	......	काष्ठा	...	माथुर	...	सं० १५२५	
६४	,, शुभचन्द्र ...	भ० पद्मनंदि	मूल	बलात्कार	सरस्वती	कुंद	सं० १५२०	
६५	,, सिंहकीर्ति ...	,, जिनचन्द्र	,,	,,	,,	,,	सं० १५२५-१५२८	
६६	,, शीलभूषण ...	,, धर्मकीर्ति	,,	,,	,,	,,	सं० १६८६	
६७	,, सुरेन्द्रभूषण ...	,, देवेन्द्रभूषण	,,	,,	,,	,,	सं० १७६०-१७६१	अटेर ।
६८	,, हेमकीर्तिदेव ...	,, समीरसिंहदेव	काष्ठा	...	माथुर	...	सं० १५२५	
६९	,, हेमचन्द्र ...	......	,,	...	...	...	सं० १५४६	
७०	,, हेमविमलसूरि ...	......	...	...	...	...	सं० १५५१	नागुरग्रामे ।
७१	,, हरचन्द्र ...	भ० राजेन्द्रकीर्ति	काष्ठा	...	...	लोहा	सं० १६३२	इन्द्रप्रस्थ ।
७२	,, हरेन्द्रभूषण ...	......	...	...	...	...	सं० १६४५	
७३	,, ज्ञानभूषण ...	,, शीलभूषण	मूल	बलात्कार	सरस्वती	कुंद०	सं० १६८६ व १६३७	

१ काष्ठा संघ की उत्पत्ति के विषय में एक से अधिक मत हैं। दसवीं शताब्दी के देवसेनाचार्य के मतानुसार सं० ७५३ में भ० कुमारसेन द्वारा इस संघ की उत्पत्ति हुई थी; किन्तु इस काल से भी पहले इस संघ का अस्तित्व मिलता है। एक कथा में काठ अथवा मिट्टी की मूर्ति बनाने का विधान करने के कारण इस संघ का यह नाम पड़ा बताया गया है। किन्तु हम तो समझते हैं कि मथुरा के निकट जमुना तट पर स्थित काष्ठा नामक ग्राम की अपेक्षा, इस संघ का यह नाम पड़ा था। इस संघ के पुष्कर व माथुरगण और नदी तट गच्छ आदि इस बात के द्योतक हैं कि किसी ग्राम की अपेक्षा से ही इस संघ का नाम 'काष्ठासंघ' पड़ा है। मथुरा प्राचीन काल से जैन धर्म का प्रमुख स्थान रहा है और उसके निकट काष्ठा नामक ग्राम भी मिलता है। द्रमिल संघ-द्राविड़ संघ, पुन्नाट संघ आदि नाम भी देश अपेक्षा है। अतः काष्ठासंघ भी जैन मुनियों के उस साधुसमुदाय का नाम प्रतीत होता है, जिनका मुख्य स्थान काष्ठा नामक स्थान था। देवसेन जी ने माथुर संघ की गणना अलग की है; किन्तु अन्य विद्वान् उसे काष्ठासंघ का एक गच्छ ही बतलाते हैं; यथा :—

काष्ठासंघो भुवि ख्यातो जानन्ति नृसुरासुराः।
तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुताः क्षितौ ॥१॥
श्रीनन्दितटसंज्ञश्च माथुरो बागड़ाभिधः।
लाड़ बागड़ इत्येते विख्याताः क्षितिमण्डले ॥२॥—सुरेन्द्रकीर्तिः।

देवसेन जी के उपर्युक्त भेद-विवक्षा का कारण यह प्रतीत होता है कि काष्ठासंघ में गोपुच्छ की पिच्छि रखने की आज्ञा है और माथुर संघ में पिच्छि रखने का विधान नहीं है। श्रीअमितगति आचार्य का श्रावकाचार माथुर संघ का है; किन्तु उसमें कोई भी बात ऐसी नहीं है जो मूलसंघ के विपरीत हो। काष्ठासंघ का कोई आचारग्रंथ नहीं मिलता और यह भी नहीं मालूम कि उसमें और मूलसंघ में क्या अन्तर था; किन्तु उपर्युक्त मैनपुरी के लेख संग्रह से प्रकट है कि काष्ठासंघ और मूलसंघ में ऐसा कुछ विशेष विरोध नहीं था; यही कारण है कि एक ही जाति के लोग दोनों ही संघों के अनुयायी थे। इतना तो निस्सन्देह स्पष्ट है कि उल्लिखित लेखों के समय अर्थात् १५ वीं से १६ वीं शताब्दी ई० तक जैनों में काष्ठासंघ और मूलसंघ की कट्टरता का पक्ष नहीं था। यहां तक कि लोग काष्ठासंघ के गण और गच्छ रूप में मूलसंघ के बलत्कारगण और सरस्वती गच्छ का उल्लेख करते थे। मालूम नहीं मूल में इन दोनों संघों में कितना भारी भेद था। देवसेनाचार्य के बताये हुये भेदों में केवल दो, कड़े बालों या गाय की पूंछ की पिच्छी रखना और क्षुल्लकों के लिये वीरचर्या का विधान करना मुख्य हैं। (दर्शनसार गा० ३५) किन्तु इन बातों का सम्बन्ध गृहस्थों से विशेष नहीं है। कहा जाता है कि काष्ठासंघ में बीस पंथ के अनुसार जिनेन्द्रपूजन में फल, फूल

और केशर चर्चाने का रिवाज था। किन्तु इससे भी कुछ सिद्धान्त भेद नज़र नहीं पड़ता और इस तरह हम तो समझते हैं कि काष्ठासंघ और मूलसंघ में ज़्यादा भेद नहीं था। माथुर संघ का सम्पर्क काष्ठा संघ से घनिष्ठ था और यह प्रकट ही है कि माथुर संघ के श्रावकाचार और सैद्धान्तिक मान्यताओं में मूलसंघ से कुछ भी भेद नहीं था, जैसे कि श्रीअमितगति आचार्य के ग्रंथों से प्रकट है। अत एव काष्ठासंघ के साथ भी मूलसंघ का अधिक अंतर होना असम्भव है यही कारण है कि मैनपुरी के लेख संग्रह में एक ही जाति के लोग मूल और काष्ठा दोनों संघों के अनुयायी मिलते हैं। मैनपुरी के बड़े मंदिर जी में एक हस्तलिखित गुटका संवत् १८६७ का ढाका शहर का लिखा हुआ मौजूद है। उसमें काष्ठासंघ के अनुसार नित्यनियम अर्थात् देव-शास्त्र गुरु-पूजा दी हुई है। प्रचलित नित्यनियम पूजा में और उसमें केवल इतना ही अंतर है कि उसमें "कर्म्माष्टकविनिर्मुक्त आदि" श्लोक के बाद ये श्लोक और दिये हुये हैं :—

"श्रीयुगादिदेवं प्रणमत्य पूर्व्वं, श्रीकाष्ठासंघे महिते सुभव्याः। (?)
श्रीमत्प्रतिष्ठा श्रुततो जिनस्य, श्रीयज्ञकल्पं स्वहिताय वक्ष्ये ॥१२॥
आदिदेवं जिनं नत्वा केवलज्ञानभास्करं।
काष्ठासंघश्चिरं जीयात्क्रियाकाष्ठादिदेशकः ॥१३॥
श्रीनाभिनंदनविभुं प्रणिपत्य भक्त्या, यद्देशनामृतरसेन जगत्प्रपूर्णम्।
काष्ठाख्यसंघवरमंगलहेतुनित्यं, यस्यागमान्निगदितांघ (?) करोमि पूजां ॥१४॥

इन श्लोकों में केवल काष्ठासंघ का बोध कराने का भाव है और उसके उत्कर्ष की भावना भाई गई है। हां, हमारी उपर्युक्त व्याख्या का इससे भी समर्थन होता है कि इस संघ का नाम देश अपेक्षा है; क्योंकि उपर्युक्त नं० १३ के श्लोक में इस संघ की क्रियायें काष्ठादि देश की बताई हैं। मालूम होता है कि साम्प्रदायिक द्वेषवश काठ की मूर्ति आदि बनाने की अपेक्षा काष्ठासंघ कहलाने की कथायें कपोलकल्पनावत् रची गई हैं। उनमें कुछ भी सार नहीं है। काष्ठासंघ की जैनपूजा में अवश्य कुछ क्रिया भेद था; किन्तु वह भी विशेष नहीं प्रतीत होता। पूजा में अगाड़ी कुछ भी पाठ भेद नहीं है। केवल 'देवजयमाल' में 'वत्ताणुट्ठाणे' आदि के स्थान पर एक अन्य जयमाल है, जिसका प्रारंभ इन गाथाओं से होता है :—

"चउवीस जिणंदहु तिहुयणचंदहु, ध्रह सयलचियभायणहं।
जयमाला विरयम्मि गुणगण समरम्मि कम्म महागिरि चूरणहं ॥१॥
जय जय रिसहणाह भव रहिया, जय जय अजिय सुराहिव महिया। इत्यादि"

सेनगण का सम्बन्ध बंगाल के सेनराजवंश से प्रतीत होता है। (वीर वर्ष ४ पृ० ३२८) बलात्कार गण की उत्पत्ति किस अपेक्षा है, यह ज्ञात नहीं। कहा जाता है इस गण के सुदृढ़ अथवा ज़बरदस्त होने के कारण यह इस नाम से प्रख्यात हुआ था।

× × ×

(२) कुटुम्ब और श्रावक-श्राविकायें :—

१ अग्रवाल—गर्गगोत्रे सा० बुधमल (१२३४ सं०)

२ अग्रोत—गोयल—काष्ठा—सा० राजू भार्या जाल्हो—पुत्र छाजू, कामराज, रामचंद्र, चंद्रपाल, जिनदास, ताराचंद्र आदि (१२३७ सं०)

३ अग्रोत—वासिल—ब्रजमोहनदासभार्या सुंदरि पुत्र बाबू जगमोहनदास, बाबू मुनिसुव्रतदास भार्या कांताकुंवरि, आरा निवासी (सं० १६२०)

४ अग्रोत—गर्ग—केलिराम पुत्र डालचन्द मैंनपुरी (१६२० सं०)

५ अग्रोत—मित्तल—देवदास भार्या लाडो, पुत्र धर्ममल, तेजा, रायचंद्र, चाहड़, (१५२६)

६ अग्रोत—गर्ग—भुजू भार्या ताल्हो, पुत्र रह्लो, हरताल्हा और लाहट भार्या विणी, पुत्र हंस, बाई जिनमति। (१५२६ सं०)

७ अग्रवालवैश्य—बाबू रामदास—छेदीलाल, बिसुनचंद्र—नरोत्तमदास (१६५२)

८ अग्रोत—वासिल गोत्रे—सौखिलाल, मुनिसुव्रतदास (१६१० सं०)

६ „ —मीतल गोत्रे सा० भरे भार्या पुनिमा, पुत्र लखा, होसा, वापू (१५४५)

१० „ —छेदीलाल, विसुनचंद, नरोत्तमदास वटेश्वर में प्रतिष्ठा कराई (१६५२)

११ „ —गर्ग—मूलसंघे—मम्मनलाल (१६४५ सं०)

१२ „ —कुरुसगोत्रे—मूलसंधे मलैराय भ्राता कल्याण (१६११ व १६१७)

१३ „ —गर्ग—काष्ठा कासीराम हरचंदपुरमध्ये प्रतिष्ठा कराई (१८८६ सं०)

१४ „ लोहिआ—खुशालचंद हरचंदपुर वाले (१६०२ सं०)

१५ „ केवलराम मैंनपुरी (१८६६)

१६ „ गोयल गोत्रे—सा० अदु भार्या पोवाही पुत्र मोमनसिंह (१५७६ सं०)

१७ „ वासिल गोत्रे—काष्ठा—उरगदास भार्या जान्हीं (१६४२)

१८ „ —गर्ग—सा० रत्न भार्या देन्ही पुत्र सहव भार्या वारु पुत्र पेमचंद (१५१० सं०)

१६ ककेश ज्ञातीये—वरहडाग्रा गोत्रे—सा० शिवा भा० सिंगार आदि नागपुर (१५२१)

२० खंडेलवाल—लुहाड्या—संघई हृदयराम (१७८३ सं०)

२१ „ —सा० हरदास मूलसंघे (१५२० सं०)

२२ „ —सिंधिया—सा० हिमत भार्या उधा पुत्र पदार्थक (१६७५ सं०)

२३ „ —इक्ष्वाकवंशे—छावरागोत्रे—नानिगराम (१८२८ सं०)

२४ „ —पाटनी—सा० हीकम (सं० १४३६)

२५ गोयागोत्रे—संघई मामसेन

२६ गोलालारान्वये—साह पिबू (१५३७ सं०)

२७ „ —सा० भउषा भा० परमा पुत्र कर्ण भा० रणा पुत्र भीष्म (१५२५)

२८ „ —खरौआ ज्ञातीये—कुलहा गोत्रे पंडिताचार्य पं० भोजराज भार्या प्यारो पुत्र पं० मकरन्द इत्यादि (सं० १६८६)

२९ „ सा० भोजू—मलैसिंह—सोनराज (१४७४ सं०)

३० „ सा० ऐवरज—(सं० १५२१)

३० अ० „ सा० अभूभार्या लखो पुत्र खौसा (१५१५)

३१ गोल सिंगारा—रगा गोत्रे—श्रीलाल भार्या जिवा पुत्र धरमदास दामोदर (१६८८)

३२ जैसवाल—काष्ठा संघी—सा० प्रिथी भा० भानी पुत्र विसाहा रिषभदास (१६२८)

३३ „ —सा० दास भार्या रजमती (सं० १६०१)

३४ „ —काष्ठासंघी—सा० कन्हर भार्या जवश्री पुत्र हंसराज द्वितीय भार्या भावश्री पुत्र रामचंद्र (सं० १५३१)

३५ „ —मूलसंघे—सा० जै सिंह भार्या सामा पुत्र माधव (सं० १५३७)

३६ „ —काष्ठा—सा० सूर्यचंद्र भार्या नेमा पुत्र श्रावण (सं० १४३७)

३७ धाकौ ज्ञातीये संघई देमा भार्या अम्बा पुत्र सं० मुदूसा……कसिमवासी (१५……)

३८ नगरकोटेलगोत्रा सा० नरवर सिंह (सं १४११)

३९ पोरवाड़ जाति—सा० रहणा भार्या गोलसिरि पुत्र गर्जू भोजराज (सं० १५११)

४० पुले ज्ञातीये खेमिज गोत्रे—सा० तारम भार्या कैन……राजाराम खेमकरन (१६८८ मूल)

४१ माहिमवंश—सा० ईसारादेव भा० प्रगंधा वरेना, पुत्र जैसी-तावसी-गयसेन (१५८८)

४२ बुढ़ेल ज्ञातिये—मूलसंघे—गिरधारी लाल बनारसीदास भेगांव (१६५७) कटरा मैनपुरी पन्नीलाल।

४३ „ —गृम गोत्रे—तुलाराम भार्या द्वारा पुत्र देवीदास अटेर (१७६१ सं०)

४४ „ —लम्बकञ्चुकान्वये—ककौंआ गोत्रे—सा० सिवरामदास भार्या देवआन्दी पुत्र देवीदास भार्या लाला कुंवरि पुत्र शोभाराम……(१७७२)

४५ „ —लम्बकञ्चुकान्वये—रावत गोत्रे—बदलू भा० लुधी पुत्र केशराम……… तुलाराम (१७६६)

४६ यदुवंशी लम्बकञ्चुकान्वये सा० उद्धरण पुत्र असौ भार्या मूंगा पुत्र संघाधिपति बघे भा० मूला पुत्र भोजराज धौपे ग्राम (१५०६)

(नोट—इससे प्रकट होता है कि पहले संघाधिपति की उपाधि एक ही व्यक्ति को रहती थी—खानदान को नहीं)

४७ राहत् ज्ञातीये—राजमल सेठ भा० सावाई पुत्र जगडू भा० शिव पुत्र सुराम सेठ (१६०६)
४८ लम्बकाञ्चुक—मूलसंघे—सा० चाङ्गदेव भा० ताण पुत्र लाल्हा भा० महादेवी (१४१२)
४९ „ —सा० मिवडे भा० सोना पुत्र सा० जल्लू भा० मना (१५१५ सं०)
५० „ —सहदेव+चम्पा = हेतदेव + मूला = लेखनदेव, पद्मदेव, धरमदेव, (१४१३)
५१ „ — रावत—रावतप्रसाद पुत्र रावत सिरोमनि, चंडमारदुर्ग (१७३४)
५२ „ — यदुवंशे—रपरिया गोत्रे—छबीले - शंकर (१७६०)
५३ „ —दिपौ + दूदा = सूर, खेमा, सालम, गैमा (१५२०) अंउली निवासी ।
५४ „ — रपरिया गोत्रे—मारसेन+जीवनदे=खरगसेन+वलको=जयकृष्ण व मनसुख(१७६०)
५५ लंबेचू—उजागर (१५३४)
५६ „ —यदुवंश – पचोलते गोत्रे—सा० भावते भा० हीरामनि पुत्र कन्हर, रमीले, लालसेन, शिरोमणि, अतिवल (१७२२)
५७ „ —सिउलाल (१४७१)
५८ वाकुलिया गोत्रे—प्रभसी पुत्र राजदेव (१५०२)
५९ वरहिया कुले—सा० ल्हखे+कुसुमा = मलू+उदयश्री = लहण, छोटे व वीरसिंह (१५४५)
६० संवई श्रीकृष्णदास (१७४६)
६१ संघई अहिमनि (१५६२)
६२ श्रीमालवंश—मूलसंघे—सा० विठ्ठ (श्रीप्रतापचंद राज्ये (सं० १३४६)
६३ सा० लेखमल पुत्र भजनसिंह (१३३५)
६४ सा० सहरदा व मोहिक लल्हू, विलसी (१५२६)
६५ सा० तेज पुत्र भोजादेव (१५३०)
६६ सा० खुरु पुत्र वीधा (१५४५)
६७ सा० वीरपाल भर्या रमीवाई
६८ सा० पदारथ भा० जिवा पुत्र खेमकरण परमा (१६६६)
६९ सा० महत् भा० कान्हमती पुत्र सर्वत (१६०१)
७० सा० जीवराज पोपड़ीवाल (१५४८—१५४९)
७१ सा० लौणा (१५२५)
७२ सा० भिमा माता गदा बीधा (१५४६)
७३ सा० विजयपाल—नागपाल (प्राचीन लिपि में)
७४ सा० जिनदास काष्ठासंघे (१४७३)
७५ सा० रणह पुत्र नानिग काष्ठासंघे (१४१४)

श्रीपूज्यपाद-कृत—

वैद्य-सार

(अनुवादक—पण्डित सत्यन्धर जैन, आयुर्वेदाचार्य्य, काव्यतीर्थ)

(गतांक से आगे)

टीका—शुद्ध सिंगरफ, १ तोला, शुद्ध जमालगोटा ६ माशा, शुद्ध सिंगिया ३ माशा, सोंठ, मिर्च, पीपल तीन तीन माशा, बड़ी हर्र का छिलका ३ माशा अरण्ड की जड़ की छाल ३ माशा, पूतकरंज की मींगी ३ माशा, नीला सुरमा तथा शुद्ध मैनशिल, शुद्ध पारा, तूतिया भस्म, पीपल, कौड़ी भस्म, शंख भस्म, शुद्ध धतूरे के बीज, नीम की निबोड़ी की गिरी, हलदी, दारुहलदी ये सब तीन तीन माशा लेकर सब औषधियों को बकरी के दूध में एक दिन भर खरल में मर्दन करे तथा चना के बराबर गोली बनावे, इस गोली को गुड़ और काली मिर्च के साथ सेवन करे और ऊपर से उष्ण जल का पान करे तो इससे आमदोष का रेचन होता है, पांचों प्रकार के गुल्म रोग दूर होते हैं, शूल को नाश करता, वायु का शोधन करता तथा शीत ज्वर का नाश करनेवाला है। यह पूज्यपाद स्वामी का बनाया हुआ उत्तम योग है।

३३—प्रमेहे प्रमेहगजकेसरी रसः

सूतं च वंगभस्मानि नाकुलीबीजमभ्रकम्।
अयस्कांतं शिलाधातु कनकस्य च बीजकम् ॥१॥
गुडूची सत्वमित्येषां त्रिफलाक्वाथमर्दिताम्।
गुंजामात्रवटीं कृत्वा छायाशुष्कां तु कारयेत् ॥२॥
शर्करामधुसंयुक्तो प्रमेहान् हंति विशंतिं।
नष्टेन्द्रियं च दाहं च मन्दाग्निमद्यदोषकं ॥३॥
सोमरोगं मूत्रकृच्छ्रं वस्तिशूलं विनश्यति।
पूज्यपादप्रयोगोऽयं प्रमेहगजकेसरी ॥४॥

टीका—शुद्ध पारा, बंगभस्म, शुद्ध रासना के बीज, अभ्रक भस्म, कांत लौहभस्म, शुद्ध शिलाजीत, शुद्ध धतूरे के बीज, गुरुच का सत्व इन सब औषधियों को त्रिफला के

काढ़े में घोंट एवं एक एक रत्ती के बराबर गोली बनाकर छाया में सुखावे। मिश्री या शहद के साथ इसका सेवन करने से बीस प्रकार के प्रमेह को नाश करता है, नपुंसकता, दाह, मंदाग्नि तथा मद्य के दोष को जीतनेवाला एवं सोमरोग, मूत्रकृच्छ्र, बस्ति के शूल को भी नाश करता है। यह सब प्रकार के शूलों को नाश करनेवाला पूज्यपाद स्वामी का बनाया हुआ प्रमेहगज केशरी उत्तम प्रयोग है।

३४—मन्दाग्नौ बड़वाग्निरसः

शुद्धं सूतं ताम्रभस्म तालबोलं समं समं ॥
अर्कक्षीरेण संमर्द्य दिनमेकं द्विगुंजकम् ॥१॥
बड़वाग्निरसं खादेन्मधुना स्थौल्यशांतये ॥
पूज्यपादप्रयुक्तोऽयं खलु मंदाग्निनाशकः ॥२॥

टीका—शुद्ध पारा, ताम्रभस्म, तबकिया हरताल भस्म, शुद्ध बोल बराबर बराबर लेकर इन सबों का अकौवा के दूध में दिन भर घोंटे तथा दो दो रत्ती की गोली बनावे। इसी का नाम बड़वाग्नि रस है—इसको शहद के साथ सेवन करने से स्थूलता दूर होती है। यह पूज्यपाद स्वामी का प्रयोग मंदाग्नि का नाश करनेवाला है।

३५—रक्तदोषे तालकेश्वररसः

तालकं मृतताम्रं च समं खल्वे विमर्दयेत् ॥
वंध्याकर्कोटकीकंदस्वरसेन दिनत्रयम् ॥१॥
द्विगुंजं मधुना दद्यात् पश्चात् क्षौद्रोदकं पिबेत् ॥
रक्तदोषप्रशांत्यर्थं पूज्यपादेन भाषितः ॥२॥

टीका—तबकिया हरताल का भस्म तथा ताम्रभस्म ये दोनों खरल में बांझककोड़ा के कंद के स्वरस में तीन दिन तक घोंट कर दो दो रत्ती की गोली बांधे। उस गोली को सुबह शाम मधु के साथ सेवन करे और ऊपर से मधु का पानी पिये। यह रक्तदोष की शांति के लिये पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

३६—बहुमूत्रे तारकेश्वररसः

मृतं तारं मृतं वंगं मृतं कांताभ्रकं समम् ॥
मर्दयेन्मधुना दिवसं रसोऽयं तारकेश्वरः ॥१॥
माषैकं लेहयेत् क्षौद्रैः बहुमूत्रनिवारणः ॥
मूत्रदोषप्रशांत्यर्थं पूज्यपादेन भाषितः ॥२॥

टीका—चांदी का भस्म, वंग का भस्म, कांत लौह भस्म तथा अभ्रक भस्म ये चारों बराबर बराबर लेकर मधु के साथ एक दिन भर बराबर घोंटे और एक माशे की मात्रा से प्रातःकाल मधु के साथ सेवन करे। इसको बहुमूत्र रोग की शांति के लिये पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

३७—भेदिज्वरांकुशरसः

रसस्य द्विगुणं गंधं गंधसाम्यं च टंकणम् ॥
रससाम्यं विषं योज्यं मरिचं पंचभागकं ॥१॥
कट्फलं दंतिबीजं च प्रत्येकं मरिचान्वितम् ॥
गुड़ूचीसुरसास्वरसैः मर्दयेद्याममात्रकम् ॥२॥
माषैकेन निहंत्याशु ज्वराजीर्णं त्रिदोषजं ॥
क्षणे चोष्णं क्षणे शीतं क्षणेऽपिज्वरमुत्कटं ॥३॥
क्वचिद्रात्रौ दिवा क्वापि द्वितीयं त्र्याहिकं च तत् ॥
ज्वरचातुर्थिकं चापि॰ विषमज्वरनाशनः ॥४॥

टीका—शुद्ध पारा १ भाग, शुद्ध गंधक २ भाग, सुहागे का फूल २ भाग, शुद्ध विष १ भाग, काली मिर्च ५ भाग, कायफल ५ भाग तथा शुद्ध जमालगोटा ५ भाग इन सबको गुर्च तथा तुलसी के रस से घोंट कर रख लेवे। एक माशा की मात्रा से अनुपानविशेष के द्वारा देने से सब प्रकार के ज्वर, अजीर्ण, पित्तरोग, शीतजन्य रोग तथा उत्कट ज्वर सर्व प्रकार के विषम एवं द्व्याहिक, त्र्याहिक, चातुर्थिक ज्वर आदि को शान्त करता है।

३८—क्षयकासादौ अग्निरसः

शुद्धसूतं द्विधा गंधं खल्वेन कृतकज्जली ॥
तत्समं तीक्ष्णचूर्णं च मर्दयेत् कन्यकाद्रवैः ॥१॥

यामद्वयात् समुद्धृत्य तद्गोलं ताम्रपात्रके ॥
आच्छाद्यैरंडपत्रैश्च यामार्धेनोष्णतां व्रजेत् ॥२॥
धान्यराशौ न्यसेत् पश्चात् पंचाहात्तं समुद्धरेत् ॥
सुपेष्य गालयेद्वस्त्रो सत्यं वारितरं भवेत् ॥३॥
कन्याभृङ्गीकाकमाचीमुंडीनिर्गुडिकानलम् ॥
कोरंटं वाकुची ब्राह्मी सहदेवी पुनर्नवा ॥४॥
शाल्मली विजया धूर्तद्रवैरेषां पृथक् पृथक् ॥
सप्तधा सप्तधा भाव्यं सप्तधा त्रिफलोद्भवैः ॥५॥
कषाये घृतसंयुक्तं ताम्रपात्रे क्वचित् क्षणे ॥
त्रिकुटस्त्रिफला चैला जातीफललवंगकम् ॥६॥
एतेषां नव भागानि समं पूर्वं रसं क्षिपेत् ॥
लिह्यान्माक्षिकसर्पिर्भ्यां पांडुरोगमनुत्तमम् ॥७॥
क्षयमग्निरसो नाम क्षयकासनिकृन्तनः ॥
अर्च्यपादप्रकथनः सर्वरोगनिकृन्तकः ॥८॥

टीका—शुद्ध पारा १ भाग, शुद्ध गंधक २ भाग इन दोनों की कज्जली करे तथा कज्जली के बराबर शुद्ध तीक्ष्ण लोह का चूर्ण लेवे फिर सबको घीकुवांरी के स्वरस से २ पहर तक घोंटे और गोला बनाकर तांबे के संपुट में बंद करके ऊपर से एरंड के पत्ते से आच्छादन करके १॥ घंटे तक आँच देवे जिससे यह औषधि गर्म हो जाय फिर वह संपुट धान्य की राशि में रख देवे तथा ५ दिन तक धान्य राशि में रहने के बाद निकाले और अच्छी तरह पीस कर कपड़ा से छान ले। पश्चात् जल में डालकर देखे, यदि जल के ऊपर तैर जाय तो सिद्ध हुआ समझे। तदुपरांत घीकुवांरि (गवारपाठा) भैगरा, मकोय, मुंडी, नेगड़, (सम्हालू) चित्रक, कुरंट, वाकची, ब्राह्मी, सहदेवी, पुनर्नवा, सेमल, भांग, धतूरा इन सबके काढ़े से या स्वरस से अलग अलग सात सात भावना देवे तथा उसमें थोड़ा घी मिलाकर ताम्बे के बर्तन में क्षण भर के लिये रक्खे फिर सोंठ, मिर्च, पीपल, त्रिफला छोटी इलायची जायफल, लौंग इन सबका चूर्ण और सब के बराबर ऊपर कहा हुआ अग्निरस लेकर घी तथा मधु के साथ सेवन करे तो पांडुरोग शांत होता है एवं क्षय खाँसी को भी इससे लाभ होता है। यह सब रोगों को नाश करनेवाला पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ उत्तम योग है।

नोट—यह ऐसा योग है कि इस योग में इसी प्रकार से लोह भस्म हो जाता है—वैद्य महानुभाव संदेह न करें।

३६—ज्वरादौ महाज्वरांकुशरसः

शुद्धसूतं विषं गंधं धूर्तबीजं त्रिभिः समम् ॥
सर्वचूर्णाद्द्विगुणव्योषं चूर्णं गुंजप्रमाणकम् ॥१॥
धटकं भृंगनीरेण कारयेच्च विचक्षणः ॥
महाज्वरांकुशो नाम ज्वरान्सर्वान् निकृन्तति ॥२॥
एकाहिकं द्व्याहिकं वा त्र्याहिकं च चतुर्थकम् ॥
विषमं वा त्रिदोषं वा हंति सत्यं न संशयः ॥३॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध विष, शुद्धगंधक, एक एक भाग, बराबर बराबर तथा शुद्ध धतूरे के बीज तीन भाग, सब के चूर्ण से दूना सोंठ, मिर्च, पीपल का चूर्ण मिलाकर घोंट लेवे। फिर इस रस की एक एक रत्ती के बराबर भंगरा के स्वरस में गोली बनावे। यह महाज्वरांकुश रस अनुपान भेद से सब प्रकार के ज्वरों को तथा एकाहिक, द्व्याहिक त्र्याहिक और चतुराहिक त्रिदोषज आदि सब ज्वर को नाश करता है।

४०—उदररोगे शंखद्रावः

स्फाटिक्यं नवसारकं च लवणं तुल्यं च भागत्रयम् ॥
सार्धं भूलवणं हितं द्रवमिदं तद् भैरवीयंत्रके ॥१॥
मत्यापीतमिदं भगंदरमजीर्णमुदरादिशूलादिकम् ॥
शंखद्रावबराभिधानमुदरे भूतान् रोगान् हरेत् ॥२॥

टीका—फिटकरी, नौसादर, सेंधानमक ये बराबर बराबर लेकर १॥ भाग कलमी शोरा सम्मिश्रण कर भैरवयंत्र के द्वारा शंखद्राव निकाले। इसके पीने से भगंदर, अजीर्ण, उदरशूल आदि अनेक उदर रोगों का नाश होता है।

४१—विबंधे जयपालयोगः

जयपालस्य च बीजानि पिप्पली च हरीतकी ॥
तत्समं शुल्वचूर्णं तु वज्रीक्षीरेण भावितम् ॥१॥
मरिचप्रमाणगुटिकां तांबूलेन च भक्षयेत् ॥
उष्णोदकेन वमनं शीतलेन विरेचनम् ॥२॥

टीका—शुद्ध जमालगोटा के बीज, पीपल, बड़ी हर्र का छिलका, बड़ी हर्र के बराबर ताम्रभस्म इन सबको थूहर के दूध की भावना देवे तथा पान के रस के साथ काली मिर्च के बराबर गोली बांध लेवे। इसको गर्म पानी से सेवन करने से वमन होता है तथा शीतल जल के साथ खाने से विरेचन होता है।

४२—शीतज्वरे शीतकेशरीरसः

हिंगुलं टंकणं गंधं सूतं पुनः गंधकं ॥
विषं तुत्थं कांतशिलाबोलतालनवसागरं ॥१॥
कारवल्लीरसे पिष्ट्वा मर्दयेद्याममात्रकम् ॥
चणमात्रबटीं कुर्यात् गुड़मिश्रं तु सेवयेत् ॥२॥
चातुर्थिकज्वरं हंति पथ्यं दध्योदनं हितम् ॥
सितेभकेशरी नाम पूज्यपादेन निर्मितः ॥३॥

टीका—शुद्ध सिंगरफ, सुहागा, शुद्ध गंधक, शुद्ध पारा, शुद्ध विष, तुत्थ भस्म, क़ांतलौह भस्म, शुद्ध शिला, शुद्ध बोल, शुद्ध तबकिया हरताल और शुद्ध नौसादर ये सब चीजें बराबर बराबर तथा गंधक दो भाग लेकर करेले के रस में एक प्रहर घोंट कर चना के बराबर गोली बनावे। इसको पुराने गुड़ के साथ सेवन करने से सब प्रकार का ज्वर नाश होता है। इसका पथ्य दहीभात है।

४३—शीतज्वरे शीतांकुशरसः

तुत्थं पारदटंकणौ विषबली स्यात् खर्परं तालकं ॥
सर्वं खल्वतले विमर्द्य गुटिकां स्यात्कारवेल्ल्याः द्रवैः ॥
गुंजैकप्रमितः सुशर्करयुतः स्याज्जीरकैर्वा युतः ॥
एकद्वित्रिचतुर्थकज्वरहरः शीतांकुशो नामतः ॥१॥

टीका—शुद्ध तूतिया भस्म, शुद्ध पारद, शुद्ध सुहागा, शुद्ध विष नाग, शुद्ध गंधक, शुद्ध खपरिया, शुद्ध तबकिया हरताल इन सबों को लेकर खल में करेले के रस से मर्दन करके एक एक रत्ती प्रमाण गोली बनावे। मिश्री और जीरे के साथ एक एक गोली देने से सब प्रकार के विषमज्वर दूर होते हैं।

४४—हृद्रोगादौ सिद्धरसः

जातीफलं सैंधवहिंगुलं च सुवर्णमित्रं विषपिप्पलीनाम् ॥
महौषधी वायुविडंगहेमबीजं समस्त्वोन्मत्तजंबुनीरैः ॥१॥
तदार्द्र तोयैः पृथुयाममात्रं निरंतरं कल्कंखल्वमध्ये ॥
सुमर्दनीयं वटकं च कुर्यात् गुंजाप्रमाणं सितया समेतम् ॥२॥
निहंति हृद्रोगप्रमेहवातं वातातिसारंमहणीशिरोरुक् ॥
करोति निद्रां कफशूलसिद्धरसोऽयमानदंयति प्रसिद्धम् ॥३॥

टीका—जायफल, सेंधा ममक, सिंगरफ, शुद्ध सुहागा, शुद्ध विष, पीपल, सोंठ, वायविडंग, और सत्यानाशी के बीज ये सब बराबर भाग लेकर जंबीरी नींबू के स्वरस में दो प्रहर घोंट कर एक एक रत्ती के प्रमाण गोली बनावे। यह गोली मिश्री की चासनी के साथ सेवन करे तो हृदयरोग, प्रमेह वातरोग, वातातीसार, ग्रहणी तथा शिरोरोग शान्त होता है, बल्कि इससे निद्रा भी आती है और कफजन्य शूल इससे शान्त होता है।

४५—शूलादौ शूलकुठाररसः

त्रिकुटः त्रिफलासूतं गंधटंकणतालकं ।
ताम्रविषविषमुष्टिं च समभागं समाहरेत् ॥१॥
भागविंशतिभियुक्तं जयपालं च पृथक् ददेत् ।
सर्वं भृङ्गरसे पिष्ट्वा गुलिकां कारयेत् भिषक् ॥२॥
आद्यः शूलकुठारोऽयं विष्णुचक्रमिवासुरान् ।
सर्वशूले प्रयुक्तोऽयं पूज्यपादमहर्षिणा ॥३॥

टीका—त्रिकटु, त्रिफला, शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, शुद्ध सुहागा, हरतालभस्म, ताम्रभस्म विषनाग और शुद्ध कुचला ये सब एक एक भाग तथा बीस भाग शुद्ध जमालगोटा लेवे। सबको भंगरा के रस में घोंट कर एक रत्ती प्रमाण गोली बनावे और एक एक गोली गर्म जल से देवे तो कैसा ही शूल हो अवश्य ही लाभ होगा। जिस प्रकार विष्णु के सुदर्शनचक्र से असुरों का नाश हुआ उसी प्रकार इससे शूल का नाश होता है।

४६—अजीर्णादौ अर्धनारीश्वररसः

विषं सगंधं हरितालकं च मनःशिला निस्तुषदंतिबीजं ॥
सूतं सताम्रं दरदैः समेतं प्रत्येकमेतत् समभागकं स्यात् ॥१॥
निर्गुंडिपत्रस्य रसेन पेष्यं धत्तूरपत्रं सहमंजरी च ।
दिनत्रयं मर्दित एव सम्यक् गुंजाप्रमाणां गुटिकां प्रकुर्यात् ॥२॥
छायाविशुष्कं सगुडं च भक्ष्यं अपक्वदुग्धमनुपानमेव ।
सकोष्णवारिसदनानुपानं रसोऽर्धनारीश्वरनामधेयः ॥३॥

टीका--शुद्ध विष, शुद्ध गंधक, हरिताल भस्म, शुद्ध मैनशिल, शुद्ध जमालगोटा, शुद्ध पारा, ताम्रभस्म तथा शुद्ध सिंगरफ ये सब समान भाग लेकर सम्हालू की पत्ती के रस की भावना देवे फिर धतूरे के पत्तों के रस की बाद में तुलसी के पत्तों की रस की भावना देवे। इन तीनों के रस की तीन दिन तक लगातार भावना देने के पश्चात् एक एक रत्ती प्रमाण गोली बांधे और छाया में सुखावे। पुराने गुड़ के साथ सेवन करने के बाद एक पाव कच्चा दूध पिये और यदि अजीर्ण हो तो यह गोली गर्म जल के अनुपान से देवे। यह अर्धनारीश्वर रस उत्तम है।

४७—प्रमेहचन्द्रकलारसः

एला तु कर्पूरशिलासुधात्रीजातीफलं गोक्षुरशाल्मलीत्वक् ।
सूतं च बंगायसभस्ममेतत्समं समं तत्परिभावयेच्च ॥१॥
गुडूचिकाशाल्मलिकारसेन निष्कार्धमानं मधुना च दद्यात् ।
बद्ध्वा गुटी चन्द्रकलेतिसंज्ञा मेहेषु सर्वेषु नियोजयेच्च ॥२॥

टीका—छोटी इलायची, शुद्ध कपूर, शुद्ध शिलाजीत, आँवला, जायफल, गोखरू, सेमल की छाल, शुद्ध पारा, बंगभस्म और लौहभस्म ये सब बराबर बराबर लेकर खरल में गुर्च तथा सेमर के कंद के स्वरस में घोंट कर गोली बनावे और सुबह शाम १॥ माशे की मात्रा से शहद में सेवन करने से सम्पूर्ण प्रकार के प्रमेह शान्त होते हैं।

ॐ

THE
JAINA ANTIQUARY

An Anglo-Hindi quarterly Journal,

Vol. I.] March, 1936. [No. 4.

Editors:

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B., P.E.S.,
Professor of Sanskrit,
King Edward College, **Amraoti**, C. P.

Prof. A. N. UPADHYE, M.A.,
Professor of Prakrata,
Rajaram College, **Kolhapur**, S.M.C.

B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.,
Aliganj, Distt. Etah, U.P.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI,
Librarian,
The Central Jaina Oriental Library, **Arrah.**

Published at

THE CENTRAL JAIN ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription:

Inland Rs. 4. **Foreign Rs. 4-8.** **Single Copy Rs 1-4.**

Om.

THE

JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. I. No. IV — ARRAH (INDIA) — March, 1936.

Rules for Ascetics in Jainism, Buddhism & Hinduism

[S. C. GHOSHAL, M.A.B.L., Saraswati, Kavyatirtha, Vidyabhushan, Bharati.]

Hinduism, Buddhism and Jainism are the oldest religious movements in India, where a very large number of different religions have originated and secured innumerable votaries. Though there is evidence about the definite time when Buddhism was first preached, the origin of Hinduism and Jainism is lost in obscurity. The earliest work on Hinduism is the Vedas, and the later Upanishads and Gribya and Dharma Sutras contain much valuable information regarding the principal tenets and practices of ancient Hindu religion. If we compare these with the same of Buddhism and Jainism, we shall find that the principal tenets and practices are similar in all these religions and the subsequent quarrels and frictions between the different votaries of these religions took rise in minor differences among householders. The sages of all those sects who were advanced in higher planes viewed with equanimity others without the slightest bitterness.

We shall show in this article that some of the practices in Jainism vehemently attacked by Hindus and Buddhists were included in their own religious doctrines.

Jains have mostly been attacked for prescribing nakedness. Gauṭama Buddha attacked naked saints who are called Achelakas. Buddha said "O Bhiksus. There are some Achelakas who attend calls of nature and eat in a standing posture. They lick their palms and fingures after eating. They do not go to beg, if called. They do not wait, if asked to do so. They collect rice by begging before all. They never accept alms, if the same be prepared for them beforehand. They never accept any invitation. They do not accept alms if offered from Kunti, Udukhal, Falaka, Danda and Musala. They do not accept alms if one among two persons rises up while eating and offers alms. They do not accept alms from a pregnant woman, from a woman who is engaged in suckling an infant,..................They never touch fish or flesh. They never drink wine. They are satisfied with what they can get from a single house. ....They eat at intervals of one, two seven or fifteen days. They live on vegetables. They practise meditation standing. They lie on thorns. Anguttara Nikāya—Achelaka Bagga. See also Manorathapurani).

In Dandavaggo we find Buddha speaking thus:

"ण णग्गचरिया ण जटापङ्का णाणासका थण्डिलसायिका वा।
रजो च जल्लं उक्कुटिकप्पधाणं सोधेण्ति मच्चं अवितिण्णकङ्खं॥
अलंकतो चेपि समं चरेय संतो दण्तो णियतो बम्भचारी।
सब्बेसु भूतेसु णिधाय दण्डं सो बम्भणो सो समणो सो भिक्खु॥"

I, E, "Nakedness, matted hair, mud, fasting, lying on the ground, smearing the body with dust or standing still cannot cleanse a man who is not free from desire. Even if a man wears ornaments, if he be calm, collected and steady, and practises Brahmacharya and refrains from oppressing creatures, he is the real Brahmin and he is the real Sramana," he is the real Bhiksu.

The Achelakas here referred to are the same who have practices of Digambara Jain saints. In the work named Mulāchāra by

Batterakāchārya we find that the condition of an Achelaka means non-covering of the body by cloth, deer-skin, barks, or leaves of trees.[1] It has also been mentioned that ascetics should eat while standing and in the palm of their hands.[2] Begging from a pregnant woman or from a woman engaged in suckling an infant is also prohibited.[3] The faults arising from fireplace, Udukhalas, and vessels, etc. have been mentioned for evidence.[4] The previous arrangement for alms to particular persons have been prescribed as prohibitive.[5] That the Jain monks did not accept invitations like Brahmins appear from a story in the Panchatantra where a Jain sage being invited says: "O Srāvaka, why do you, who know Dharma, speak thus? Are we like the Brahmanas that you are inviting us? We always move about according to rules and if we find a Srāvaka having reverence, we go to his house, and if he prays with great persistence, we eat as much in his house as would enable us to live."[6]

Naked saints were not peculiar to Jain religion only, but were also found in the Hindu religion specially in the Sivaite sects. The fourth stage of life named Sannyāsa or Bhiksu enjoined that the saints should wear only a Kaupin or remain entirely naked.

---

(1) "वत्थाजिणवक्केण व अहवा पत्ताइणा असंवरणं।
णिव्भूसण णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पूज्जं॥"

(2) "अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डाइविवज्जणेण समपायं।
पडिसुद्धे भूमितिए असणं ठिदिभोयणं णाम॥"

(3) "अतिबाला अतिवुड्ढा घासत्ती गब्भिणी य अंधलिया।
अंतरिदा व णिसण्णा उच्चत्था अहव णीचत्था॥"...
लेवणमज्जणकम्म पियमाणं दारयं च णिक्खविय।
एवं विन्हा दिया पुण दाणं जदि दिंति दायगा दोसा॥"

(4) "अप्पासुएण मिस्सं पासुयदव्वं तु पूदिकम्मं तं।
चुल्ली उक्खली दव्वी भायणगंधत्ति पंचविहं॥"

(5) "जावदियं उद्देसो पासंडोत्ति य हवे समुद्देसो।
समणोत्ति य आदेसो णिग्गंथोत्ति य हवे समादेसो॥"

(6) "भोः श्रावक ! धर्मज्ञोऽपि किमेवं वदसि ? किं वयं ब्राह्मणसमानाः, यत आमन्त्रणं करोषि ? वयं सदैव तत्कालपरिचर्यया भ्रमन्तो भक्तिभाजं श्रावकमवलोक्य तस्य गृहे गच्छामः, तेन महता यत्नेन अभ्यर्थिता तद्गृहे प्राणधारणमात्रामशनक्रियां कुर्मः।"

In Siva Purāna it is enjoined that if one thinks the practice of wearing clothes to be not correct, and if he has renunciation, he should leave even the staff and Kaupin; otherwise he may retain these two while entering upon the Asrama known as Sannyāsa.[7] The method of initiation of a saint is prescribed in the said Purāna, and it has been mentioned that the wearing cloth should be laid aside and the desciple should walk naked for more than seven paces, but if he wishes to retain a loin-cloth conforming to the ideas of ordinary householders he may take up a Kaupin and a staff given to him by his Guru.[8] One who has conquered shame should practise nudity, while one who has not attained this stage but suffers from a sense of shame is permitted to wear a cloth or a skin.[9] This alternative, however, has not been accepted as praiseworthy, for it has been mentioned that he is the best of saints and he is the highest of penitents who discards the staff, loincloth, girdles, etc.[10] In Jābālopanishad, Paramahansa Upanishad, Nāradaparibrājakopanishad, Bhiksukopanishad, Turiātitopanishad, Sannyāsopanishad and Paramahansaparibrājakopanishad we find Param-

---

(7) "गृह्णीयाद्दण्डकौपीनाद्युचितं लोकवर्तने ।
विरक्तश्चेन्न गृह्णीयाल्लोकवृत्तिविचारणे ॥"

(Siva Purana. Kailasa Sanhita. III 51)

(8) "प्रास्याच्चस्य समागम्य भूमौ वस्त्रादिकं त्यजेत् ।
उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा गच्छेत् सप्तपदाधिकम् ॥
किंचिद्दूरमथाचार्यस्तिष्ठ तिष्ठेति संवदेत् ।
लोकस्य व्यवहारार्थं कौपीनं दण्डमेव च ।
भगवन् स्वीकुरुष्वेति दद्यात् स्वेनैव पाणिना ॥"

[*Ibid.* IX. 74-76]

(9) "ततस्तु जटिलो मुंडः शिखैकजट एव वा ।
भूत्वा स्नात्वा पुनर्वीतलज्जश्चेत् स्याद्दिगम्बरः ॥
अन्यः काषायवसनश्चर्मचीराम्बरोऽथवा ।
एकाम्बरो वल्कली वा भवेद्दण्डी च मेखली ॥"

(Siva Purana Vayaviya Sanhita XXIX. 20—21)

(10) "ततो दण्डजटाचीरमेखलाद्यपि चोत्सृजेत् ।
सोऽत्याश्रमी च विज्ञेयो महापाशुपतस्तथा ।
स एव तपसां श्रेष्ठः स एव च महाव्रती ॥"

hansas and Jnana Vairājnya Sannyāsis, who never wear any clothes.[11] In the Tantras also we find naked Avadhuts.[12] In Siva Purāna, Kurma Purāna, Padma Purāna, etc, we find stories of Hindu naked saints moving about freely in the courts of kings, or in hermitages before females and begging alms from female householders.[13]

It is only at a very late stage that nudity became an object of repugnance to a certain section of the Hindus, and we see a rule in the Hindu Smriti that one should practise purification when one sees a naked saint. Nakedness became associated with Jainas only, forgetting that the highest gods and goddesses of the Hindus like Siva and Kāli are naked, and the great sages of old were advocates of nudity when they reached the fourth stage of the Asramas prescribed in the Shastras for the Hindus.

There are rules for Paribrājakas following Hinduism in the Vedic period for observing nudity. In Apastamba Dharmasutra we find :

"Tasya muktamāchchhādanam vihitam."
"Sarvatah parimoksameke."

In Vaikhānasa Dharmaprasna we read :

"Paramahansa nama sāmbara digambara va."

As regards the practice of non-washing the body, we find that Asnāna is one of the Mulagunas of the Jainas.

"Nhānādi bajjanena ya vilitta jalla malaseda sabbangam.
Anhānam ghoragunam samjamadugapalayam munino."

(MULACHARA)

i.e., a Yati should desist from bathing, etc., and his body may

(11) For a detailed description and quotations see my work entitled "The Digambara Saints of India" Pages 40-44.

(12) "दिगंबरोवा वीरेन्द्रश्चाथवा कौपीनी भवेत् ।" (Nirvāna Tantra)

Also "अवधूतश्च द्विविधः गृहस्थश्च चितानुगः ।
सचेलश्चापि दिग्वासा विधिवोनिविहारवान् ॥
सदारी सर्वद्वारस्थो ह्यट्टहासो दिगंबरः ।" (Mundamālā Tantra, Patala II.)

(13) See my "The Digambara Saints of India" Chapter IV.

be covered with dirt, sweat, etc., and he should practise at the same time the restraint of the senses and the mind.

In Gobhila Grihya sutra we find that the Brahmachāries in the Vedic ages were forbidden to bathe :

"Snānam."

From the previous Sutra the word "Barjjaya" follows. This means "Leave bathing." In Apastamba Dharamsutra we find :

"Angāni na praksāliyata."

i.e. "Do not wash the limbs." In the following Sutra it is mentioned that if any one touches an unclean thing he can wash his body.

The point is that a sage should not constantly give his thoughts to his body, as his attention should always be to higher things.

The Jaina sages do not cleanse their teeth.

"Angulinhavalehanikalihim pasanachhalliyadihim.
Dantamalasohanayamsamjamagutto adantāmanam."

(MULACHARA.)

i.e. A Yati should not clean his teeth by fingers, nails, tooth-picks or other articles.

The Vedic Brahmachāri also did not clean his teeth. In Gautama Dharma Sutra we find :

"Barjjayen madhumānsa......snāna-dantadhāvana......"
i.e. "Leave Honey, flesh,......bathing and cleaning teeth."

About the very spare eating of the Jain saints mentioned in Achelaka bagga quoted above, we my mention that in Hinduism and Buddhism we find constant injunctions about restraining food. Aswaghosa in his Buddhacharita has put into the mouth of Buddha :

"Āharah prānajātrāyai na bhogāya na driptaye."

i.e. "The food should only be to keep the life and not for enjoyment or pride."

Apastamba has mentioned that a person following the Bānaprastha Asrama should pick up the grains after the reapers remove the crops. They should not take anything more.

"Silonchhena vartayet. Na chāta Urddhwam pratigrinhiāt."

In Vasistha Dharmasutra we find:

"Prānajātrikamātrah syāt."

i.e. "Be only content with what is essentially necessary to live" Baudhāyana also says:

"Ahāramātram bhunjita kevalam prānajātrikam."

i.e. "Eat only that food which enables one to live."

In the Satapatha Brāhmana we find:

"Yaduha va atmasammitamannam tadavati tanna hinasti. Yad bhuyo hinasti tad yat kaniye na tadavati."

i.e. "That rice which is measured according to one's necessity, never causes any suffering. That which is much, causes suffering. That which is less than necessary, cannot keep on life."

In the Srimadbhagavadgitā also it has been mentioned:

"Yuktāhārabihārasya yuktachestasya karmasu.
Yuktaswapnābabodhasya yogo bhavati duhkhahā."

i.e. "The Yoga of one who practises eating, sleeping, waking, movements and action keeping due moderation becomes capable of removing sufferings"

The same thing has been clearly set forth in Mulāchāra:

"Na balayusauattam na sarirassuvachayatta tejatam.
Nānatta samjamattam jhānatam cheva bhunjejje."

i.e. "Do not eat to gain strength, long life, sweet taste, development of the body or spirit." Eat for the sake of knowledge, restraint and contemplation."

As regards the practice of Jaina Yatis regarding lying on the ground, Mulāchāra lays down:

"Phāsuya bhumipayese appamasamtharidamhipachchanne;
Dandam dhanubba sejjam khidisayanam eyapāsena."

i.e. "A Yati should lie on a place where there are no living creatures which may be killed by the pressure of his body. The place should be secluded and the bed should be of insignificant materials such as grass. He should lie on one of his sides either

straight like a rod or a little curved like a bow, but never on his back or with his face downwards."

It will appear from the rules prescribed for the Vedic Brahmachāris that they also were enjoined to lie on the ground. In Khādira Grihya Sutra we find.

" Adhah sambesi "

i.e. "He should lie on the ground." The commentator Rudraskanda has mentioned that this rule prohibits the use of cots etc. In the commentary of Apararka of Yājnyabalkya Samhitā the following rule from Yama is quoted :

" Khattvāsanancha sayanam barjjayed dantadhābanam.
Swapedekah kusesweva."

i.e. "Discard sitting or lying on cots, refrain from cleansing teeth, and sleep alone on the Kusa grass."

In Vasistha Dharmasāstra we find :

" Khattasana dantapraksalanabarjji."

i.e. "One should refrain from lying on cots and washing the teeth." In Paribrājaka Dharma (10. 8) there is a rule that one should be "Sthandila-sāyi" *i.e.*, a sleeper on the ground."

The rule that the Jaina ascetics should remain in the same place during the rainy season was also followed by the Hindu and Buddhist saints. In Gautama Dharmasutra it is enjoined that a Bhiksu should remain in the same place during the rains. "Dhruvasile Barsāsu" (3. 12).

The Buddhists also followed this practice. In Mahābagga we find that when Buddha was in Rajagriha he was informed that the Sākyaputra Sramanas wandered during the rainy season causing damage to young grass and destroying small creatures. Buddha then ordered that his desciples also should remain in the same place during the rainy season.

The Vedic Bhiksus did not reside in houses. (Apastamba 2. 9. 21. 10). The Sākyaputra Sramanas following the Buddhistic religion at first resided in forests, under the trees, in open fields or in caves. In Chullabagga we find that according to the

request of a Sresthi in Rajagriha, Buddha permitted the Bhiksus to reside in Vihāras or Asramas. We find Jain saints also residing in open air.

Apart from these external practices, we see a similarity in the principles which are essential in Hinduism, Jainism, and Buddhism.

A Jain Yati has to practise twenty-eight Mulagunas, which are five Mahābratas, five Samitis, five kinds of control of senses, six Avasyakas, uprooting of hair, non-bathing, nudity, not cleansing the teeth, lying on the ground, taking food in the standing posture and only in the hollow of the hands, and eating only once during the day. We have already shown that in the Hindu and Bauddha systems there are outward practices similar to those in Jainism regarding nudity, non-bathing, not cleansing the teeth, and lying on the ground. Regarding uprooting the hair the Jain ascetics uproot the hair of the head, beard, and moustache every two months, or every three months, or every four months. Fasting and Pratikramana should be practised on that day. In Mulāchāra this is thus enjoined:

"Viya tiya chaukka māse loche ukkassa majjhina jainno.
Sapadikkamane divase uvavaseneva kayavve."

In Gautama Dharmasutra we find:

"Mundah sikhi vā."

i.e. A Bhiksu should shave his head, or keep only a tuft of hair.

Haradatta in his commentary on this Sutra writes:

"Sarvāneva kesān saha sikhaya vāpāyed. Sikhabarjjam vāpayed vā.......Ata Sruti smriti:

"Agneriva sikhā nānyā yasya jnānamayi sikhā.
Sa sikhitityuchyate vidwānnetare kesadhārinah."

i.e. Shave off all hair including the tuft or excluding it...... So it has been mentioned in the Srutis and Smrities:

He is the really tufted person who has the tuft of knowledge like a flame of fire. Others are merely holders of hair.

The Buddhist monks also shaved their heads.

The five Mahābratas of the Jains are: 1. Ahimsā, not to cause any injury to any living being by thought, speech or conduct; 2. Satya, truth in thought, speech or action. 3. Asteya, to take nothing unless and except it be given. 4. Brahmacharya, chastity and 5. Parigrahatyāga, renunciation of worldly concerns.

In Tattwārthādhigamsutra these are thus enumerated:

"Himsānritāsteyabrahmaparigrahevyo biratirvratam."

In Baudhāyana Dharmasutra all these five have been mentioned as Vratas. *Viz.*

"Athemāni Vratāni bhavanti Ahimsā Satyam Astainyam Maithunasya cha barjjanam Tyāga ityeva." 2, 10, 41.

In Pātanjala Yogasutra the Angas of Yoga are described in Chapter II. Among these Yogāngas are the five Yamas. These are nothing but the same Mahāvratas of the Jainas. The two Yogasutras are:

"Yamaniyamasanaprānāyāmapratyāhāradhāranādhyāsanamādhayostwavangāni."

"Ete jatidesakalasamayanavachchhinnah sarvvabhaumah Mahavratam."

Yogasutra. II—30. 31.

In the rules for the Vedic Brahmacharis, also, these are mentioned in different places. In Apastamba 1, 1, 2, 26 we find "He shall preserve chastity." In Gautama III, 12 we find." "He must be chaste." In Gautama III, 11 we find: "An ascetic shall not possess any store." The Buddhists have Panchasila or Panchasiksāpada which are the same as the five vratas of the Jainas. These are: 1. One should refrain from Prānātipāta. 2. One should refrain from Adattādān. 3. One should refrain from Abrahmacharya. 4. One should refrain from Mrisābāda 5. One should refrain from drinking wine.

Next come the five Samitis of the Jainas. These are:

1. Iryā, or A Yati should walk carefully during the day-time, avoiding trampling of insects etc., and only with some specified object.

"Phāsuyamāggena divā jugāntarappehinā sakājjena.
Jantunā pariharanteniriyāsamidi have gamanam."

MULACHARA.

2. Bhāsā. A Yati should refrain from finding fault with, or ridiculing others. He should not praise his own acts, and should not engage in harsh talk or undesirable gossip.

"Pesunnahāsa kakkasa paranindā ppappa samsa bikahadi.
Vajjittā saparahiyam bhāsāsamidi have kahanam."

MULACHĀRA.

3. Esanā. A Yati should eat pure food free from forty-six kinds of faults. He should eat only to appease hunger, being indifferent whether the food be hot or cold.

"Chhadaladosasuddham karanajuttam visuddhanavakodi.
Sidadisamabhutte parisuddha esanāsamidi."

MULACHARA.

4. Adānaniksepa. This consists of careful handling of materials such as books, brush of peacock-feathers, water-pot etc.

"Nanubahi samjamuvahim sauchuvahim annamappa muvahm vā.
Payadam gahanikseve samidi adānaniksepa."

MULACHARA.

5. Pratisthāpanika. This is easing oneself in a place solitary and hidden from the eyes of men, and which is not prohibited from being used for such a purpose, which is at a distance from villages and residences of people, and where there are no holes (where insects etc. may live.)

"Egante achchitte dure gudhe visalamabirohe.
Uchcharadichohao padithavaniya have samidi."

MULACHARA.

In the rules for Vedic ascetics we also find the same enjoined. In Gautama III. 17 and 18 we find "Abandoning all desire for sweet food." "He shall restrain his speech, his eyes and his actions." "In Baudhāyana 2, 3, 20 we find "Let him not make empty, ill-sounding, or harsh speeches."

In Āpastamba Dharma-sutra it is enjoined "Let him not be addicted to gossipping." "Let him be discreet." 1, 1, 3, 13, 14.

"Let him avoid to praise himself before his teacher, saying "I have properly bathed or the like" (*Ibid.* 1, 11, 32, 10.) "He shall......observe silence, uttering speech on the occasion of the daily recitation of the Veda only." (*Ibid.* 2, 9, 21, 21.) Gautama prescribes that it is prohibited "to make bitter speeches." II. 19. "A Brahmin shall always abstain from spirituous liquor" II, 20. "He shall keep his tongue, his arms, and his stomach in subjection" II, 22. "He shall avoid to contend with words." "He shall keep his organ, his stomach, his hand, his feet, his tongue, and his eyes under due restraint" IX. 50.

Vasistha lays down: "To avoid backbiting, jealousy, pride, self-consciousness, un-belief, dishonesty, self-praise, blaming others, deceit, covetousness, delusion, anger, and envy is considered to be the duty of men of all orders" X, 30. "Let him not make empty, ill-sounding, or harsh speeches." II, 3, 6, 20.

Very detailed rules are given in the Dharmasutras for attending calls of nature. Some of these are given below:

"He shall eat facing the east, void fæces facing the south, discharge urine facing the north."

"He shall void excrements far from his house, having gone towards the south or southwest." Apastamba. 1, 11, 31, 1, 2.

"Let him not ease nature without first covering the ground with grass or the like.

Nor close to his dwelling.

Nor on ashes, on cowdung, in a ploughed field, in the shade of a tree, on a road in beautiful spots.

Let him eject both urine and fæces facing the north in the daytime." Gautama, IX. 38-41.

"A man who knows the sacred law shall perform in secret all acts connected with eating, the natural evacuations,......And a man shall void both urine and fæces facing the north in the daytime." Vasistha VI. 9-10.

The rule about control of the sense-organs as laid down for the Jaina ascetics is this:

"Chaksu sodam ghāṇam jibbhā phāsam cha indiyā pancha.
Sagasagavisayachinto nirohiyabbā sayā muninā."

i.e A sage should not see dancing, hear sounds of musical instruments, enjoy scents of sandal, etc., eat food palatable like the same used by householders, or touch articles giving a sense of pleasure.

In the Vedic rules for Brahmachāris, the same control of the senses has been ordained.

"Nor pungent condiments salt, honey, or meat."
"He shall not use perfumes."

"He shall not embellish himself (by using ointments and the like)" Apastamba 1, 1, 2, 23, 25, 27.

"Let him restrain his organs from seeking illicit objects." *Ibid* 1, 1, 3, 18.

In Gautama we find: "He shall avoid honey, meat, perfumes, garlands, sleep in the daytime, ointments, collyrium, a carriage, shoes, a parasol, love, anger, covetousness, perplexity, garrulity, playing musical instruments, bathing, cleaning the teeth, elation, dancing, singing, calumny, and terror. II. 13. He shall avoid to show himself covered with perfumed ointments or wearing garlands" IX 32.

"There is no salvation for him, who is addicted to the pursuit of the science of words, nor for him who rejoices in captivating men, nor for him who is fond of good eating and fine clothing, nor for him who loves a pleasant dwelling." Vasistha. X. 20.

"Let him avoid dancing, singing, playing musical instruments, the use of perfumes, garlands, shoes, or a parasol, applying collyrium (to his eyes) and anointing the body."

(Baudhāyana. 1, 2, 3, 24)

In Buddhism, also, Astasilas or eight Silas are prescribed and the seventh and eighth Silas prescribe that the Bhiksus should refrain from dancing, music, playing upon musical instruments and they should not use garlands, ointment, and ornaments.

Seeing these similarities in the rules for ascetics, western scholars like Prof. Max Muller in Hibbert Lectures, Prof. Buhler in his translation of the Baudhāyana Sutra, Prof. Kern in his History of Buddhism in India, and Prof. Jacobi in his Introduction to the translation of the Jaina Sutras (Sacred Books of the East Vol. XII Part I) have come to the conclusion that the originals of the monastic orders of the Jainas and Buddhists are to be found in the Hindu ascetic. "The Brahmanic ascetic was the model from which they borrowed many important practices and institutions of ascetic life." (Jacobi.)

It may, however, be remembered that the rules for renunciation of the wordly objects and practising penances are similar everywhere in the world. The penances of ascetics in India find their counterpart in the suffering of Christian saints. With the advance in successive stages of asceticism hermits of every sect and every country take up almost similar practices with a slight difference according to the climatic conditions. In a warm country like India it is essential that the hermits should make themselves used to the biting of mosquitoes and flies and we find instructions regarding the same in Hindu and Jaina canons. Baudhāyana prescribes :

"Na druhyed dansamasakān himavān tapaso bhabet."

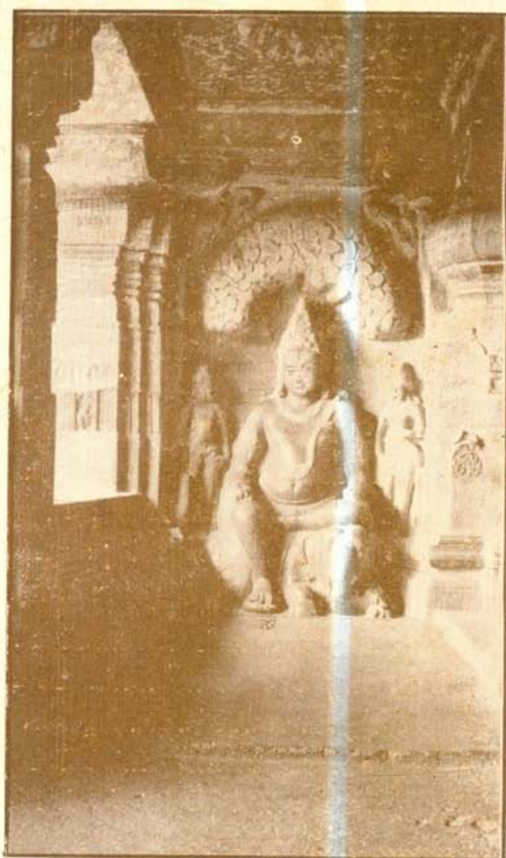
i.e. A hermit should not be averse to bites from flies and mosquitoes. In Jainism it is one of the Parisahas to endure the biting of flies and mosquitoes. Even Christian saints like Macarius of Alexandria, St. Marc of Athens, and Saint Mary of Egypt moved about without any clothing to protect their bodies against the inclemencies of weather.

As a result of these outward practices the internal change is the same in hermits of all classes. There is the thought of Maitri, Pramoda, Kārunya, Mādhyastha ("Maitri-pramoda-kāruny-mādhyasthyāni cha sattwagunadhikaklisyamanabinayesu" Tattwarthasutra VII 11) in their minds. (Maitri-karuna-muditapeksanam sukhaduhkha punyapunyavisayanam bhabantah chittaprasadanam" (Yoga sutra of Patanjali I, 33) The Asravas are checked by Sambara according to Jainism, which Sambara is described thus in Buddhism :

"Kāyena samvare sādhu sādhu vāchaya samvare.
Manasā samvare sādhu savvattheo samvare."

(Dhammapada. Bhiksubaggo 2.

We should therefore remember that though the goal is the same, the paths and means of locomotion are different according to the inclination of different persons. As Ramakrishna Paramahansa has said, "Though men appear alike on the outside, they are entirely different in their internal likings and capacities. So, what is good for one is injurious to another." Religious teachers in India always recognized this, and prescribed rules to suit individual tendencies. This is opposed to the congregational activities of the West and the idea of the Church. In India it is the Guru who judges what is suitable for the religious aspirant, and individual struggle is necessary for one's spiritual uplift. The rules to help one advancing in the religious path are in substance the same, though in practice these may have become different. It is useless to quarrel for these differences, for every rule and custom was introduced for a particular purpose, and men are free to choose what is suitable for them according to their belief. In the words of Ramakrishna "He alone is really great who can realize the truth in the different doctrines."



इन्द्र (एलोरा)

(दक्षिण भारतीय कला)

JAIN ART IN SOUTH INDIA

(By Prof. Shripad Rama Sharma, M.A.)

[*Continued from page 62.*]

Yet Ellora forms one of a group; there are others, more ancient, further South. "When Buddhism was tottering to a fall," observes Burgess, "the Jainas timidly at first in Dharwar and the Dekkhan, and boldly afterwards at Elura, asserted themselves as co-heirs to the Buddhists, with the Brāhmaṇs."[1] The caves at Ellora, being thus of later date, are supposed to represent a decadent age in Jaina sculpture. The rock-cut style was only a passing episode in their architectural history and was dropped by the Jainas when it was no longer wanted. It has had no permanent effect upon their own peculiar style. 'Notwithstanding this, however, the architects who excavated the two Sabhās at Elūra," says Burgess, "deserve a prominent place among those, who, regardless of all utilitarian considerations, sought to convert the living rock into quasi-eternal temples in honour of their gods."[2] There are similar excavations in the Deccan at Bādāmi, Aihole, Dharasinva, Ankai, Patany, Nasik and Junagad, as well as in the far South of Kulumulu or Kalugumalai in the Tinnavelly District. The caves at Dharasinva (37 miles n. of Solapur) are, perhaps the largest of these. The halls here are of considerable size, being 80 ft. deep and 79-85 ft across, with eight cells in each of the side walls and six in the back, besides the shrine. In one is an image of Parśvanātha with a seven-hooded serpent above him, seated on a throne, in *jnāna-mudrā*. Hanging from the east is a carved representation of rich drapery. In front of it was a wheel set edge-wise, with antelopes at each side. Then there are *śardulas* and other non-descript monsters as well.[3] That at Aihole is two-storeyed with a number of halls attached as at Ellora. From their appearance, as well as the presence of the peculiarly Southern Gummata (as at Bādāmi) Fergusson concludes that the excavators must have

1. Burgess, op. cit., p. 510.
2. *Ibid.*, pp. 511-12; cf. his Report on the Cave Temples in Western India, p. 44, f.
3. *Ibid.*, pp. 503-04; Fergusson, op. cit., pp. 18-19.

brought the Dravidian style with them into the Deccan. He says, the Ellora group (*i.e.* the Deccan) exhibits an extraordinary affinity with the southern style. They must have all been excavated by the Chālukyas and the Rāshtrakutas (7th to the 8th cent. A. D.) whose kingdoms extended from the Tungabhadra and Krishna in the South to Ellora and Mālkhed in the North[1]. The Bādāmi cave contains names of Digambara Sadhus, and the figures are marked by the sacred thread seen also in the statue of Indra at Ellora; on either side of the statue of Mahāvira are chauri-bearers, śarduias, makaras etc.[2]. The caves of Nasik have cells and halls for the monks, and those at Yeola in the same district have small but richly-carved door-ways[3]. Among the smaller caves of interest might be mentioned those of Ankai, in the Khandesh district. They are seven in all, and belong to about the 11th or 12th cent. A. D. They are rich in sculpture; a notable sample of which are the female dancing figures on petals bearing musical instruments[4]. That of Kalugumalai, in the Tinnevelly district, is a rock-cut temple which deserves mention also not for its size but for its elegance of details. The temple now used by the Saivas is described as "a gem of its class". It too belongs to about the same period as the caves of Ankai[5]. These excavations are not copies of structural buildings, but are "rock-cut examples, which had grown up into a style of their own distinct from that of structural edifices"[6].

Jaina art is to an overwhelming degree religious, and hence we find in it a certain lack of the purely aesthetic element conducive to its own growth. Even religion is emotional, and in the conventional Jaina art the ethical object predominates. The dominance of this ideal is indicated by sculptures representing scenes from the lives of their saints, rather than heroes in any

1. Burgess, pp. 20-22.
2. *Ibid.*, A. S. of W. I., Belgaum and Kaladgi Dists. 1874, pp. 25-26; Cave Temples, p. 491.
3. Burgess and Cousens, Revised Lists of Antiquarian Remains in the Bombay Presidency, VIII, pp. 46-49, 52.
4. Fergusson, op. cit., pp. 18-19; Burgess, Cave Temples, pp. 505-37.
5. " " " 22; Burgess, op. cit., p. 159.
6. " " " 7.

other walk of life. For instance, in the Chandragupta Basti at Śravaṇa Belgola, the façade is made of a perforated stone screen containing as many as ninety sculptured scenes of events in the lives of Bhadrabāhu and Chandragupta.[1] It also finds illustration in the pictorial art of painting. On the walls of the Jaina Matha at Belgola are several examples of how the chief tenets of their religion were sought to be inculcated by means of this art. In one of the panels (North) Parśvanātha is represented in his *samavasaraṇa* or heavenly pavilion where the Kevalin or Jina preaches eternal wisdom to the *śrāvaka*. A tree with six persons on it illustrates the six *leśyas* of Jaina philosophy by which the soul gets merit and demerit. Neminātha is also similarly represented in the act of expounding religious doctrine. The only secular scene that finds a place there is that of Krishnarāja Odeya III during his *Dasarā-ḍarbār* (on the right panel of the middle cell)[2]. But even such paintings are very rare in South India. There is nothing in what has survived of Jaina art in South India comparable with the immaculate Buddhist frescoes of Ajanta. A few traces of old paintings are still to be seen on the ceilings of the Ellora caves. There are also some at Cānchipuram and Tirumalai in the South [3]. Dubreuil has drawn attention to others at Sittanavasal in Pudukottai State, near Tanjore, assigned to about the 7th cent. A.D.[4]. These paintings are in a Jaina rock-cut temple, akin in their style to Ajanta, but less forceful and impressive.[5] More interesting, perhaps, are those of Tirumalai (N. Arcot). Smith says, the Jaina holy place at Tirumalai is "remarkable as possessing the remains of a set of wall and ceiling paintings ascribed, on the evidence of inscriptions, to the 11th cent. A.D. (E.I. ix,229)".[6] Traces exist of still older paintings covered up by the existing works. But with the exception of one they are

1. Rice, Mysore and Coorg from the Inscriptions, p. 5; cf. Smith, op. cit.; pp. 270.
2. Cf. Ep. Car. II Introd., pp. 80-81.
3. Coomaraswamy, op. cit., pp. 118-18; Ibid. III. Pl. LXXX. 256.
4. Dubreuil, Pallava Painting, p. 3; Coomaraswamy, op. cit., p. 89.
5. Cf. Ajit Ghose, A Comparative Survey of Indian Painting, I.H.Q., II 2, p. 303.
6. Smith, op, cit., p. 344.

said to be purely conventional and of little artistic importance. That exception is a representation of twelve Jaina nuns who are white-robed. But they are not to be supposed that they are Śvetāmbara; for we have seen that such an order of Digambara sisterhood still exists in the Arcot district, of whose antiquity, therefore, this is a valuable confirmation.[1]

Apart from this mural painting, there was another kind of Jaina art which was particularly prevalent in Guzerat, *viz*, the art of illustrating with beautiful pictures manuscripts of not less artistic interest than they were of religious importance. Dr. Coomaraswamy has observed that Mediaeval Indian art has nothing finer to show than these Jaina paintings; only the early Rajput pictures of *rāgās* and *rāginis* are of equal aesthetic rank. [2] A short allusion to these therefore would not be a digression, especially as the 'subjects' dealt with are persons of vital interent to our history.

"The tradition of Jaina painting", says Coomaraswamy, "is recovered in manuscripts of the thirteenth and subsequent centuries. The text most frequently illustrated is the *Kalpa sūtra* of Bhadrabāhu, containing the lives of the Jainas, most of the space being devoted to Mahāvira. There are also illustrated cosmologies and cosmological diagrams, and appended to the *Kalpa Sūtra* there is usually to be found the edifying tale of Kālikācharya.........The pictures take the form of square panels of the full height of the page, occupying spaces left for the purpose; only in very rare cases is the whole page used. The proper subject to be represented is often indicated by a marginal legend, sometimes by a diagramatic marginal sketch, former doubtless due to the scribe, but the latter to the artist taking note of his instructions. The same subjects are repeated in the various manuscripts almost without variation. It is quite evident that both in composition and style the pictures belong to an ancient and faithfully preserved tradition" [3].

There is a similarly illustrated manuscript of *Bhaktāmara Stotra*, in the Ailak Panālal Digambara Jaina Saraswati Bhavana

1. Cf. Thurston, Castes and Tribes of Southern India, II, pp. 432-33.
2. Coomarswamy, Introduction to Indian Art, p. 117.
3. Ibid., pp. 214-15.

(Bombay), which, however, being on paper unlike the palm-leaf described by Coomaraswamy, has full-page coloured paintings of unique artistic value. It is a pity that it is so damaged and worn out that at the slightest touch the paper crumbles to dust. Not the least interesting figure in it (out of nearly forty) is that of a four-headed Digambara Brahma, standing on a lotus-stool with the Bull of Ādinātha below. There is a triple umbrella over his heads, the whole profile being surrounded with a halo of light. On the right is a naked *Sādhu* standing on a wooden seat; and on the left a crowned royal figure. On the inner surface of the back overleaf are carelessly scribbled the words: 'संवत् १८४१ वर्षे फाल्गुणावदि १३ दिने खरतरगछ वास्तव्य श्रीदयासागरजी अमीचंदजी लिखेखि।' (Sam. 1751, Phalgun 13). But the contrast of this with the artistic script of the text as well as the present condition of the manuscript makes it appear to be much older. Other manuscripts on palm-leaves like *Pampā Bhārata* in Kanarese script, are not wanting in this treasure-house of Jaina manuscripts. One more example of book-illustration, the only one I have seen of South India, is that from an old illumined manuscript of Nemichandra's *Trilokasāra* where the great teacher is represented as expounding the doctrines of his religion, and among the auditorium is said to be Chāmundarāya, *his famous disciple, who caused the Belgoḷa colossus to be erected.*[1]

From this we must now turn to yet another form of Jaina art, namely, that of inscribing on rock or copper-plate, some of which are of not less artistic interest than they are of historical value. The Kudlur plates of Mārasimha Ganga, for example, are both literature, art, and history rolled in one. Particularly noteworthy in it is the seal which is beautifully executed. It is divided transversely into two unequal compartments, the upper enclosing about three fourths of the space, and the lower about one-fourth. The upper division has in the middle a fine elephant in relief, standing to the proper right, surmounted by a parasol with the sun and the crescent at the upper corners. Behind the elephant is a lamp-stand with what

1. For a facsimile of this illustration see, *Dravyasamgraha*. S.B.J. I Introd. p. XXXIX (facing).

looks like a *chouri* above it, and in front is a vase surmounted by a dagger, and another lamp-stand. The lower compartment bears in one horizantal line the legend : "Śri Mārasingha-Devam in Halé-kannada characters [1]. The official designation of the engravers is often *Viśwakarma*; and not infrequently we have reference to "the ornament to the forehead of titled sculptors" [2]. The banners of Jaina kings are also not without interest. Those of Ganga Permādi and Hastimalla, indicate the stamp and symbol of Jainism, *viz.* the *Pincha-dwaja* (Flag of pea-cock feathers) described as "the banner of the divine Arhat" [3].

Finally, we cannot conclude this survey better than by pointing to the taste of the Jainas in always selecting the best views for their temples and caves. At Ellora they came perhaps too late, when the best sites had been already appropriated by the Buddhists and the Hindus; but speaking of the Jaina ruins at Hampi, Longhurst observes, "unlike the Hindus, the Jainas almost invariably selected a picturesque site for their temples, valuing rightly the effect of environment on architecture" [4]. The hill originally occupied by them, South of the great Pampāti temple, is significantly called the *Hêma Kūtam* or the Golden Group [5] There is also not a more picturesque spot in the vicinity than that chosen and occupied by the Jainas at Śravaṇa Belgoḷa, their first colony in the South. Mudbidri, in South Kanara, their last stronghold is thus described by Walhouse in his matchless style:—"No Cistercian brotherhood was wiser in choosing a dwelling-place than the Jainas. Their villages are ever marked by natural beauty and convenience. This one, named Mudbidri, is in a slight hollow on the verge of a wide rolling plain covered after the rains with vast expanses of tall grass between flat lined elevations which are often studded with beds of a light blue

1. Mysore Archeological Report, 1921, p. 18.
2. Rice, Coorg Inscriptions, Ep. car. I, p. 7: Ep. Car. II Introd., p. 52.
3. Hultzsch, Ep. Ind. Ind. III, p. 165; Ind Ant. XVIII, p. 313.
4. Longhurst, Hampi Ruins, p. 99.
5. Ibid., pp. 25-6.

gentian. The village is embowered in fruit and flower-trees and intersected by a labyrinth of hollow ways or lanes worn by the rains and tread of generations. Rough steps ascending to a covered entrance like a lych-gate lead up to the houses that stand back among the trees. The banks and walls built of laterite blocks black with age are shrouded with creeping plants, azure convolvuli, and a profusion of delicate ferns sprouting from every crevice, and words are wanting to describe the exquisite varieties of grass that wave everywhere on walls and roofs. Bird-of-paradise plumes, filmiest gossamer, wisps of delicate-spun glass, hardly equal in fairy fineness the pale green plumy tufts that spring in unregarded loveliness—after the monsoon. Shade and seclusion brood over the peaceful neighbourhood, and in the midst stand the greatest of Jaina temples built nearly five centuries ago " [1].

1. Walhouse, cited by Sturrock, op. cit.; pp. 87-8.

Opinion.

Praktana vimarsa vichakshana, Karnataka Prachya vidya vaibhava,
Rai Bahadur R. NARASIMHACHARYA, M.A., M.R.A.S.
Malleswaram, Bangalore.

Please accept my warm thanks for your kind courtesy in sending me two issues of "Sri Jaina Sidhanta Bhaskara" which I have read with great interest. The articles appearing in the journal are all of very great value and bear testimony to the scholarship and erudition of the contributors. प्रशस्ति-संग्रह, प्रतिमा-लेख-संग्रह, वेधसार, दूतकाव्य-साहित्य, among the Hindi articles and "Ancient South Indian Jainism; 'Nayakumarcharlu' and Mathematics of Nemichandra among the English articles are very useful. The illustrations, which are charming, enhance the value of the journal. The publication of unpublished jaina works is welcome. I wish every success to the Journal and earnestly hope that it will have a long career of usefulness.

SELECTED CONTRIBUTIONS TO ORIENTAL JOURNALS.

1. *Annals of the Bhandarkara Oriental Research Institute.*—Vol. XVI, pts. I—II :—

Some Fresh Light on the Dhārāśiva Cave And The origin of the Śilāhāra Dynesty :—By Prof. Hiralal Jain, M.A., L. L. B.—It throws new light on the antiquity of Jainism and antiquity of the Jaina Purāṇas.

2. *Quarterly Journal of the Mythic Society. Vol. XXV*, No. 4, April 1935 :—

pp. 236—246. Two centuries of Wadeyar Rule in Mysore :— By N. Subba Rau, M.A.

pp. 261—264. Karuvūr or Vanjimānagaram, By S. V. Viswanatha, M.A.—It is established that "the original Vañji was Kahūr and Tiruvañjikkaḷam was only a copy of it.

p. 323. Puṣpadanta-purāṇam of Guṇavarma, edited by A Venkalā Rao and H. Sesha Yengar reviewed. Can be had from the Madras University for Rs. 4 only.

3. *Bulletin of the Sri Rama Varma Research Institute.*

No. 3 :—Mr. Krishna Menon writing on the Dravidian Culture, considers that the Dravidians were in India long prior to

the Aryans with an independent civilisation of their own and that the Ramayana and the Mahabharata indicated the existences of prosperous independent kingdom in South India.

4. *Indian Culture*, Vol. II, No. I:—
   Pre-historic trade-routes and Commerce by P. Mitra.

5. *Journal of the University of Bombay.*—Vol. III, pt. VI. (May 1935).
   A.M. Ghatage points the linguistic nature of Śaurasenī Prākrit and its grammatical peculiarities.

RULES.

1. The "Jaina Antiquary" (जैन-सिद्धान्त भास्कर is an Anglo-Hindi quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e.*, in June, September, December, and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including postage) and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4 0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jain Sidhanta Bhavan, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, reviews, etc., type-written, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

(*N.B.*—Journals in exchange should also be sent to this address.)

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting, or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders, if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jinology :—

PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A.
B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI.

आरा जैन-सिद्धान्त-भवन की प्रकाशित पुस्तकें

———— :※: ————

(१) मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित ... २)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक शास्त्र भाषा-टीका-सहित ... १)

(३) जैन-सिद्धान्त-भास्कर १म भाग की १म किरण ... ... १)

" २य तथा ३य सम्मिलित किरणें ... १।)

(४) भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची ॥)

(यह अर्द्ध मूल्य है)

(५) भवन की संगृहीत अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची ... ॥।)

प्राप्ति-स्थान—

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)।



प्रकाशक तथा मुद्रक—बाबू देवेन्द्रकिशोर जैन,

श्रीसरस्वती प्रिंटिङ्ग वर्क्स, आरा।